भारत में प्रतीक पूजा का आरंभ और विकास

साँवलिया बिहारी लाल वर्मा



बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
पटना-३

भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से

प्रकाशित

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के

विज्ञान संबंधी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. भवन-निर्माण-प्रक्रिया : एक विवेचन
देशपाण्डे ओर बर्तक ४८·००

२. फसल-विज्ञान
डॉ० चन्द्रिका प्रसाद ठाकुर २०·००

३. उच्च गतिविज्ञान
मैककस्की १८·००

४. संख्यात्मक विश्लेषण के सिद्धांत हाउसहोल्डर १६·००

५. भू-विज्ञान-परिचय
क्रौनिज तथा क्रम्बेन
छात्र सं० २६·००
पुस्त० सं० ३२·००

६. सरल भू-वैज्ञानिक संरचनाएँ
प्लैट और शालिनर ६·५०

७. कृत्रिम उपग्रह और विश्व
प्रो० ललित किशोर सिंह ४·००

८. भौतिकी के चोखे प्रश्न
प्रो० महेन्द्र नारायण वर्मा १०·००

९. एक्सकिरण स्पेक्ट्रॉस्कोपी
प्रो० महेन्द्र नारायण वर्मा ९·२०

१०. ज्योतिर्विद्या प्रवेश
डॉ० सुधीरचंद्र मजूमदार ४·५५

११. प्रारंभिक न्यूक्लीय भौतिकी
डेविड हैलिडे २७·००

१२. आधुनिक भौतिकी, प्रथम भाग
सं० श्री सुदर्शन प्रसाद सिंह और प्रो० एम० एन० वर्मा २९·००

१३. आवृत्त बीजी भ्रूणविज्ञान परिचय : प्रो०पी०महेश्वरी ३३·००

१४. जैव विकास लल ३३·५०

१५. बीजी पादपोंका शारीर
इसाउ २२·००

भारत-सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के

इतिहास संबंधी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. अमेरिका का इतिहास
डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना २०·००

२. विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास
डॉ० सुशील माधव पाठक २४·००

३. अन्तरराष्ट्रीय संगठन का इतिहास
डॉ० दीनानाथ वर्मा २३·००

४. प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर
डॉ० वासुदेव उपाध्याय २३·००

५. बुद्धकालीन समाज और धर्म
डॉ० मदनमोहन सिंह १२·००

६. राजवंश : मौखरी और पुष्यभूति
प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी १४·००

७. बिहार में स्वातंत्र्य आंदोलन का इतिहास, खंड १
डॉ० कालिकिंकर दत्त २८·००

८. रूसी इतिहास का सर्वेक्षण
बी० एच० सम्नर २५·००

९. इंग्लैंड का सांवैधानिक इतिहास
मेटलड २५·००

१०. बिहार में राष्ट्रीयता का विकास
श्री नागेन्द्र मोहन प्रसाद श्रीवास्तव ८·५०

११. बाबर डॉ० राधेश्याम १४·००

१२. गुप्त अभिलेख डॉ० वासुदेव उपाध्याय ५१·००

विस्तृत सूची की माँग करें।

निदेशक

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

सम्मेलन भवन, कदमकुआँ

पटना-३

भारत में प्रतीक-पूजा का आरंभ और विकास

लेखक

श्री साँवलियाबिहारी लाल वर्मा



बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत-सरकार के शिक्षा तथा समाज-कल्याण-मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रकाशित ग्रंथ-संख्या : ९८

प्रथम संस्करण : फरवरी, १९७४

२,०००



मूल्य : रु० ११-०० (ग्यारह रुपये) मात्र



प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
कदमकुआँ, पटना—८००००३

मुद्रक :
पाण्डेय प्रेस,
पटना—८००००४

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ कराने के उद्देश्य से भारत-सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है और मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत-सरकार, विभिन्न राज्य-सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदीभाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत-सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य-सरकार द्वारा स्वायत्त-शासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत-सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ भारत में प्रतीक-पूजा का आरंभ और विकास श्री सांवलिया विहारी लाल वर्मा की मौलिक रचना है, जो भारत-सरकार के शिक्षा तथा समाज-कल्याण-मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित की जा रही है। यह ग्रंथ पाठकों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा, ऐसा विश्वास है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जाएगा।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

पटना, अध्यक्ष

दिनांक २८-२-७४ बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रंथ भारत में प्रतीक-पूजा का आरंभ और विकास श्री सांवलिया विहारी लाल वर्मा की मौलिक कृति है। सांवलिया बाबू वरिष्ठ विद्वान् और अनुभवी लेखक हैं। यह ग्रंथ इन्होंने बड़े परिश्रम से तैयार किया है। आशा है, इस ग्रंथ से पाठकों को यथोचित लाभ मिलेगा।

इसका मुद्रण-कार्य पाण्डेय प्रेस, पटना ने किया है। प्रूफ-संशोधन का कार्य श्री रामकिशोर ठाकुर ने किया है। इसके आवरण-चित्र का निर्माण तथा उसकी छपाई नेशनल ब्लौक एण्ड प्रिंटिंग वर्क्स, पटना ने की है। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

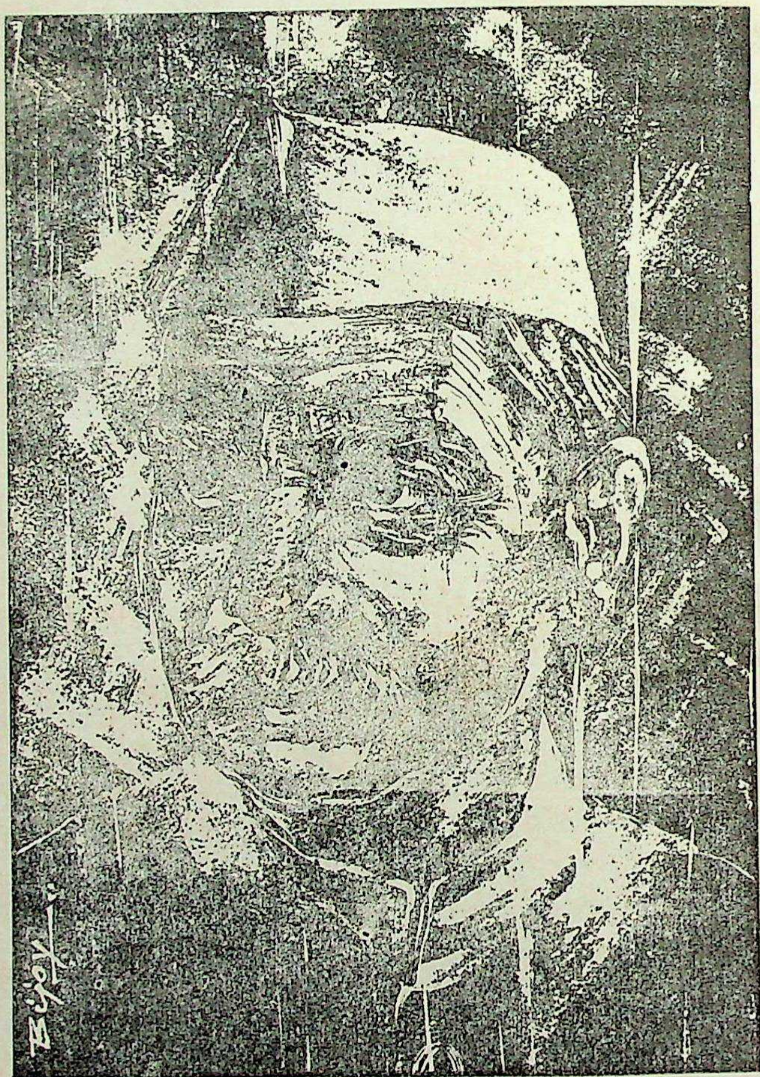
शिवनन्दन प्रसाद

पटना,

दिनांक २८-२-७४

निदेशक

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी



देशरत्न स्वर्गीय डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

समर्पण

भारतीय शील एवं संस्कृति

के प्रतीक

भारत के प्रथम राष्ट्रपति

देशरत्न स्वर्गीय

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

को

उनकी पुण्य स्मृति में

सादर समर्पित !

—लेखक

मेरे दो शब्द

लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व 'विश्वधर्म-दर्शन' नामक ग्रंथ के प्रणयन के संदर्भ में मुझे चारों वेद, १७९ उपनिषद्, महाभारत, रामायण, पुराणादि धार्मिक ग्रंथ तथा अवेस्ता, बाइबल, कुरान, गुरुग्रंथ साहब आदि के अध्ययन-मनन का अवसर प्राप्त हुआ था। उन्हीं दिनों भारत में 'प्रतीक (मूर्ति)-पूजा का आरंभ और विकास' पर ग्रंथ लिखने की प्रेरणा जगी थी, किन्तु सन् १९६४ ई० तक कुछ ऐसी व्यस्तता रही कि उस प्रेरणा को मैं मूर्त रूप नहीं दे सका। व्यस्तता कोई जागतिक नहीं थी। 'अंतर्राष्ट्रीय विधि' नामक ग्रंथ प्रकाशनार्थ प्रेस में भेजना था, संस्कृति-संस्थान, बरेली से प्रकाशित होनेवाले 'गीता का समन्वयवादी भाष्य' को अंतिम रूप देना था तथा बदरीनाथ, रामेश्वरम्, द्वारिकापुरी आदि की यात्रा में अनुभूत भारत की धार्मिक गरिमा को 'भारत के तीर्थ और मंदिर' नामक पुस्तक में लिपिबद्ध करना था। और, जब 'अंतर्राष्ट्रीय विधि' प्रेस में प्रकाशनार्थ चली गई तथा 'भारत के तीर्थ और मंदिर' तथा 'गीता का समन्वयवादी भाष्य' की पांडुलिपियाँ प्रेस के लिए तैयार हो गईं, तब वह गुप्त प्रेरणा पुनः अपनी पूरी शक्ति के साथ जगी और लगभग पाँच वर्षों के निरंतर अन्वेषण, अध्ययन तथा संयोजन के पश्चात् यह ग्रंथ पूरा हो सका।

अनेक भावुक हिंदुओं का विश्वास है कि मूर्ति-पूजा वेदकाल के आर्यों में प्रचलित थी। इस धारणा की पुष्टि के लिए कतिपय विद्वान् वेदादि प्राचीन ग्रंथों के मंत्रों तथा श्लोकों का मनमाने ढंग से अनुवाद कर मूर्ति-पूजा को वैदिक काल के आर्यों में प्रचलित प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। उनके ऐसे तर्क में आस्था और भावना ही प्रबल है, ऐतिहासिक यथार्थ नहीं है। प्रस्तुत ग्रंथ में उसी ऐतिहासिक तथ्य एवं यथार्थ का सप्रमाण प्रतिपादन करने का प्रयास है।

इस ग्रंथ का अंतिम परिच्छेद, हिंदी के विद्वान् चिंतक, प्राचार्य श्री नवल-किशोर गौड़ (लंगटसिंह महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर) के सुझाव का परिणाम है। सीतामढ़ी आने पर उन्होंने इस ग्रंथ की पांडुलिपि देखी और पढ़कर प्रभावित हुए। उन्होंने सुझाव दिया कि यदि 'मूर्ति-पूजा का चित्रकला, स्थापत्य-कला तथा मूर्तिकला पर प्रभाव' नामक एक परिच्छेद जोड़ दिया जाता तो और भी

उत्तम होता। अतः इस ग्रंथ का अंतिम परिच्छेद उन्हीं के सुझाव का कलात्मक परिणाम है। इस सुझाव के लिए मैं उनका आभारी हूँ।

बिहार के लोकायुक्त डाक्टर श्रीधर वासुदेव सोहोनी, आई० सी० एस० (अवकाश-प्राप्त) भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ एवं विख्यात विद्वान् हैं। भारतीय संस्कृति के सूक्ष्म तत्त्वों के वे निष्णात पारखी हैं। अतः उपयुक्त व्यक्ति समझकर मैंने जब उनसे इस ग्रंथ की भूमिका लिखने के लिए अनुरोध किया तो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस कृपा के लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

यशस्वी कवि एवं गोयनका महाविद्यालय, सीतामढ़ी के विद्वान् प्राध्यापक डॉ० मदनमोहन पूर्णेन्दु, डी० लिट्० ने अपने स्मरणीय किन्तु अबतक अप्रकाशित शोध-ग्रंथ (कला-विवेचन के संदर्भ में मध्ययुगीन हिंदी-काव्य) में विवेचित प्रतीक एवं बिंब-विधान के आधार पर इस ग्रंथ के कई स्थलों के लिए मौलिक सुझाव देकर इसकी उपयोगिता बढ़ाई है। अतः वे मेरे स्नेह के विशेष अधिकारी हैं।

मेरे जामाता श्री रामनारायण गौड़, बी० ए० ने प्रेस के लिए पांडुलिपि तैयार की है। अतः मेरी शुभकामनाएँ उनके लिए हैं।

इस ग्रंथ में भारत के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न स्व० डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का जो चित्र दिया गया है, उसको बिहार-सरकार के जनसंपर्क विभाग के वरिष्ठ कलाकार, मेरे कनिष्ठ पुत्र श्री विजय कुमार वर्मा ने बनाया है। यही इस चित्र की विशेषता है।

इस ग्रंथ के लिखने में वेदादि प्राचीन ग्रंथों के अतिरिक्त कतिपय प्रामाणिक और विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों एवं लेखों से मुझे सहायता मिली है। अतः मैं उन सबके लेखकों का आभारी हूँ।

प्रस्तुत विषय पर मुझे कोई प्रामाणिक ग्रंथ हिंदी या अंग्रेजी में देखने को नहीं मिला। अतः इस महत्त्वपूर्ण विषय का मैंने संक्षेप में दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है। मेरा ज्ञान सीमित है, अतः मैं यह कहने की धृष्टता नहीं कर सकता कि मेरा विचार अकाट्य है। मेरा मुख्य उद्देश्य विद्वानों का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर आकृष्ट करना है।

श्री मथुरा प्रसाद स्मारक गीताभवन
सीतामढ़ी कोर्ट
चैत्र शुक्ल रामनवमी, सं० २०३१ (१-४-'७४) **सांवलियाबिहारी लाल वर्मा**

भूमिका

I

मेरे ज्ञानवृद्ध सन्मित्र श्री साँवलिया विहारी लाल वर्मा जी ने गत ५० वर्षों से अधिक की अवधि में श्रीशारदा की उपासना की है, और ऐसे दीर्घकाल में, उनके अविरत परिश्रम के आधार पर उनकी लेखनी अस्खलित गति से चलती आ रही है। न केवल महाभारत (१९१५) और रामायण (१९६६) पर उनके ग्रंथ प्रसिद्ध हुए हैं; बल्कि धार्मिक यात्राओं के अनेक वर्णनात्मक ग्रंथ उन्होंने लिखे हैं—'बद्री-यात्रा' (१९४८), 'दक्षिण-भारत की यात्रा' (१९५६), 'रामेश्वरम्-यात्रा (१९६०)। उनके दर्शन-विषयक ग्रंथ भी सुप्रसिद्ध हैं: 'इस्लाम की झाँकी' (१९४८), 'विश्वधर्म-दर्शन' (१९५३) और लगभग चालीस उपनिषदों पर भाष्य ('नई धारा' में धारावाहिक)। उनके दो अप्रकाशित ग्रंथ भी मुद्रण की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जिनमें शंकराचार्य से लेकर डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् तक, गीता का समन्वयवादी भाष्य प्रमुख है। इन कृतियों के अतिरिक्त उनका उल्लेखनीय ग्रंथ, 'अंतर्राष्ट्रीय विधि', सन् १९६५ ई० में प्रकाशित हुआ, जो उनके व्यवसाय के व्यासंग में जो अध्ययन हुआ, उसका परिचय देता है। श्री वर्माजी का जीवन विधायक दृष्टिकोण के आधार पर बहुत प्रयत्नशील और क्रियाशील होने से दूसरों के लिए आदर्शभूत हो चुका है। कवि ने कहा है—**'न ह्येकस्मिन् अतिशयवतां संनिपातो गुणानाम्'**। परन्तु श्री वर्माजी को इस नियम का अपवाद मानना चाहिए। विशेषतः वर्तमान प्रसंग में यह दिखाई पड़ता है कि श्री वर्माजी के इस ग्रंथ की निर्मिति की भूमिका वर्षों से समृद्ध हो रही थी, और अपने संतुलित तथा गंभीर चिंतन और मनन से परिपूर्ण यह विश्लेषण उन्होंने हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में उपस्थापित किया है।

इस ग्रंथ का नाम है: 'भारत में प्रतीक (मूर्ति)-पूजा का आरंभ और विकास', और इसमें तीन खंडों में बाँटे हुए सोलह अध्याय हैं। ग्रंथ के केवल नाम से इसके अंतरंग की पहचान नहीं होगी; क्योंकि ग्रंथकर्त्ता ने प्रतीक-पूजा का ही विचार नहीं किया है, बल्कि मूर्ति-विज्ञान, भारतीय धार्मिक पंथ और संप्रदाय तथा यात्रा-स्थलों का भी विवरण दिया है। अंत में ५३ संदर्भ-ग्रंथों की सूची है।

II

किसी वन्य पशु-विशेष का जब मानव के रूप में कायापलट होकर उसकी बुद्धि का विकास होने लगा तब मानव-संस्कृति और सामाजिक जीवन का आरंभ हुआ। परन्तु उस काल से अबतक ऐसी परिस्थिति कभी भी नहीं रही, जिसमें मानव-समूह में भिन्न-भिन्न स्तरों पर विचार, और उनसे बँधे हुए आचार, भिन्न-भिन्न प्रकार के नहीं रहे। मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना—यह एक अकाट्य और चिरंतन अनुभव है; और यही कारण है कि किसी विशिष्ट कालखंड के लिए यह कदापि नहीं कहा जा सकता है कि उसके किसी विशिष्ट समाज के विचारों में एकवाक्यता थी या उनके आचार भी एक ही प्रकार के थे। इस कसौटी पर यदि हम वैदिक काल और समाज की ओर देखेंगे तो ऐसा कहना साहस होगा कि उस युग में मूर्तिपूजा कहीं थी भी नहीं। विद्वानों में इस विषय पर एकमत नहीं हुआ है जैसाकि स्वाभाविक ही है। इस बिंदु पर चर्चा करते हुए डॉ० जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने अभिप्राय दिया है कि वैदिक धर्म की प्राथमिक अवस्था में मूर्ति-पूजा को स्थान नहीं मिला। यह बात यदि स्थूल रूप में सही है, तो स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक वाङ्मय एक सीमित स्तर के लोगों के हाथ में था, जो उस काल के बुद्धिजीवी थे, और उन्हें छोड़कर अन्य स्तरों के लोगों के बारे में वैसा ही समझना भ्रम होगा (देखें Development of Hindu Iconography, pp. 66—6, 2nd edition, 1956)।

ग्रंथकर्त्ता ने इस विषय पर यह निष्कर्ष निकाला है कि "वैदिक काल में प्रतीक (मूर्ति)-पूजा आर्यों में नहीं थी। ज्ञान और कर्म-संपत्ति का, प्रभु-अनुग्रह के साथ, सामंजस्य ही वैदिक भक्ति का स्वरूप था" (पृ० १४)। जैसाकि मैंने ऊपर बतलाया है, वैदिक काल का अधिकांश वाङ्मय इस ग्रंथकर्त्ता के सिद्धांत की पुष्टि अवश्य देता है, यद्यपि कहीं-कहीं मूर्तिपूजा के संकेत भी उसमें मिलते हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद में रुद्र की रंगीन मूर्ति (II. xxxiii. 9), वरुण का सोने का कवच (I. xxv. 13) तथा मरुतों की मूर्तियों (V. LII. 155) के भी उल्लेख मिलते हैं। यह अनुमान निकालना सही नहीं होगा कि तत्कालीन मूर्तिपूजा केवल अनार्यों में ही प्रचलित थी या वैदिक युग के पश्चात् साधारण जनता में ही स्वीकृत थी।

वैदिक संस्कृति तथा मोहेंजोदड़ो या हड़प्पा-संस्कृति के बीच क्या संबंध थे और कितना कालांतर हुआ, यह भी एक अत्यंत विवादग्रस्त प्रश्न है। हो

सकता है कि वेदों में जो परिस्थिति दिखाई गई है वह मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा की संस्कृति के बहुत पहले के काल की होगी। ग्रंथकर्त्ता ने 'अनार्य देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात्' नामक अपने द्वितीय परिच्छेद में इस प्रश्न पर प्रकाश डाला है। उनका निष्कर्ष यह है कि "सिंधु-घाटी के पुरुष-देवता और वैदिक रुद्र के समीकरण का एक बहुत बड़ा परिणाम यह हुआ कि आर्यधर्म में देवी की उपासना का आरम्भ हुआ" (पृ० ३६)। विद्वान् लेखक यह भी कहते हैं कि "सिंधु-घाटी के लोगों का आर्यजाति से सम्मिश्रण का दूसरा महान् परिणाम हुआ कि भारत में मंदिरों और मूर्तियों की स्थापना आरम्भ हुई ....इस प्रकार देवालय और उसमें स्थापित मूर्ति की पूजा का श्रीगणेश हुआ ....रुद्र की उपासना ने जो स्वरूप धारण किया उसमें लिंगोपासना दृढ़ हो गई ....इस सम्मिश्रण का एक और प्रभाव यह पड़ा कि निम्न कोटि के लोगों ने कुछ नए देवी-देवताओं को अपनाया। ऐसे देवी-देवता असभ्य जंगली अनार्यों द्वारा सर्वत्र पूज्य थे" (पृ० ३७)।

मेरी अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार की है। जब आर्यों का आक्रमण भारत में हुआ तब सिंधु-घाटी-हड़प्पा संस्कृति से उनका संपर्क और संघर्ष तो हुआ ही। परन्तु इस प्रकार ये घटनाएँ हुईं कि तत्कालीन उस प्रदेश के भारतीयों के सब स्तर के लोग आर्यों के सब स्तरों के साथ संबंधित हुए, और ऐसा संपर्क या संघर्ष कई शतकों तक चालू रहा, जिससे उसके परिणामों का वर्गीकरण इतनी आसानी से नहीं किया जा सकता है। साथ-साथ यह भी मानना आवश्यक है कि पूर्वी भारत में केवल जंगली जातियाँ नहीं थी—वहाँ के लोग अनार्य तो थे ही, परन्तु सुसंस्कृत भी थे। अब उनके साथ आर्यों का संघर्ष भी सीमित नहीं रहा। सामाजिक परिवर्त्तन अल्प अवधि में नहीं होता है। दर्शन और कर्म-कांड के बारे में, इस परिस्थिति में, आर्यों और अनार्यों में क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ हुई, यह निश्चित रूप में कहना अभी तक कठिन ही रहा है। स्मरण रहे, स्वयं 'पूजा' शब्द, देववाणी का नहीं, बल्कि द्राविड़ भाषा का है। आर्यों के भारतीय आक्रमण के युग में, देश में सुसंस्कृत अनार्य अवश्य थे। नहीं तो व्रात्य स्तोम का प्रयोजन ही क्या रहता। व्रात्य संस्कृति में यक्षों की, वृक्षों की और पक्षियों की पूजा होती थी। अनेक कलाएँ परिणत अवस्था में थीं। व्रात्यों के पूजा-प्रतीकों से, निःसंदेह, आर्य-संस्कृति पर परिणाम हुआ है।

ग्रंथकर्त्ता के तर्क के अनुसार रामायण-काल में, "मंदिर और उसमें स्थापित मूर्ति की कहीं झलक भी नहीं है" (पृ० ५२)। परन्तु विपक्ष में कहा जा सकता है कि ब्रह्मा, विष्णु और अन्य देवताओं के मंदिरों के उल्लेख वाल्मीकि-रामायण में मिलते हैं। उदाहरण के लिए देखा जाए III, xii, 72-73, जहाँ ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, महेन्द्र इत्यादि देवताओं के पूजा-स्थान का उल्लेख है और II iv. 30 में 'देवतागार' का।

जहाँ तक महाभारत-काल का प्रश्न है, ग्रंथकर्त्ता ने स्व० श्री चिंतामणि विनायक वैद्य महोदय के विचार उद्धृत किए हैं, "महाभारत-काल में यद्यपि मंदिर और मूर्तियाँ भी रही हों तथापि आर्यों के आह्निक धर्मकृत्य में अबतक देवताओं की पूजा न थी। यह बात महाभारत और गृह्यसूत्रों से भी निश्चित दीख पड़ती है। वैदिक देवता कुल ३३ माने गए थे। परन्तु तैंतीस देवताओं में से बहुत की प्रतिमाएँ बनीं अथवा मंदिर तैयार हुए।" परन्तु महाभारत में मूर्तिपूजा के विपुल उल्लेख मिलते हैं; उदाहरणार्थ वन-पर्व के ८२, ८३, एवं ८४ अध्यायों में। इस संबंध में मैकडोनेल का ग्रंथ 'A History of Sanskrit Literature', पृ० २१० भी देखा जाए।

ग्रंथकर्त्ता का निष्कर्ष यह है कि पाणिनि के युग में भारत में भक्तिधर्म का उदय हुआ, जो इस देश के धार्मिक इतिहास की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है, जिसका व्यापक परिणाम समाज और व्यक्ति के जीवन पर हुआ (पृ० ७४)। उन्होंने यह भी बतलाया है कि भक्तिधर्म के उदय का दूसरा प्रभाव, पूजा की पद्धति पर पड़ा, जो प्राचीन यज्ञविधि से सर्वथा भिन्न थी। ऐसे निष्कर्ष ग्रंथ-लेखक ने डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' नामक शोध-प्रबंध के आधार पर दिए हैं। परन्तु, ऐसा तर्क निकालना अनुचित नहीं होगा कि व्याकरण-विषयक ग्रंथों में जो सामाजिक परिस्थिति प्रतिबिंबित होती है वह दीर्घकालीन उत्क्रांति का ही परिचय है—न कि उसी समय या दशक या शतक से उत्पन्न हुई परिस्थिति का।

इसके पश्चात् जो कालखंड आता है, उसकी प्रतीक-पूजा-विषयक जानकारी प्राचीन मुद्राओं से, विशेषतः आहत मुद्राओं से, पर्याप्त मिलती है। हाल ही में, अगेथोक्लीज नाम के एक यवन राजा की रजतमुद्राएँ अफगानिस्तान में प्राप्त हुई हैं, जिनपर गणपति, कृष्ण तथा बलराम देखने में आते हैं। कुषाण-

सम्राटों की मुद्राओं पर देवताओं की मानो चित्रमाला ही अंकित हुई है। गुप्त-सम्राटों ने भारतीय संस्कृति के पुनरुज्जीवन का प्रयत्न किया और उनकी मुद्राओं पर अनेक देवताओं का चित्रण हुआ है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अपना एक महत्त्व रखता है। नीराजन-विधि के अनेक प्रसंग अंकित हुए हैं। सिंहवाहिनी दुर्गा है। नरसिंह का अवतार भी कुमार गुप्त (प्रथम) की मुद्रा की एक भाँति पर मुद्रित है। प्रत्येक राजवंश ने अपनी-अपनी मुद्राओं पर अपने निजी श्रद्धा और भक्ति के अनुसार पूजनीय वस्तु, प्रतीक, चिह्न या देवी-देवताओं को अंकित किया है, जो अभ्यसनीय है।

भारतीय संस्कृति के संबंध में पुराणों के कालखंड से विस्तृत, निश्चित और परिपूर्ण जानकारी मिलने लगी, और मूर्तिविज्ञान तथा मूर्तिपूजा—इन दो विषयों पर भी प्रभूत प्रमाण में पुराणों से प्रकाश पड़ता है। ग्रथकर्त्ता ने इस सामग्री का समुचित उपयोग किया है—यहाँ तक कि उनका निष्कर्ष है कि "पुराण ही वर्त्तमान हिंदू-धर्म की आधारशिला है" (पृ० ८६)। आगे चलकर उन्होंने पाशुपत मत, पाञ्चरात्र (भागवत) मत, वैखानस मत, शाक्त मत—इन महत्वपूर्ण मतों की चर्चा प्रतीक-पूजा के संदर्भ में की है। अवतारवाद के परिच्छेद में दशावतारों को चर्चा है। जैन तथा बौद्ध धर्मों में मूर्तिपूजा के स्थान के संबंध में सातवें तथा आठवें परिच्छेद में संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

ग्रंथ के तीसरे खंड में संतमत और गुरुपूजा का विवरण है। ग्रंथकर्त्ता का यह निष्कर्ष है कि "मनुष्य-मात्र की एकता और समता, तथा जातिवाद का खंडन, मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का विरोध—संत-संप्रदाय का मौलिक आधार था" (पृ० १४६)। ग्रंथकर्ता ने यह भी बतलाया है कि श्रीराम की उपासना श्रीकृष्ण की उपासना के बाद प्रचलित हुई। किन्तु श्रीराम की भक्ति-भावपूर्वक पूजा का प्रचार भारत में दसवीं शताब्दी के अनंतर ही हो पाया (पृ० १३०)।

ग्रंथ का अवशिष्ट भाग वर्णनात्मक है। इतनी विपुल जानकारी इतनी कम संख्या के पृष्ठों में क्वचित् ही देखने में आती है। ग्रंथकर्त्ता ने दक्षिण-भारत के एक विलक्षण मंदिर-मस्जिद का वर्णन दिया है। यह स्थान "दक्षिण-भारत के दक्षिणी छोर पर स्थित नागपट्टिणम् बंदरगाह से छह मील दूर नागूर में स्थित है और 'नागूर आंडवन' के नाम से प्रसिद्ध है। 'आंडवन', तमिल का शब्द है,

जिसका अर्थ है, 'भगवान' ।............इस मंदिर-मस्जिद के सात फाटक हैं । वे इस बात के प्रतीक माने जाते हैं कि अगर कोई व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, बीमारी, बुढ़ापा और असत्य नामक सात द्वारों को पार कर ले, तो उसे भगवान के दर्शन होंगे ।" श्री वर्माजी ने मार्मिक अभिप्राय लिखा है, "नागूर-आंडवन, हिंदुत्व और इस्लाम को ही नहीं, उत्तर और दक्षिण भारत को भी जोड़ने-वाली कड़ी है" (पृ० २२५-२२६) । केरल प्रदेश की कुछ वर्तमान विशेषताएँ विद्वान् ग्रंथकर्त्ता ने जो पृ० २२८—२३१ पर दी हैं तथा दुर्योधन और रावण के मंदिर और उनकी पूजा के बारे में पृ० २३१-२३२ पर जो जानकारी दी है, वह प्रायः अन्यत्र दुर्लभ मानी जा सकती है ।

प्रतीक पूजा का भिन्न-भिन्न शिल्पकलाओं पर प्रभाव कैसे हुआ, यह तृतीय खंड के तीसरे परिच्छेद में सुंदर ढंग से दिग्दर्शित हुआ है ।

III

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि श्री वर्माजी ने निगम तथा आगम ग्रथों का आवश्यक परिशीलन करने और दीर्घकाल के विचार-मंथन के पश्चात् इस ग्रंथ की रचना की है । निर्गुण-निराकार को छोड़कर साकार-सगुण का आधार परमेश्वर के तत्त्व को माननेवाला व्यक्ति क्यों लेता है, इसका उत्तर विष्णुपुराण में बहुत सुंदर शब्दों में मिलता है—

ध्यात्वार्कमण्डले विष्णुं वेदमंत्रैरभिष्टुतम् ।।
धार्यमाणे तथैवाग्नौ जुहुयात् कार्यसिद्धये ।
तत्र यत्र केवलं ध्यानं वेदान्तोक्तमनाश्रमम् ।।
न तत्रेन्द्रियदौर्बल्यात् कर्मस्थस्याधिकारिता ।
यथा गिरितटाग्रस्थवनस्पतिफलेच्छया ।।
उपायो वर्ततेऽश्रान्तस्तथासौ यत्नमाचरेत् ।
सर्वत्र क्रमवान् यत्नः कार्यो नेच्छैव केवला ।।
तत् कायवाङ्मनोवेगैः क्रमादिच्छेत् परांगतिम् ।
निराकारे तु या भक्त्या पूजेष्टा ध्यानमेव वा ।।
रमणीयमिवाभाति तदनर्थस्य कारणम् ।
स्थूलभावप्रसङ्गेन जन्मनास्येन्द्रियाणि हि ।।
सूक्ष्मार्थं न प्रपद्यन्ते चिराच्च किमुताचिरात् ।
न च रूपं विना देवो ध्यातुं केनापि शक्यते ।।

सर्वरूपनिवृत्ता हि बुद्धिः कुत्रास्य तिष्ठति।
निवृत्ता ग्लायते बुद्धि निद्रया वा परीयते॥
तस्माद् विद्वानुपासीत बुद्ध्या साकारमेव तम्।
अस्ति तस्य परोक्षं तदिति किञ्चिदनुस्मरेत्॥
सर्वथाकारमुद्दिष्टं न परित्यज्य पण्डितः।
परं देवमुपासीत मुक्तये वा फलाय वा॥

—विष्णुपुराण २६ : ४९ब—५८

श्री वर्माजी ने अपने इस नवीनतम ग्रंथ में भारतीय संस्कृति का विश्लेषण करते हुए प्रतीक-विज्ञान तथा पूजा से संबंधित प्रश्नों का ऊहापोह ऐतिहासिक काल-खंडों के आधार पर प्रस्तुत किया है। दर्शन और धर्म, संप्रदाय और पंथ, रूढ़ि और आचार—इन सबकी आपस में प्रक्रियाएँ क्या होती रहीं, यह दिखाना अत्यंत कठिन काम है। श्री वर्माजी ने संबंधित वाङ्मय का अध्ययन करके यह सारगर्भित ग्रंथ हिंदी वाचकों के सामने रखा है, जिससे हिंदी-साहित्य में एक नया प्रांगण खोला गया है। हिंदी-जगत् इसका स्वागत करेगा, यह निस्संदेह है। मैं विद्वान् मनीषी का अभिनंदन करता हूँ और परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि भविष्य में भी उनकी प्रतिभा द्वारा उनकी कीर्तिलता के नए-नए अनेक प्रतान पल्लवित होते जाएँगे। मैं उनका आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे यह भूमिका लिखने का अवसर देकर कृतार्थ किया है।

श्रीधर वासुदेव सोहोनी

4, कौटिल्य मार्ग, पटना-1
5 ज्येष्ठ-शुक्ल, सं० 2031
26 मई, 1974

विषय-सूची

पहला खंड

दूसरा खंड

तीसरा खंड

तीसरा परिच्छेद



पहला खंड

प्रथम परिच्छेद

वैदिक काल

भारत में मूर्ति-पूजा का आरम्भ कब और किस अंचल में हुआ, यह कहना कठिन है। भारत की सभ्यता प्राचीनतम सभ्यता मानी जाती है। विद्वानों का मत है कि सिन्धु-सभ्यतावाले प्रतीक(मूर्ति) पूजक थे। मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा में एक प्रकार की मृणमयी मूर्तियाँ मिली हैं, जिन्हें पुरातत्त्व-शास्त्री मातृ-देवी की मूर्ति मानते हैं। ये मूर्तियाँ प्रायः नग्न हैं। मातृदेवी की पूजा प्राचीन काल में ईजियन प्रान्त से सिन्धु-प्रान्त के बीच के सभी देशों—फारस (ईरान), मिस्र, सीरिया, इराक, ट्रांसकास्पिया, लघु एशिया आदि में प्रचलित थी। इन देशों की मूर्तियों में इतनी विशिष्ट समानताएँ हैं कि यह धारणा स्वीकार करनी पड़ती है कि प्रागैतिहासिक युग में मातृ-पूजा का भूमध्य सागर से भारत तक प्रचार था। बलूचिस्तान में भी कुछ मातृदेवी की मृणमयी मूर्तियाँ मिली हैं। मातृदेवी की पूजा की उत्पत्ति धरती माता की पूजा से हुई होगी। बेबिलोन की कुछ मुद्राओं पर मातृदेवी अनाज की बाल के डठल के साथ दिखलाई गई है। मेसोपोटेमिया के लेखों से ज्ञात होता है कि मातृदेवी हर प्रकार से नगर-निवासियों की रक्षा करती थी। इन्हीं दृष्टिकोणों से सिन्धु-प्रान्त में मातृदेवी की पूजा होती रही। ऋग्वेद में मातृदेवी के लिए 'अदिति', 'प्रकृति' या 'पृथ्वी' शब्द का प्रयोग हुआ है।

इन खुदाइयों से ऐसी भी मुद्रा मिली है, जिसे पुरातत्त्व-पण्डित प्रागैतिहासिक शिव का चित्रण मानते हैं। इस आकृति में शिव के मुख हैं। शिवजी हाथ दोनों ओर घुटनों के ऊपर रखे हुए हैं, और पलथी मारकर पूर्णयोग की अवस्था में एक तिपाई पर बैठे हैं। तिपाई की दाईं ओर चीते तथा बाईं ओर गैंड़े और भैंस के चित्र हैं। शिवजी के सम्मुख द्विश्रृंगी हिरन खड़े हैं। शिवजी के सिर पर दो सींग हैं, जो सिरबन्द से बँधे हैं। प्राचीन काल में सींग धार्मिक प्रतीक समझे जाते थे। सम्भवतः, सिन्धु-प्रान्त के शिव के सींग भी किसी ऐसी ही धार्मिक भावना के प्रतीक हो सकते हैं। सर जॉन मार्शल की राय है कि ऐतिहासिक युग में यही त्रिभंग प्रतीक त्रिशूल के रूप में आया।

मोहेंजोदड़ों की शिव-आकृति में सम्भवतः किन्हीं तीन देवताओं को एक करने का प्रयत्न किया गया है। शिवजी को दूसरे प्रकार को मूर्ति एक ताम्रपत्र पर अंकित है। इसमें शिव योगासन में हैं। शिवजी के दोनों घुटनों के पास दो भक्त बैठे हैं। दो सर्प सम्मुख बैठे हैं। शिवजी अपने गले में भी सर्प धारण किए हुए हैं। कुछ प्रतिमाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें आधा भाग नारी का और आधा भाग पुरुष का है। इन्हें 'अर्धनारीश्वर' के नाम से पुकारा गया है। मोहेंजोदड़ो में लिंग और योनि की कई वस्तुएँ मिली हैं। इनके अतिरिक्त इन स्थानों पर पत्थर के अनेक लिंग प्रतीक मिलते हैं, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि सिन्धु-घाटी में भी लिंगोपासना का प्रचार था। इन प्रतीकों के जननेन्द्रिय-सम्बन्धी होने में कोई सन्देह नहीं है।[1]

अतः सिन्धु-घाटी में जो कुछ पाया गया है, वह विशेष रूप से बड़े महत्व का है; क्योंकि उससे भारत के आर्य-पूर्व युग के इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ता है। किन्तु श्री पु० ना० ओक का कथन है कि "मोहेंजोदड़ो में शिव-फलक की उपलब्धि एवं सिन्धु-घाटी की लिखावट में वेदों के नामों के स्पष्टालेखों ने पश्चिम के विद्वानों की मान्यताओं को पूर्णरूप से मूल-रहित कर दिया है। अब यह नहीं कहा जा सकता है कि मोहेंजोदड़ो की सभ्यता द्राविड़ों की तथा वेद-पूर्व की थी।" मेरे विचार में मोहेंजोदड़ो की सभ्यता भले ही वेद-पूर्व न हो, किन्तु वह आर्य-सभ्यता नहीं थी; क्योंकि आर्य-सभ्यता में मूर्ति-पूजा का प्रचलन भारत में निश्चित रूप से पहले नहीं था। और, अनार्यों की लिंग पूजा का वेद के दो स्थलों पर उपहास किया गया है।[2] ज्ञात होता है कि आर्य-सभ्यता और मोहेंजोदड़ो की सभ्यता समकालीन सभ्यताएँ थीं; क्योंकि आर्य और अनार्य के संघर्ष का इतिहास लम्बा था और संघर्ष-काल में दोनों सभ्यताएँ विभिन्न अंचलों में फलती-फूलती रहीं। केरल निश्चित रूप से द्राविड़ सभ्यता का प्रमुख अंचल था। वहाँ अनादि काल से शिव तथा लिंग के प्रति श्रद्धा, नाग-पूजा, अनंग पूजा, जीव-बलि तथा नरबलि आदि की प्रथा मोहेंजोदड़ो की सभ्यता से मेल खाती है न कि आर्य-सभ्यता से। सबसे महत्त्व की बात यह है कि सिन्धु-घाटी की खोजों से हमें अप्रत्याशित सुराग मिले हैं, जो भारतीय धर्म और

1. *Swami Sankaranand* : 'Pre-historians [ndus', Vol. I & II.
   ,, ,, : —Indus People Speak.

2. ऋग्वेद ७/२१/५; १०/९९/३

संस्कृति के बहुत-से ऐसे पहलुओं को समझने में सहायक हुए हैं। शैवधर्म के इतिहास के लिए तो इन सिन्धु-घाटी की खुदाई सम्बन्धी खोजों का महत्व है। इससे शैवमत के उन्हीं रूपों का समुचित समाधान हो जाता है, जिनका उद्‌भव हम वैदिक धर्म में नहीं पा सकते, और जिनको अभी तक संतोषजनक ढंग से समझाया नहीं जा सका है।

"सर्वप्रथम हम शैवमत के सबसे प्रमुख रूप लिंग-पूजा को लेते हैं। यह तो निश्चित है कि जिस लिंग-रूप में भगवान शिव की उपासना सबसे अधिक होती है, वह प्रारम्भ में जननेन्द्रिय सम्बन्धी था। यह ठीक है कि कुछ विद्वान ऐसा नहीं मानते और उन्होंने लिंग को अन्य प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है। उनके समस्त तर्कों का आधार यही है कि वैदिक युग के अपरकाल में लिंग का जननेन्द्रिय से कोई सम्बन्ध नहीं था और वैदिक धर्म में भी जननेन्द्रिय की उपासना का कोई संकेत बिल्कुल नहीं मिलता। परन्तु ये सब तर्क उन अखंडनीय प्रमाणों के आगे अमान्य हो जाते हैं, जो निश्चित रूप से यह सिद्ध कर देते हैं कि प्रारम्भ में लिंग जननेन्द्रिय सम्बन्धी था। कुछ अति प्राचीन और यथार्थ-रूपी बड़ी-बड़ी लिंग-मूर्तियाँ तो हमें मिलती ही हैं। इनके अतिरिक्त महाभारत में स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से कहा गया है कि लिंग-मूर्ति में भगवान शिव की जननेन्द्रिय का ही उपासना होती थी। प्राचीन पुराणों में भी लिंग-मूर्ति का जननेन्द्रिय सम्बन्धी माना गया और उसकी उपासना का कारण बताने के लिए अनेक कथाएँ रची गईं।"[1]

जननेन्द्रिय की उपासना का प्राचीन सभ्य संसार में बहुत प्रचार था। प्रायः सभी देशों में लिंग और योनि की किसी-न-किसी रूप में प्रतिष्ठा थी। एक ओर मिस्र में उसकी उपासना होती थी, जहाँ विशाल और यथार्थ-रूपी लिंगों के जुलूस खुलेआम और बड़े समारोह के साथ निकाले जाते थे, तो दूसरी ओर जापान में भी वे पूजे जाते थे और साधारणतया लिंग-मूर्तियाँ अलग कर ली जाती थीं और पूजा के लिए सड़कों के किनारे उन्हें स्थापित कर दिया जाता था। किन्तु, लिंगोपासना का प्रमुख केन्द्र पश्चिम एशिया था, जहाँ बेबिलोन और असीरियन लोगों की महान् सभ्यता की उत्पत्ति हुई और जहाँ वे फूली-फलीं। ज्ञात होता है कि लिंग पूजा का प्रचलन दक्षिण पूर्व में तथा अरब और ईरान में भी था।

1. शैवमत : डॉक्टर यदुवंशी पृ०, २५

किन्तु सन् १९५४ ई० में जब मुख्य भूमि और काठियावाड़ प्रायद्वीप को जोड़नेवाले दालान का सर्वेक्षण किया गया तो लोथल के बन्दरगाह नगर का पता चला। इस स्थान पर सन् १९५५ से १९६१ ई० तक जो खुदाई हुई है, उससे हड़प्पा-कालीन संस्कृति की अनेक नई बातों पर प्रकाश पड़ा है। यह सभ्यता ईसा से २,४५० वर्ष पूर्व की है।

ऐसे पर्याप्त प्रमाण मिले हैं, जो यह बताते हैं कि यहाँ के निवासी किसी-न-किसी रूप में अग्नि-पूजक थे। लोथल के लोगों के धार्मिक कृत्य सिन्धु-घाटी के निवासियों के धार्मिक कृत्यों से बहुत भिन्न थे। लोथल में मातृदेवी की उपासना का बिल्कुल प्रचलन नहीं था, और न वहाँ तथाकथित लिंग-पूजा के चिह्न प्राप्त हुए हैं। लोथल में प्राप्त हुए मुहरों-ठप्पों पर किसी भी मानवीय अथवा दैवी आकृति का चित्रण नहीं है। इसलिए इनकी आकृतियों के साथ सिन्धु-घाटी की सभ्यता के सींगवाले देवता का सामंजस्य स्थापित करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

हड़प्पा, रोपड़ आदि की तरह लोथल में भी लोग मृतक को दफनाते थे, पर लोथल में अन्त्येष्टि-क्रिया की एक अद्भुत बात यह थी कि एक से अधिक मृतकों को एक साथ दफनाया जाता था। इस हालत में ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ सती-प्रथा प्रचलित थी। लोथल में पशु-बलि की प्रथा थी, इसका भी प्रमाण मिला है। इससे यह प्रमाणित होता है कि भारत के सब अंचलों में आदि-निवासियों में समान रूप से मातृ-पूजा तथा लिंग-पूजा प्रचलित नहीं थी। ऋग्वेद में आए दो मंत्रों का हवाला देकर कतिपय विद्वानों का कहना है कि भारत के अनार्यों में लिंग-पूजा का प्रचलन था।[1] अधिकांश पूर्वी एवं पश्चिमी इतिहासज्ञों तथा दार्शनिकों का मत है कि आर्यों में मूर्ति-पूजा का चलन जैन-बौद्ध काल में हुआ। पुराणों के आधार पर भारतीयों की धार्मिक भावना के अनुसार मूर्ति-पूजा भले ही अनादिकाल से चली आती हुई जान पड़ती है; किन्तु जहाँ तक ऐतिहासिक खोज का संबंध है, इसका समय जैन-बौद्ध काल से पहले

---

1. न यातव इन्द्र-जुजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः॥

ऋग्वेद, मण्डल ७, सूक्त २१, मंत्र ५

अर्थ—हे इन्द्र ! राक्षस हमारा घात-पात न करें। हे बलशाली वीर !

नहीं जाता। इस धारणा की पुष्टि का एक बहुत बड़ा प्रमाण यह है कि विभिन्न अंचलों की खुदाई में बौद्ध और जैन-धर्म की मूर्तियों से प्राचीनतर किसी हिन्दू देवता की मूर्ति प्राप्त नहीं हुई है। मूर्ति-पूजा का प्रचलन जब कभी हुआ हो, आज अधिकतर हिन्दू किसी-न-किसी रूप में मूर्ति पूजक हैं। वेदों के मंत्रों का अनुवाद मूर्तिपूजा के विरोधियों तथा समर्थकों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोण से हुआ है। मुझे दोनों दृष्टिकोणों से अनुवादित वेदों के अनेक संस्करणों को पढ़ने का सुअवसर मिला है। मेरी धारणा है कि इस सम्बन्ध में स्थल-स्थल पर दोनों दृष्टिकोणों से किए गए अनुवाद पर वास्तविकता के बदले उनके अपने-अपने दृष्टिकोण की छाप स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है। मुझमें क्षमता नहीं है कि किस अनुवाद को ठीक मानूँ। अतः उदाहरणार्थ कुछ मत्रों को, विभिन्न दृष्टिकोण से किए गए अनुवाद के साथ नीचे प्रस्तुत कर रहा हूँ। विज्ञ पाठक इससे स्वयं निर्णय कर सकते हैं :

बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठ मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः।
पयीति त्वो अनुत्वो गृणाति वन्दारुस्ते तन्वं वन्दे अग्ने:॥

ऋग्वेद, १/१४७/२ ; वा० स० १२/४२

हे युवा और अन्नवाले अग्नि! मेरी अत्यन्त पूज्य और अच्छी तरह से सम्पादित स्तुति को ग्रहण करो। कोई तुम्हारी हिंसा करता है और कोई तुम्हारी पूजा करता है। मैं तुम्हारा उपासक हूँ। मैं तुम्हारी मूर्ति की पूजा करता हूँ। (श्री रामगोविन्द त्रिवेदी)

वंदन करके हमारे अन्दर रहनेवाले हमारे अन्तःशत्रु उनके जानने के साधनों से हमारा नाश न कर सकें। वह आर्य इन्द्र विषम मनुष्य-प्राणियों पर भी अधिकार चलाने की इच्छा करता है। शिश्न-पूजक, ब्रह्मचर्य का पालन न करनेवाले, हमारे यज्ञ के पास न आ जाएँ।

स वाजं यातापदुष्पदा यन्त्स्वर्षाता परि षदत्सनिष्यन्।
अनर्वायच्छतदुरस्य वेदो ध्नञ्छिश्नदेवाँ अभि वर्पसा भूत्॥

ऋग्वेद, १०/९९/३

अर्थ :

वह इन्द्र सुन्दर गति से जाकर युद्ध-क्षेत्र में अवस्थित होते हैं। वह अविचल होकर सौ दरवाजोंवाली शत्रुपुरी से धन ले आते हैं और लिंग-पूजक दुरात्माओं को अपने तेज से हराते हैं।

हे अत्यन्त युवा अग्नि ! मेरे इस आदर योग्य स्तोत्र को सुनो। एक मनुष्य आपको पीड़ा पहुँचाता है; एक स्तुति करता है। मैं तो आपकी स्तुति करने-वाला हूँ।

(आचार्य श्रीराम शर्मा)

हे धनवान युवा-रूप अग्नि ! मेरे इस महान बारम्बार कथन करने से श्रवण-पथ को प्राप्त हुए वचन के अभिप्राय को जानो। कोई तुम्हारी निन्दा करे, कोई पुरुष तुम्हारी स्तुति करे, यह मनुष्यों का स्वभाव है; परन्तु स्तुति करने के स्वभाववाला मैं तुम्हारे शरीर को प्रणाम करता हूँ।

(ऋषिकुमार रामस्वरूप शर्मा)

ऋग्वेद के अनुवादक **एच० ए० विलसन** ने इस मंत्र का निम्नांकित अनुवाद किया है :

"Youthful (agni) to whom oblations are due, appreciate this my reverencing and earnest prayer : one man *Evils* (thee), another propitiates (thee) ; I thy worship and glorify thy person."

भावार्थ : ओ युवक अग्नि ! जिसको हवि माना है, हमारी आदर-सूचक और हार्दिक प्रार्थना को ग्रहण करो। कोई तुम्हारी निन्दा करता है और कोई स्तुति करता है। तुम्हारा पूजक मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ।

यह मंत्र ज्यों-का-त्यों शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में आया है। आर्य-समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती निम्नोद्धृत प्रकार का अनुवाद करते हैं :

"जब कोई किसी को पढ़ावे वा उपदेश करे तब पढ़नेवाला ध्यान देकर पढ़े या सुने। जब सत्य वा मिथ्या का निश्चय हो जाए तब सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग कर देवे। ऐसा करने में यदि कोई निन्दा और स्तुति करे तो कभी न छोड़े और मिथ्या ग्रहण कभी न करे। यही मनुष्यों के लिए विशेष गुण है।"

आर्यसमाज के दृष्टिकोण से वेदों के अनुवाद करनेवाले श्री जयदेव शर्मा इस मंत्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं :—

"हे युवतम ! हे बलवान ! हे स्वच्छ शरीर को धारण करने योग्य अन्न के स्वामिन् ! मुझ इस प्रार्थी के अत्यन्त अधिक आवश्यक रूप से कहने योग्य और उत्तम रीति से यथाविधि आप तक पहुँचाए गए वचन को यथावत जानो। इस न्याय-कार्य में कोई तेरी निन्दा करेगा और कोई दूसरा तेरी स्तुति करेगा।

अथवा मेरे इस वचन को एक काटे और दूसरा इसके पक्ष में कहे। इस प्रकार दोनों पक्षों को सुनकर आप निर्णय करें। और मैं वन्दना करनेवाला विनीत प्रार्थी हूँ। हे ज्ञानवान ! सत्य-असत्य के विवेक करनेवाले विद्वान ! राजन ! तेरे शरीर या विस्तृत शासन का गुणानुवाद करता हूँ। राजा का विवेकी विद्वान धर्माध्यक्ष के पास जाकर कोई अपना वचन, लिखित प्रार्थना-पत्र आदि उचित रीति से कहे। एक पक्ष में और एक विपक्ष में कहे। फैसला होने पर विनीत प्रार्थी आदरपूर्वक विदा हो।"

अतः उपर्युक्त अनुवादों से स्पष्ट है कि इस मंत्र में मूर्ति-पूजा का भाव कहीं नहीं आता जैसाकि श्री रामगोविन्द त्रिवेदी ने अनुवाद किया है।

इस प्रकार ऋग्वेद में आए कुछ अन्य मंत्रों में भी त्रिवेदी जी को मूर्ति-पूजा की झलक मिली है। यथा—

ईर्मान्यिद्वपुषे वपुश्चक्रं रथस्य येमथुः।
पर्यन्या नाहुषा युगा मह्नारजांसि दीयथः ।।

ऋग्वेद, ५।७३।३

त्रिवेदी जी इस मंत्र का निम्नांकित प्रकार से अनुवाद करते हैं :

" हे अश्विनीकुमारो ! सूर्य की मूर्ति को प्रदीप्त करने के लिए तुम दोनों ने रथ के एक दीप्तमान चक्र को नियमित किया है। अपनी सामर्थ्य से मनुष्यों के अहोरात्रादि काल को निरूपित करने के लिए अन्य चक्र द्वारा (तीनों) लोकों में परिभ्रमण करते हो।"

आचार्य श्रीराम शर्मा इस मंत्र में कहीं मूर्ति का उल्लेख नहीं पाते और इस मंत्र का अनुवाद इस प्रकार करते हैं :

" हे अश्विनीकुमारो ! सूर्य को प्रकाशित करने के लिए तुमने रथ के एक ज्योतिर्मान पहिए को योजित किया। तुम अपने पराक्रम से प्राणियों के लिए दिवस, रात्रि आदि को प्रकट करने के लिए अन्य पहिए द्वारा लोकों में घूमते हो।"

सनातनधर्मी उपर्युक्त श्रीराम शर्मा के अनुवाद के बाद दूसरा और अनुवाद देना व्यर्थ ज्ञात होता है।

भारत के विख्यात सनातन-धर्मावलम्बी विद्वान श्री माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ "क्यों ?" के दूसरे खण्ड के पृष्ठ ४७२ पर मूर्ति-पूजा की चर्चा की है और प्रमाण में वेदों के कुछ मंत्रों का उल्लेख किया है। कतिपय उल्लिखित मंत्रों में

'अर्चत' या 'प्रतिमा' शब्द आया है और उन्हीं के आधार पर आप उन मंत्रों में मूर्ति-पूजा का समर्थन पाते हैं। किन्तु विभिन्न सनातन-धर्मावलम्बी विद्वानों के अनुवाद से भी आपके विचार का समर्थन नहीं मिलता।

वेदों में (**ऋग्वेद ८। ५८।६९।८; सामवेद ३।६२; अथर्व २०।९२।५) मंत्र—अर्चत प्रर्चित प्रिये मेधासः अर्चित** आया है। माधवाचार्य जी इसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं : "हे बुद्धिमान मनुष्यो ! इस प्रतिमा का पूजन करो; भलीभाँति पूजन करो।"

किन्तु अन्य सनातन धर्मावलम्बी विद्वान निम्नांकित प्रकार इसका अनुवाद करते हैं : "हे अध्वर्युओ ! इन्द्र का पूजन करो।"

(आचार्य श्रीराम शर्मा)

"हे अध्वर्युओ, तुमलोग इन्द्र की पूजा करो। विशेष रूप से पूजा करो।"

टिप्पणी—'अर्चत' शब्द का अनुवाद विद्वानों ने 'पूजा' कियाहै, किन्तु माधवाचार्य जी 'अर्चत' का अर्थ प्रतिमा-पूजा लगाते हैं। वेदों में अनेक वैदिक देवताओं की स्तुति आई है और उसी प्रकार का मंत्र यह भी है।

इसी प्रकार माधवाचार्य जी अथर्ववेद के मंत्र (२।१३।४) **एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः। कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम्)** का अनुवाद करते हुए लिखते हैं— "हे परमात्मन ! तुम आकर इस पाषाण में विराजमान हो। यह आपका शरीर बन जावे और सब देवता सैकड़ों वर्ष-पर्यन्त इसमें आपकी विभूति को स्थिर करें।"

किन्तु अन्य भाष्यकार इसका निम्नलिखित प्रकार से अनुवाद करते हैं :

हे बालक ! अपने दक्षिण पाद द्वारा पाषाण पर चढ़ और इसी के समान दृढ़ तथा निरोग विश्वेदेवा तुझे शतायुष्य करें। (**आचार्य श्रीराम शर्मा**)

"यहाँ आ। इस शिला पर खड़ा रह, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ़ बने, और इससे सब देव तेरी आयु सौ वर्ष की बनावें।"

—वेदज्ञ श्रीसातवलेकर

माधवाचार्य जी ने यजुर्वेद के मंत्र (१५।६५) **सहस्रस्य प्रतिमा** असि का अनुवाद "हे परमेश्वर, आप सहस्रों की प्रतिमा, मूर्ति हैं।" किया है।

इस मंत्र का अनुवाद विभिन्न विद्वान निम्नांकित प्रकार से करते हैं।

"हे अग्ने। तुम सहस्र इष्टकाओं के समान हो।"—**आचार्य श्रीराम शर्मा**

"हे अग्ने ! तुम सहस्र इष्टकाओं का प्रमाण हो।"

(ऋ० कु० रामस्वरूप शर्मा)

"हे विद्वान पुरुष ! जिस कारण तू असंख्य पदार्थों से युक्त जगत के प्रमाण अर्थात् ज्ञान के तुल्य हो।"

—स्वामी दयानन्द सरस्वती

एक मंत्र **एतु प्राण एतु मन एतु चक्षुरथो बलम्** (अथर्ववेद ५।३०।१३) का अनुवाद माधवाचार्य जो करते हैं कि "इस प्रतिमा में प्राण आवे, मन आवे, नेत्र और बल आवें।" किन्तु किसी भी भाष्यकार के अनुसार प्रतिमा का भाव नहीं आता। यथा—

"प्राण इसको प्राप्त हो, मन और नेत्र इसको प्राप्त हों, मैंने इसकी देह को मंत्र-शक्ति से गुण्यवान किया है। यह अपने पैरों पर खड़ा हो जाए।"

—आचार्य श्रीराम शर्मा

"प्राण, मन, चक्षु, बल ये सब शक्तियाँ शरीर में फिर से निवास करें और यह शरीर अपने पाँव से खड़ा रह सके।"

—वेदज्ञ श्रीपाद सातवलेकर

माधवाचार्य जी ने वेद में मूर्ति-पूजा के समर्थन में एक मंत्र **ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय।** (अथर्व १६।२।६) का अनुवाद "हे प्रतिमे ! तू ऋषियों का पाषाण है, तुमने दिव्य पाषाण के लिए नमस्कार" किया है। किन्तु दूसरे अनुवादकों का विचार देखिए—

"तुम ऋषियों का प्रस्तर है। देव-रूप प्रस्तर को नमस्कार।"

—आचार्य श्रीराम शर्मा

अथर्ववेद के एक और मंत्र (११।२।५६)

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षुंषि ते भव।
त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः॥

का आप किस प्रकार अनुवाद करते हैं: "हे पशुपति शिव ! आपके मुँह को, तीन नेत्रों को, त्वचा को, अंगों को, उदर, दाँतों को और नासिका को नमस्कार है।" किन्तु अन्य अनुवादक आपसे सहमत नहीं हैं।

"हे भवदेव ! तुम्हारे मुख, चक्षु, त्वचा और नील-पीत वर्ण को नमस्कार है। तुम्हारे समान रूपवाली दृष्टि को नमस्कार है। हे देव ! मेरा नमस्कार ग्रहण करो।"**—आचार्य श्रीराम शर्मा**

"हे पशुपते ! हे भव ! तेरे मुख के लिए नमस्कार है, जो तेरी आँखें हैं। उनको नमस्कार है। तेरे त्वचा-रूप, दर्शन और पीठ के लिए नमस्कार है। तेरे अंगों, उदर, जिह्वा और मुख के लिए नमस्कार है। तेरे दाँतों के लिए और तेरी गंध के लिए नमस्कार है।"

(श्री सातवलेकर जी)

वेदों में ईश्वर के स्वरूप की कल्पना की गई है, जिसकी पराकाष्ठा पुरुष-सूक्त में है। इसी प्रकार इस मंत्र में रुद्र के रूप की कल्पना है। इससे मूर्ति-पूजा का समर्थन नहीं होता। 'तीन नेत्र' का कहीं भाव नहीं है।

श्री माधवाचार्य ने **तैत्तरीय अनु**, ५ में आए हुए मंत्र **मा असि प्रमा असि प्रतिमा असि** का अर्थ किया है— "तुम ईश्वर की प्रतिमा हो।" किन्तु किसी को ईश्वर की प्रतिमा का भाव नहीं आता। आपने 'तीन नेत्र' शब्द का व्यवहार किया है। किन्तु 'चक्षुंषि' का अर्थ तीन नेत्र कदापि नहीं हो सकता। पौराणिक ग्रन्थों में शिव को तीन नेत्रवाला कहा गया है। अतः आपने जबर्दस्ती 'चक्षुंषि' शब्द का अर्थ तीन नेत्र लगा लिया है। हाँ, एक मंत्र में **(ऋग्वेद ७।५९।१२, अथर्ववेद १४।१।१७; यजुर्वेद ३।६०** 'त्र्यम्बक' शब्द आया है, जिसको लेकर भी विद्वानों में मतभेद है। यथा—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

"हम सुगन्धि-प्रसारित पुण्यकीर्ति और पुष्टिवर्द्धक, जगत् बीज वा आनमादि शक्ति-वर्धन त्र्यम्बक (ब्रह्मा, विष्णु और महेश को पिता वा आदि कारण) की पूजा या यज्ञ करते हैं। रुद्रदेव उर्वारुक फल की तरह हमें मृत्यु-बन्धन (संसार) से मुक्त और अमृत (चिरजीवन या स्वर्ग) से मन-मुक्त करो।"

(श्री रामसुन्दर त्रिवेदी)

"दिव्य गन्ध-युक्त मर्त्यधर्म-हीन उभय लोकों का फल देनेवाले धन-धान्यादि की पुष्टि बढ़ानेवाले पूर्वोक्त तीन नेत्रोंवाले शिव को हम पूजते हैं। वह हमको संसार के मरण से छुड़ावे, बन्धन से कर्करी फल के जैसा अर्थात् जैसे पका हुआ फल अपनी घुजी से छूटकर भूमि पर गिर जाता है, वैसे ही शिव की कृपा से मैं जन्म-मरण-रहित हो जाऊँ।"

(ऋ० कु० श्रीरामस्वरूप शर्मा)

"हम सुरक्षित, पुष्टिवर्धक त्र्यम्बक का पूजन करते हैं। हे रुद्र! हमें मृत्यु के पाश से छुड़ाओ और अमृत से दूर मत रखो।"

—आचार्य श्रीराम शर्मा

"उत्तम यशस्वी पोषण-साधनों का संवर्धन करनेवाले, तीन प्रकार से संरक्षण करनेवाले देव की हम उपासना करते हैं। यह देव ककड़ी को मुक्त करते हैं, इस तरह मृत्यु के बन्धन से हमें मुक्त करें, परन्तु हमें अमरत्व से कभी न छुड़ावें, परन्तु हमें अमरत्व से संयुक्त करें।"

--श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

"हमलोग जो शुद्ध गंधयुक्त शरीर, आत्मा और समाज के बल को बढ़ानेवाला (त्र्यम्बकम्) जगदीश्वर है, उसकी निरंतर स्तुति करें। इसकी कृपा से जैसे खरबूजा फल पककर लता के सम्बन्ध से छूटकर अमृत के तुल्य होता है, वैसे हमलोग भी प्राण वा शरीर के वियोग से छूट जाएँ और मोक्ष-रूप सुख से श्रद्धा-रहित कभी न हों।"

—स्वामी दयानन्द सरस्वती

"(त्र्यम्बकम्) शक्तित्रय से युक्त परमेश्वर की हम उपासना करें, जिससे मैं मृत्यु के बन्धन से मुक्त होऊँ और अमृत अर्थात मोक्ष से दूर न होऊँ। परम पालक को प्राप्त करानेवाले इस ईश्वर की पूजा करें, जिससे हम इस देह-बन्धन से छूटें, उस परम मोक्ष से वंचित न रहें।"

आर्यसमाजी भाष्यकार **पं० जयदेवजी शर्मा**

टिप्पणी—यजुर्वेद(वा०स०) में इस मंत्र के साथ एक चरण और भी आया है :

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

अर्थ— वैसे ही इस रुद्र की कृपा से हम जन्म-मरण के पाश से मुक्त हों और स्वर्ग-रूपी सुख से विमुख न हों। मुझे दोनों लोकों का फल प्राप्त हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'त्र्यम्बक', शब्द का अर्थ किसी ने तीन नेत्रवाला शिव, किसी ने तीन प्रकार से संरक्षण करनेवाला, किसी ने शक्तित्रय से युक्त और श्री रामसुन्दर त्रिवेदी ने तीन देवताओं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश—के पिता या आदि कारण अर्थ लगाया है।

ईश्वर की प्रतिमा नहीं है, इसको स्पष्टतया यजुर्वेद (३२। ३) घोषित करता है। इस स्पष्ट मंत्र का अनुवाद भी विभिन्न दृष्टिकोण से हुआ है। मंत्र है—

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद् यशः ।

उस महानारायण पुरुष का प्रतिमान उपमान कोई नहीं है, जिसका नाम महादेव महान है। अथवा जिसका प्रसिद्ध बड़ा यश है।

—ऋ० कु० श्री रामस्वरूप शर्मा

उस पुरुष की कोई प्रतिमा नहीं है। उसका नाम ही अत्यन्त महान है। सबसे बड़ा उसका यश है। **—आचार्य श्रीराम शर्मा**

हे मनुष्यो ! जिसका (महत्) पूज्य बड़ा यशः नाम स्मरण है, उस परमेश्वर की प्रतिमा परिमल उसके तुल्य अवधि का साधन प्रतिकीर्ति मूर्ति या आकृति नहीं है। **—स्वामी दयानन्द सरस्वती**

श्री कृष्णमणि त्रिपाठी ने अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'पुराण तत्वमीमांसा' (पृष्ठ ४३८—५३) में मूर्ति-पूजा की चर्चा करते हुए वेदों के मंत्रों सेवैदिककाल में मूर्ति-पूजा को प्रमाणित करने का विफल प्रयास किया है। सर्वप्रथम अपने अथर्ववेद के निम्नांकित मंत्र (काण्ड १,सूक्त १३, मत्र १) का हवाला दिया है।

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते अस्त्वश्मने दूडाशे अस्यसि ॥

अर्थात—मैं विद्युत्-रूप ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ। मैं गर्जन-रूप ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ और मैं पाषाण-रूप ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ, जिस पाषण से चोट लगती है।

इस मंत्र का अनुवाद विभिन्न वेदज्ञ निम्नांकित प्रकार से करते हैं :

"दमकती हुई विद्युत को मेरा प्रणाम पहुँचे। विद्युत् की गड़गड़ाहटकारी ध्वनि तथा अशनि को मेरा प्रणाम पहुँचे। आपके व्यापन-स्थान मेघ को मेरा नमस्कार पहुँचे। आप दुखदायियों एवं आतताइयों पर वज्र प्रहार करके इन्हें दूर फेंकती हैं।" **—आचार्य श्रीराम शर्मा**

"हे देवि ! ईश्वरी ! तू बिजली आदि में अपना तेज प्रकट करती है। मेघों में गर्जना कराती है और अपनी शक्ति से ओले भी बरसाती है। इन सब बातों से तू हमारे सब दुःखों को दूर करती है। इसलिए, तुझे हम सब प्रणाम करते हैं।" **—वेदज्ञ श्री सातवलेकर**

यजुर्वेद (अध्याय ३२, मंत्र ३) में आया है —

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भऽइत्येषः मा माहिंसीदित्येषा यस्मान्न जातऽइत्येषः ॥

यद्यपि इस मंत्र से मूर्ति की झलक कहीं भी नहीं मिलती, जैसाकि सनातन-धर्मावलम्बी टीकाकार श्रीराम शर्मा अथवा ऋषिकुमार रामस्वरूप शर्मा की टीका से स्पष्ट है, तथापि हठात् त्रिपाठी जी को इस मंत्र में वेद में मूर्ति-पूजा का स्पष्टतया आभास मिलता है। आपका कथन है कि 'हिरण्यगर्भ' इस मंत्र में ईश्वर को सशरीरी बतलाता है। 'मामहिंसो' मंत्र में ईश्वर को संसार की मूर्तियों में व्यापक बतलाकर मूर्तिमान सिद्ध कर उससे रक्षा की प्रार्थना की गई है। 'यस्मान्जातः' मंत्र में ईश्वर को व्यापक एवं मूर्तिमान बतलाकर यह दिखलाया गया है कि ईश्वर से उत्कट ज्ञानी कोई नहीं है। किन्तु इस मंत्र का मनगढ़न्त अर्थ करते हुए स्वयं शायद त्रिपाठी जी का अगले चौथे मंत्र **एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः सऽ उ गर्भेऽअन्तः। सऽ एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः** की ओर ध्यान नहीं गया। इस मंत्र में स्पष्टतया कहा गया है कि वह प्रसिद्ध देव सब दिशाओं को व्याप्त कर स्थित है। हे मनुष्यो ! सबसे पहले वही पुरुष प्रकट हुए हैं। गर्भ में यही स्थित होते हैं। जन्म लेनेवाले भी वही हैं। सब पदार्थों में व्याप्त और सब ओर मुख-वाले भी वही हैं।

अतः यदि हठ न कर निष्पक्ष भाव से देखा जाए तो स्पष्टतया ज्ञात हो जाएगा कि इस तीसरे मंत्र में स्पष्टतया कहा गया है कि जो सब जगत में व्यापक है, उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा, परिमाण, सादृश्य वा मूर्ति नहीं है ; क्योंकि जो कुछ दृश्य और अदृश्य है वह सब जगह व्याप्त है।

अन्त में त्रिपाठी जी वेद के निम्नांकित मंत्र में मूर्तिपूजा करने का स्पष्ट आदेश पाते हैं :—

प्रचित प्रिय मेधासो अर्चत। अचिन्तु पुक्कर उत्पुटं न धृष्वर्चत।

आप इस मंत्र का अर्थ करते हैं :—हे अध्वर्यु आदि ! तुम स्तुति-विशेष से परमात्मा इन्द्र का पूजन करो। प्रिय मेधा के गोत्रवान् तुम पूजन करो और पुत्र भी विशेष रूप से इन्द्र का पूजन करें।

त्रिपाठी जी ने उल्लेख नहीं किया है कि उपर्युक्त मंत्र ऋग्वेद के किस मण्डल या सूक्त में है। "ऋग्वेद-मन्त्राणाम् वर्णानुक्रम सूची" में खोजने पर भी मुझे इस मंत्र का उल्लेख नहीं मिला। अतः इस मंत्र का अन्य सनातनी वेदज्ञों का किया हुआ अर्थ देने में मैं असमर्थ हूँ। किन्तु जो अर्थ त्रिपाठी जी ने किया है, उसमें आए 'पूजन' शब्द से अर्थ नहीं निकलता कि इन्द्र की मूर्ति का

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्‌यशः ।

उस महानारायण पुरुष का प्रतिमान उपमान कोई नहीं है, जिसका नाम महादेव महान है। अथवा जिसका प्रसिद्ध बड़ा यश है।

—ऋ० कु० श्री रामस्वरूप शर्मा

उस पुरुष की कोई प्रतिमा नहीं है। उसका नाम ही अत्यन्त महान है। सबसे बड़ा उसका यश है। **—आचार्य श्रीराम शर्मा**

हे मनुष्यो ! जिसका (महत्) पूज्य बड़ा यशः नाम स्मरण है, उस परमेश्वर की प्रतिमा परिमल उसके तुल्य अवधि का साधन प्रतिकीर्ति मूर्ति या आकृति नहीं है। **—स्वामी दयानन्द सरस्वती**

श्री कृष्णमणि त्रिपाठी ने अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'पुराण तत्वमीमांसा' (पृष्ठ ४३८—५३) में मूर्ति-पूजा की चर्चा करते हुए वेदों के मंत्रों सेवैदिककाल में मूर्ति-पूजा को प्रमाणित करने का विफल प्रयास किया है। सर्वप्रथम अपने अथर्ववेद के निम्नांकित मंत्र (काण्ड १,सूक्त १३, मंत्र १) का हवाला दिया है।

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते अस्त्वश्मने दूडाशे अस्यसि ॥

अर्थात—मैं विद्युत्-रूप ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ। मैं गर्जन-रूप ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ और मैं पाषाण-रूप ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ, जिस पाषण से चोट लगती है।

इस मंत्र का अनुवाद विभिन्न वेदज्ञ निम्नांकित प्रकार से करते हैं :

"दमकती हुई विद्‌युत को मेरा प्रणाम पहुंचे। विद्युत् की गड़गड़ाहटकारी ध्वनि तथा अशनि को मेरा प्रणाम पहुंचे। आपके व्यापन-स्थान मेघ को मेरा नमस्कार पहुंचे। आप दुखदायियों एवं आततताइयों पर वज्र प्रहार करके इन्हें दूर फेंकती हैं।" **—आचार्य श्रीराम शर्मा**

"हे देवि ! ईश्वरी ! तू बिजली आदि में अपना तेज प्रकट करती है। मेघों में गर्जना कराती है और अपनी शक्ति से ओले भी बरसाती है। इन सब बातों से तू हमारे सब दुःखों को दूर करती है। इसलिए, तुझे हम सब प्रणाम करते हैं।" **—वेदज्ञ श्री सातवलेकर**

यजुर्वेद (अध्याय ३२, मंत्र ३) में आया है —

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्‌यशः ।
हिरण्यगर्भऽइत्येषः मा मांहिसीदित्येषा यस्मान्न जातऽइत्येषः ॥

यद्यपि इस मंत्र से मूर्ति की झलक कहीं भी नहीं मिलती, जैसाकि सनातन-धर्मावलम्बी टीकाकार श्रीराम शर्मा अथवा ऋषिकुमार रामस्वरूप शर्मा की टीका से स्पष्ट है, तथापि हठात् त्रिपाठी जी को इस मंत्र में वेद में मूर्ति-पूजा का स्पष्टतया आभास मिलता है। आपका कथन है कि 'हिरण्यगर्भ' इस मंत्र में ईश्वर को सशरीरी बतलाता है। 'मामहिंसो' मंत्र में ईश्वर को संसार की मूर्तियों में व्यापक बतलाकर मूर्तिमान सिद्ध कर उससे रक्षा की प्रार्थना की गई है। 'यस्मान्जातः' मंत्र में ईश्वर को व्यापक एवं मूर्तिमान बतलाकर यह दिखलाया गया है कि ईश्वर से उत्कट ज्ञानी कोई नहीं है। किन्तु इस मंत्र का मनगढ़न्त अर्थ करते हुए स्वयं शायद त्रिपाठी जी का अगले चौथे मंत्र **एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः सऽ उ गर्भेऽअन्तः। सऽ एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः** की ओर ध्यान नहीं गया। इस मंत्र में स्पष्टतया कहा गया है कि वह प्रसिद्ध देव सब दिशाओं को व्याप्त कर स्थित है। हे मनुष्यो! सबसे पहले वही पुरुष प्रकट हुए हैं। गर्भ में यही स्थित होते हैं। जन्म लेनेवाले भी वही हैं। सब पदार्थों में व्याप्त और सब ओर मुख-वाले भी वही हैं।

अतः यदि हठ न कर निष्पक्ष भाव से देखा जाए तो स्पष्टतया ज्ञात हो जाएगा कि इस तीसरे मंत्र में स्पष्टतया कहा गया है कि जो सब जगत में व्यापक है, उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा, परिमाण, सादृश्य वा मूर्ति नहीं है; क्योंकि जो कुछ दृश्य और अदृश्य है वह सब जगह व्याप्त है।

अन्त में त्रिपाठी जी वेद के निम्नांकित मंत्र में मूर्तिपूजा करने का स्पष्ट आदेश पाते हैं :—

प्रचित प्रिय मेघासो अर्चत। अर्चिन्तु पुक्कर उत्पुटं न धृष्वर्चत।

आप इस मंत्र का अर्थ करते हैं :—हे अध्वर्यु आदि! तुम स्तुति-विशेष से परमात्मा इन्द्र का पूजन करो। प्रिय मेधा के गोत्रवान् तुम पूजन करो और पुत्र भी विशेष रूप से इन्द्र का पूजन करें।

त्रिपाठी जी ने उल्लेख नहीं किया है कि उपर्युक्त मंत्र ऋग्वेद के किस मण्डल या सूक्त में है। "ऋग्वेद-मन्त्राणाम् वर्णानुक्रम सूची" में खोजने पर भी मुझे इस मंत्र का उल्लेख नहीं मिला। अतः इस मंत्र का अन्य सनातनी वेदज्ञों का किया हुआ अर्थ देने में मैं असमर्थ हूँ। किन्तु जो अर्थ त्रिपाठी जी ने किया है, उसमें आए 'पूजन' शब्द से अर्थ नहीं निकलता कि इन्द्र की मूर्ति का

पूजन कहा है। वेदकालीन आर्य भगवान की प्रत्यक्ष विभूति अग्नि, इन्द्र, सूर्य, वायु आदि की उपासना करते थे। वह भी पूजा थी। निराकार ब्रह्म अथवा ब्रह्म स्वरूप ओ३म की उपासना भी पूजा की कोटि में आ जाती है।

पाठकों के भ्रम-निवारण के लिए यह उल्लेख करना आवश्यक मालूम पड़ता है कि मैं स्वयं मूर्तिपूजक हूँ। हम वस्तुतः पत्थर नहीं पूजते, लेकिन पत्थर में मंत्र द्वारा ईश्वर को सत्ता लाकर ईश्वर को पूजते हैं। भगवान ने गीता में स्पष्टतया कहा है कि निराकार की उपासना कठिन है। अतः जबतक प्राणी-मात्र में ब्रह्ममय भावना न हो जाय तबतक मन, वाणी और शरीर से मूर्ति में भगवान की भावना की उपासना करते ही रहना चाहिए। किन्तु जिस समय मनुष्य अभ्यास करते-करते तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर सारी सृष्टि में और जीव-मात्र में उसकी सत्ता का अनुभव करने लगे तो उस समय सिर्फ मूर्ति-पूजन ही नहीं छूट जाता, बल्कि उसके समस्त कर्त्तव्य समाप्त हो जाते हैं। अतः मूर्ति-पूजा में आस्था रहने के कारण और निराकार ईश्वर की अनुभूति का साधन समझकर ही मैंने अनेक बार चारों धाम, सप्तपुरि तथा सुदूर अमरनाथ की यात्रा और पूजा की। अभी कुछ वर्ष पूर्व (सन् १९६६ ई० में) मैंने चौथी बार श्री बदरीनाथ की यात्रा की और पूजन किया। मूर्ति-पूजा की प्रथा बहुत ही लाभ-प्रद है और अनेक साधक मूर्तिपूजा द्वारा ईश्वरानुभूति प्राप्त करने में समर्थ हैं। सच्चे हृदय से प्रेमपूर्वक मूर्ति-पूजन करने से प्रत्यक्ष फल अवश्य मिलता है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। किन्तु मूर्तिपूजा में आस्था रहने पर भी हमें भावना के आवेश में वास्तविकता को तिलाञ्जलि नहीं देनी चाहिए। मूर्ति-पूजा की प्रणाली भले हो वैदिक काल में प्रचलित न हो, किन्तु लाभप्रद और भगवत्प्राप्ति का सुगम मार्ग होने के कारण सर्वथा ग्राह्य है। अतः इसे इसी दृष्टिकोण से देखना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक काल में प्रतीक-पूजा (मूर्ति पूजा) आर्यों में नहीं थी। ज्ञान और कर्म—सम्पत्ति का प्रभु-अनुग्रह के साथ सामंजस्य ही वैदिक भक्ति का स्वरूप था। धारणा थी कि स्तुति, प्रार्थना और उपासना-रूपी भक्ति-मार्ग ही साधक को प्रभु के घर पहुँचा देता है—मुक्त कर देता है। वेद के शब्दों में इस घर पर पहुँचने के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है। वैदिक धर्म के दो मान्य अंग थे—ईश-स्तुति अथवा स्वाध्याय और यज्ञ। अतः वैदिक आर्य अग्नि में घी, यव आदि का हवन कर प्रभु को सर्वव्यापक समझते हुए उनकी किसी

विभूति की स्तुति एवं प्रार्थना करते थे। वह प्रभु निश्चित रूप से एक है। वह एक होकर भी अनेक नामों से पुकारा जाता है। **ऋग्वेद (१/१६४/४८)** में कहा गया है कि इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र, सुपर्ण, गरुत्मान आदि विविध नाम एक परमेश्वर के हैं। वेदों ने स्वयं इस तथ्य की घोषणा समय-समय पर प्रसंगवश करते हुए स्पष्ट कर दिया है :

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वान मा : ।।
(ऋग्वेद १।१६४।४६)

यजुर्वेद में भी विभिन्न नामों में एक ही प्रभु की एकता दर्शाते हुए स्पष्टतया कहा गया है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं: तद् ब्रह्म ताऽ आपः स प्रजापतिः ।।
(यजुर्वेद ३२/१)

अर्थ—अग्नि वही है, आदित्य वही है, वायु, चन्द्रमा और शुक्र वही हैं; जल, प्रजापति और सर्वत्र व्याप्त भी वही है।

इसी प्रकार अथर्ववेद (२/१/३) भी कहता है—**यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भूवनायन्ति सर्वा ।**

अर्थ—विभिन्न देवताओं का नामधारी वही एक ब्रह्म है। उसी उत्तम प्रकार से पूछने योग्य परमात्मा के प्रति सम्पूर्ण भुवन पहुँचते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद (३।३७।३)[1] की घोषणा के अनुसार ईश्वर का नाम एक वाणी में ही नहीं, किन्तु विविध वाणियों में विविध प्रकार का है।

कुछ विद्वानों के मत में भारत में मूर्ति-पूजा विदेशियों से सम्पर्क के बाद चल निकली। इतिहास से ज्ञात होता है कि उत्तर वैदिक काल में यूनान और मिस्र से भारत का सम्पर्क हुआ। इन दो देशों के निवासी बहुदेववाद में विश्वास रखते थे और देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ बनाकर उनकी पूजा करते थे। अतः सम्भव है कि उन्हीं लोगों के सम्पर्क के बाद मूर्ति-पूजा की प्रथा इस देश में फैली और सर्वप्रथम जैनधर्म के अनुयायियों ने अपने तीर्थंकरों की मूर्तियाँ

1. **नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे ।**
इन्द्राभिमातिषाषाह्ये ।।

मन्दिरों में प्रतिष्ठित कीं। भगवान बुद्ध के निर्वाण के सैकड़ों वर्ष बाद जब बौद्ध धर्मावलम्बियों के स्पष्टतया दो सम्प्रदाय—हनीयान और महायान—हो गए तब महायान, जो बुद्ध का ईश्वर के रूप में ध्यान और उनकी प्रार्थना करते थे, बुद्ध की मूर्ति को स्थान-स्थान पर मन्दिरों में स्थापित करने लगे और कुछ काल बाद हिन्दुओं ने इसका अनुकरण किया।

कुछ विद्वान शिव को मूलतः सेमेटिक देवता मानते हैं, जिनको आर्यों के भारत-आगमन के पूर्व द्रविड़ों ने आत्मसात कर लिया था। इसी प्रकार गणेश को कुछ विद्वान चीन की संस्कृति से प्रभावित समझते हैं। जो भी हो, यह ज्ञात होता है कि शिव और उनके परिवार के अन्य देवता—देवी, गणेश और स्कन्द—मूलतः अनार्य-देवता थे और कालांतर में आर्य और अनार्य के सम्मिश्रण के बाद सम्मिलित हिन्दू राष्ट्र में देवकोटि में आकर वैदिक रुद्र से आत्मसात होकर आर्यों के देवता के सदृश पूजित हुए। पुराणों के अनुशोलन से ज्ञात होता है कि राक्षसों (अनार्यों) के उपास्य देवता शिव थे और देवताओं के विष्णु थे। अनार्य-देवताओं से वर प्राप्त कर अत्याचारी राजाओं का नाश करने के लिए विष्णु को विभिन्न अवतार लेने पड़े। इस सम्बन्ध में दक्षिण-भारत में सुब्रह्मण्यम् की प्रतिष्ठा और पूजा उल्लेखनीय है और इस सिद्धान्त पर कुछ प्रकाश डालती है। स्वामी कार्तिक का दक्षिणी नाम सुब्रह्माणियम है। उत्तर-भारत में सुब्रह्माणियम (स्वामी कार्तिक) का एक ही मन्दिर देखने को मिलता है, किन्तु दक्षिण-भारत में सुब्रह्माणियम के मन्दिरों को हम विष्णु और शिव के मन्दिरों के समकक्ष पाते हैं। दक्षिण के लोगों में सुब्रह्माणियम की पूजा विशेष रूप से प्रचलित है।

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त (१०।९०) तथा यजुर्वेद के ३१वें अध्याय में ईश्वर के विश्व-रूप का जो वर्णन है, उसके आधार पर अनेक लोग वेद में भगवान की मूर्ति की कल्पना करते हैं। सूक्त बड़ा है, अतः यहाँ सिर्फ तीन मंत्र सानुवाद दिया जाता है :

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमि विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उता मृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पुरुषः ।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।।

अर्थ—विराट पुरुष (ईश्वर) सहस्र (अनन्त) शिरों, अनन्त चक्षुओं और अनन्त चरणों वाला है। वह भूमि (ब्रह्माण्ड) को चारों ओर से व्याप्त करके और दस अंगुलि-परिमाण अधिक होकर अर्थात् ब्रह्माण्ड से बाहर भी व्याप्त होकर अवस्थित है।

जो कुछ हुआ है और जो कुछ होनेवाला है, वह सब ईश्वर (पुरुष) ही है। वह देवत्व का स्वामी है; क्योंकि प्राणियों के निमित्त अपनी कारणावस्था को छोड़कर जगदवस्था को प्राप्त करता है। यह सारा ब्रह्माण्ड उसकी महिमा है। वह तो स्वयं अपनी महिमा से भी बड़ा है। इस पुरुष का एक पाद (अंश) ही यह ब्रह्माण्ड है। इसके अविनाशी तीन पाद तो दिक्लोक में हैं।

टिप्पणी : यजुर्वेद के पाठ में थोड़ा मतभेद है। वहाँ पहले मंत्र में 'सर्वतः स्पृत्वा' है।

इस मंत्र में परमात्मा को सहस्र शीर्ष, सहस्राक्ष और सहस्रपाद अर्थात् हजारों शिर, हजारों आँख और हजारों पैरवाला अलंकारु-रूप से वर्णित किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि सब प्राणियों के शिर, आँख, पग आदि उसी परमात्मा के अन्दर विराजमान हैं, इसी से उसे हजारों शिर, आँखों और पैरवाला कहा है।

अथर्ववेद के कुछ मंत्र ईश्वर के शरीर का इसी प्रकार अलंकृत भाषा में वर्णन करते हैं। यथा—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।

(अथर्व० १०।७।३२)

अर्थात् भूमि जिसका पैर है और अंतरिक्ष उदर है, द्युलोक को जिसने अपना शिर बनाया है, उस महान ब्रह्म को मेरा प्रणाम।

वेद तथा वैदिक साहित्य में परमात्मा के विशाल रूप का ऐसी ही अलंकार-युक्त भाषा में अनेक स्थानों पर वर्णन आया है, किन्तु इससे किसी भी प्रकार ईश्वर का साकारत्व सिद्ध नहीं होता। कतिपय विद्वानों ने वेदों में बहुदेवतावाद को माना है, किन्तु किसी भी भाष्यकार ने वेदों में मूर्ति-पूजा को प्रमाणित नहीं किया है।

उपनिषदों में ईशोपनिषद् सर्वमान्य, प्राचीन और वेदकालीन माना जाता है। उसमें ईश्वर के निराकारत्व का सर्वतः सिर्फ पोषण ही नहीं है, बल्कि साकारत्व का निषेध भी है।

मानव-जाति के इतिहास में सदा से देवतावाद का विशिष्ट स्थान रहता आया है। मूल में देवतावाद एक प्रकार से मनुष्य के आदर्शवाद का ही नामान्तर या रूपान्तर था। इसलिए प्रत्येक जाति के देवता या देवताओं के स्वरूप में उसके अपने आदर्शों की अनुरूपता स्पष्टतया प्रतिबिम्बत होती है। इसलिए क्रूर कर्मों में निरत जाति के देवताओं में क्रूरता प्रधान गुण और सौम्य जाति के देवताओं में दया, प्रेम जैसे सौम्य गुण देखे जाते हैं। वास्तव में किसी भी जाति के स्वरूप में और स्वभाव का बहुत कुछ चित्रण उसके देवताओं के स्वरूप और स्वभाव के अध्ययन से किया जा सकता है। अंग्रेजी में किसी लेखक ने कहा है—Man creates God according to his own image. अर्थात् मनुष्य ईश्वर की कल्पना अपनी विचारधारा के अनुसार करता है।

वैदिक देवताओं के विषय में सबसे पहली बात यही है कि उनमें बहुतों का प्राकृतिक आधार प्रायः स्पष्ट है। किन्तु उनके मूल में प्राकृतिक आधार होने पर भी, स्त्रोता की तन्मयता के आवेश के कारण उन-उन देवताओं में उनके पृथक व्यक्तित्व की पराकाष्ठा के द्योतक पुरुष-विधित्व का आरोप भी प्रायः मंत्रों में देखा जाता है। देवताओं के हाथ, पैर आदि अंगों के साथ उनके वाहन, यहाँ तक कि उनकी पत्नियों का भी वर्णन मंत्रों में देखा जाता है। वैदिक देवता पारस्परिक पूर्ण सामंजस्य से काम करते हैं। वे समस्त चराचर जगत की न केवल प्राकृतिक व्यवस्था (ऋत) अपितु नैतिक व्यवस्था (सत्य) के भी पोषक और संरक्षक हैं। उनकी सारी प्रवृत्तियाँ जगत के भद्र और कल्याण के लिए हैं। वे सतत कार्यशील हैं। इस लिए मनुष्यों का वास्तविक कल्याण देवताओं के साथ सर्वथा सायुज्य और तादात्म्य में है।[1] किन्तु, इन सब वर्णनों से मूर्त रूप से इनकी पूजा का संकेत भी हमें कहीं नहीं मिलता।

---

1. **उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्वर्वज्ज्योतिरभयम् स्वस्ति।**
ऋष्वात् इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम् शरणा बृहन्ता॥
(ऋग्वेद, २।४७।८)

अर्थ—इन्द्र, तुम ज्ञानी हो। हमें विस्तीर्ण लोक में सुखमय और भशून्य आलोकों में भी निर्विघ्न ले जाना। तुम प्राचीन हो। हम तुम्हारे मनोज्ञ और बृहत् बाहुओं के ऊपर रक्षा के लिए आश्रित हैं।

वेदों में जहाँ-तहाँ ईश्वर की विभूति के रूप में विभिन्न नामधारी देवताओं के स्वरूप का वर्णन आया है; किन्तु उपनिषद् में भगवती उमा का हमें दर्शन होता है, स्वरूप का कहीं वर्णन नहीं मिलता। उपनिषदों में दस उपनिषदें (१) ईश, (२) केन, (३) कठ, (४) प्रण, (५) मुण्डक, (६) माण्डुक्य, (७) ऐतरेय, (८) तैत्तिरीय, (९) छान्दोग्य और (१०) बृहदारण्यक सर्वमान्य हैं। ये दस उपनिषदें ब्रह्मसमाज के एकमात्र प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ हैं। आर्यसमाज को भी सिर्फ ये ही दस उपनिषदें मान्य हैं। श्री शंकराचार्य ने इनपर भाष्य लिखा है। इनका स्थान प्रस्थान-त्रयी—(१) ब्रह्मसूत्र, (२) उपनिषद् और (३) गीता—में है। किन्तु श्वेताश्वेतर उपनिषद् की बड़ी प्रतिष्ठा है। इसपर शांकर भाष्य भी मिलता है। उपर्युक्त ग्यारह उपनिषदें ब्रह्म-विद्या के ग्रन्थ हैं। इनका वैदिक साहित्य में बहुत ऊँचा और मान्य स्थान है। इन उपनिषदों में हम ईश्वर के निराकारत्व का सर्वत्र पोषण एवं साकारत्व का सर्वथा निषेध पाते हैं। इसकी पुष्टि के लिए कतिपय उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजानीमो, यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्यचचक्षिरे। (केन० १।३)

अर्थ—न वहाँ आँख पहुँचती है, न वाणी जाती है और न मन, इसलिए उसको नहीं जान सकते हैं, जिससे उसका उपदेश किया जा सके, वह ज्ञात वस्तुओं से पृथक है और अज्ञात से भी भिन्न है। ऐसा पूर्व आचार्यों से सुनते हैं, जो हमको उसका उपदेश करते हैं।

उपर्युक्त उपनिषद्-वाक्य में यह सुस्पष्ट शब्दों में बताया गया है कि परमात्मा आकार-रहित होने के कारण इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने की वस्तु नहीं है।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥
(कठ १।२।२२)

देवानां भद्रां सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्त्तताम्।
देवानां सख्यमुप संदिम वयं देवा न आयुः प्र निरंतु जीवसे॥
(ऋग्वेद, १।८९।२)

अर्थ—यजमान-प्रिय देवता लोग कल्याण-वाहक अनुग्रह हमारे सामने ले आवें और उनका दान भी हमारे सामने आए। हम उन देवों का अनुग्रह प्राप्त करें और वे हमारी आयु बढ़ाएँ।

अर्थ—वह परमात्मा लोगों के शरीर में रहते हुए भी स्वयं शरीर-रहित है। बदलनेवाली वस्तुओं में एकरस है। उस महान् विभु आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोक-मुक्त हो जाते हैं।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति।
(कठ २।३।८)

अर्थ—जीव और प्रकृति से भी सूक्ष्म परमात्मा है, जो कि व्यापक और चिह्न-रहित निराकार है। जिसको जानकर मनुष्य दुःखों से छूट जाता है और अमृतत्व को प्राप्त होता है।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गृहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥
(कठ १।२।२०)

अर्थ—ब्रह्म सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। बड़े से भी बड़ा है। वह इस प्राणी के हृदयाकाश में स्थित है। उस आत्मा की महिमा को बुद्धि के निर्मल होने से निष्काम एवं शोक-रहित प्राणी देखता है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
(कठ २।३।९)

अर्थ—इस ब्रह्म का कोई रूप सामने नहीं है और न आँखों से कोई देख सकता है। यह हृदय, मन तथा बुद्धि से ज्ञात होता है। जो लोग इसे जानते हैं, वह अमृत हो जाते हैं।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥
(मुण्डक १।१।६)

अर्थ—जो परमात्मा न देखा जाता है, न पकड़ा जाता है, जिसका कोई गोत्र नहीं, वर्ण नहीं, जिसके न नेत्र हैं, न श्रोत्र, न हाथ, न पाँव हैं, वह नित्य है, व्यापक है, सर्वगत है और बड़ा सूक्ष्म तथा अव्यय है। उसी जगत के निमित्त कारण ब्रह्म को धीर पुरुष सर्वत्र देखते हैं।

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यान्तरो ह्यजः ।
अप्रमाणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ।।
(मुण्डक २।२।२)

अर्थ—वह ब्रह्म निश्चय ही प्रकाशमान, मूर्ति-रहित, सर्वव्यापक, बाहर और भीतर सर्वत्र वर्तमान, जन्म-रहित, प्राण-रहित, मन से शून्य, पवित्र, सूक्ष्म अविनाशी प्रवृत्ति और जीव से सूक्ष्म है ।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।
(मुण्डक ३।१।८)

अर्थ—वह ब्रह्म आँख से ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसे न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से, न तप से और न कर्म से ग्रहण किया जा सकता है । अपितु ज्ञान की महिमा से शुद्ध अन्तःकरणवाला होकर ध्यान करता हुआ ही उस कला-रहित ब्रह्म को देख सकता है ।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ।।
(श्वेताश्वेतर १।१५)

अर्थ—जिस प्रकार तिलों में तैल, दही में घी, स्रोतों में जल और काष्ठ में अग्नि पेरने, विलोने, खोदने और रगड़ने से प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार जो पुरुष सत्य और तप के द्वारा इसे बार-बार देखने का प्रयत्न करता है, उसे यह आत्मा आत्मा में दिखाई देती है ।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।।
(श्वेताश्वेतर ३।१६)

अर्थ—वह बिना हाथ के सबका ग्रहण करनेवाला तथा बिना पाँव के वेगवाला है । बिना नेत्र के देखता और बिना कान के सुनता है । वह हर एक जानने योग्य वस्तु को जानता है, पर उसका अंत जाननेवाला कोई नहीं । ज्ञानी लोग उसको मुख्य महान् पुरुष कहते हैं ।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ।।
(श्वेताश्वेतर १।१४)

अर्थ—वह ईश्वर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। वह इस जगत और इसके प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है। उसी ने इस विश्व और इसके रूपवाले पदार्थ को रचा है। वह सारे संसार को घेरे हुए है। उसी कल्याण-स्वरूप प्रभु को जानकर मनुष्य अत्यन्त शांति को प्राप्त होता है।

उपर्युक्त समस्त उपनिषद्-वाक्य जहाँ परमात्मा को सुस्पष्ट रूप से निराकार वर्णन करते हैं, वहाँ यह भी बताते हैं कि उसे शुद्ध अन्त:करण से ध्यान द्वारा ही जीवात्मा में ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार वेद और उपनिषद् परमात्मा को सुस्पष्ट रूप से निराकार वर्णन करते हैं और यह घोषित करते हैं कि जीवात्मा शुद्ध अन्त:करण से ध्यान द्वारा उसको प्राप्त कर सकता है। साकार वस्तु के लिए स्थान की जरूरत होती है, परन्तु वेद और उपनिषदों के वर्णन से परमात्मा के किसी स्थान का कहीं उल्लेख नहीं है। अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक काल में साकार ईश्वर की भावना जाग्रत नहीं हुई थी, जो मूर्ति-पूजा के लिए आवश्यक है।

डॉक्टर राघवेन्द्र वाजपेयी का विचार है कि भारतीय मूर्तिकला में अपनी परिपक्वता तथा पूर्णता शुंगकाल तक पहुँच चुकी थी। लखनऊ संग्रहालय में मथुरा से प्राप्त बलराम की संगृहीत प्रतिमा ही ब्राह्मण धर्म की प्रथम प्राप्त प्रतिमा मानी जाती है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह "हिन्दूधर्म का प्रथम प्राप्त चिह्न है। भीटा से प्राप्त शिव का पंचमुखी लिंग भी लगभग इसी काल (ई० पू० दूसरी शती) का है।"

ई० पू० दूसरी सदी में पतंजलि ने मूर्तियों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। आपने वसुदेव, शिव, विष्णु तथा आदित्य का उल्लेख किया है। इन देवताओं की प्रारम्भ से ही प्रतिमाओं के माध्यम से पूजा हुई है, जबकि वेदकालीन प्रकृति के देवता—इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु, सूर्य आदि—की मूर्तियाँ नहीं बनाई जाती थीं।

अत: स्पष्ट है कि वेदकालीन हिन्दू मूर्ति-पूजक नहीं थे और प्रकृति के देवताओं की उपासना मंत्रों द्वारा किया करते थे।

●

द्वितीय परिच्छेद

अनार्य-देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात

वैदिक आर्य निश्चित रूप से प्रतीक-पूजक नहीं थे।[1] जब वे पूर्व की ओर बढ़े तब उनका अनार्यों के साथ सम्पर्क भी बढ़ा। अनेक युद्ध हुए, जिनका वर्णन हमें ऋग्वेद में और उसके बाद पुराणों में मिलता है। अन्त में आर्यों की विजय हुई। विजित पर तो विजेता को संस्कृति का रंग चढ़ा ही, परन्तु विजेता भी अछूते न बच सके। संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि पराजित अनार्य विजेता आर्यों के साथ घुल-मिल गए और उनका पृथक व्यक्तित्व लुप्त हो गया। परन्तु यह सम्मिश्रण दो समान रूप की सभ्य जातियों का सम्मिश्रण था; क्योंकि ऋग्वेद के मंत्रों तथा सिन्धु-घाटी की खुदाई से स्पष्ट है कि जिनकी पराजय हुई थी, उनकी सभ्यता आर्यों की सभ्यता से कुछ आगे ही बढ़ी हुई थी। अतः स्वभावतः इस सम्मिश्रण से दोनों जातियाँ एक-दूसरे से प्रभावित हुईं। कुछ विद्वानों का विचार है कि अथर्ववेद का संकलन आर्य अनार्य सम्मिश्रण के बाद हुआ और इसलिए पहले के कुछ ग्रन्थों में सिर्फ तीन वेदों का ही उल्लेख है।

अनार्यों का वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण का सबसे प्रमुख परिणाम यह हुआ कि वैदिक आर्यों के देवताओं ने अनार्य देवताओं को आत्मसात कर लिया। सिन्धु-घाटी में पाई गई एक मूर्ति पुरुष देवता के दोनों ओर व्याघ्र, घोड़ा और भैंसा दिखाए गए हैं और सिंहासन के नीचे दो हिरनों का चित्र भी है। इस प्रकार वह देवता पशुपति के रूप में प्रदर्शित किए गए हैं। ज्ञात होता है कि जब आर्यों और अनार्यों का सम्मिश्रण हुआ, तब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात हुआ और उसके उपासक रुद्र के उपासक माने जाने लगे। "अतः जब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात हुआ तब लिंगोपासना रुद्र की उपासना में समाविष्ट हो गई। पहले-पहल तो यह बात जरा विचित्र-सी

---

1. (a) *Max Muller* : Chips From a German Workshop, Vol. I, P. 38

(b) *Macdonell* : Vedic Mythology, pp. 17—19.

लगती है कि आर्यों ने जिस प्रथा को गर्हित समझा था (ऋग्वेद ७।२१।५; १०।६६।३) उसी को उन्होंने अपने देवता की उपासना का अंग बन जाने दिया। लिंगोपासना एक बड़ी प्राचीन प्रथा थी और दूर-दूर तक इसका प्रचार था। इसकी परम्परा इतनी प्रबल थी और जिन लोगों में इसका प्रचार था, उनकी संख्या इतनी अधिक थी कि आर्य संभवतः इसका पूर्ण रूप से दमन नहीं कर सके। इसके साथ स्वयं आर्यों की अपनी उर्वरता-सम्बन्धी विधियाँ थीं और रुद्र भी उर्वरता के देवता थे। अतः आर्यों के कुछ ऐसे वर्गों ने, विशेषतः उन वर्गों ने, जिनमें ऐसी उर्वरता सम्बन्धी विधियों का सर्वाधिक प्रचार था और जिनका सिन्धु-घाटी के लोगों से सबसे अधिक सम्पर्क हुआ, इस प्रथा को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं समझी। आखिर इस प्रथा का एक ऐसी जाति में सम्मान था, जो आर्यों से कम सभ्य नहीं थी, और फिर उर्वरता सम्बन्धी होने के नाते वह वैदिक आर्यों के जनसाधारण के धार्मिक आचार-विचार के सर्वथा प्रतिकूल नहीं थी। इस प्रकार लिंगोपासना का आर्यों में प्रचार हुआ।

"आर्यों ने इस प्रकार लिंगोपासना को स्वीकार तो कर लिया, परन्तु शीघ्र ही उन्होंने उसके मूल स्वरूप को बिलकुल पलट दिया। अपनी मूल धार्मिक विचारधारा की पृष्ठभूमि न रहने के कारण आर्य धर्म में प्रगतिशील विचारों के प्रभाव में आकर लिंगोपासना में कुछ-न-कुछ परिवर्त्तन तो आना ही था। यद्यपि पुरातनता के आदर से आर्यों ने उसके बाहरी आकार को तो बनाए रखा; तथापि धीरे-धीरे उसके सारे स्वरूप को बदल दिया। पुराने जननेन्द्रिय-सम्बन्धी विश्वास और आचार मिटते गए। लिंग-मूर्तियों का आकार भी यहाँ तक रूढ़िगत हो गया कि उनका मूल रूप पहचाना भी नहीं जा सकता था, और अन्त में भगवान शिव का लिंग एक प्रतीक-मात्र होकर रह गया—उनके निर्गुण स्वरूप का केवल एक संकेत।"[1]

भारतीय अनार्य भले ही शिश्न-पूजक रहे हों; किन्तु वैदिक साहित्य के पठन से स्पष्ट होता है कि भारतीय सभ्यता और संस्कार का आधार इन्द्रिय-संयम, ब्रह्मविद्या और ब्रह्मचर्य रहा है। शिश्न-पूजा सर्वथा इसके विपरीत और घृणास्पद है। प्राच्यविद्या के विद्वान ई० एम० हैवेल का कथन है कि असभ्यों की

---

1. डॉक्टर यदुवंशी : शैवमत पृ० ३२

शिश्न-पूजा को शिव-लिंग के साथ मिलाना अनुचित है। अतः जब उत्तर वैदिक काल में अनेक संघर्षों के बाद आर्य-अनार्य घुल-मिल गए और अनार्यों के देवता का आत्मसात वैदिक रुद्र से हो गया तब स्वभावतः दृष्टिकोण में आमूल परिवर्त्तन हो गया और लिंग शिश्न का रूप न रहकर ब्रह्म का प्रतीक बनकर विभिन्न अर्थों में व्यवहृत होने लगा।

अतः परवर्ती संस्कृत साहित्य और विशेषकर उपासना तथा साधना में 'लिंग' और 'योनि' शब्द का प्रयोग साधारणतः वस्तु के बोधक चिह्न और उत्पत्ति स्थान के अर्थ में हुआ ; जन्तुओं की प्रजननेन्द्रिय के अर्थ में इसका बहुत संकुचित और समीति प्रयोग हुआ। कोष-ग्रन्थ शब्दों के अर्थ और प्रयोग का निर्धारण करते हैं। 'लिंग' शब्द का अर्थ मेदिनीकोषकार इस प्रकार करते हैं—

लिङ्गचिह्नाऽनुमाने च सांख्योक्तप्रकृतावपि।
शिवमूर्त्तिविशेषे च मेहनेऽपि नपुंसकम् ॥

अर्थ—'लिंग'-शब्द का प्रयोग इन अर्थों में होता है—चिह्न, अनुमान, सांख्य की प्रकृति, शिव की एक प्रकार की मूर्ति और शिश्न के अर्थ में भी। यह नपुंसक लिंग का शब्द है। इस श्लोक में आए शब्द 'अपि' से लेखक का मंतव्य है कि शिश्न के अर्थ में भी कभी-कभी इसका प्रयोग होता है। किसी कारण से उत्तर भारत में आज इस 'कभी-कभी' या 'भी' ने साधारण प्रयोग का रूप ग्रहण कर लिया है और इसके चिह्नादि व्यापक अर्थ में बोलचाल की भाषा में गौण और प्रायः अप्रयुक्त हो गए हैं।[1]

अब प्रश्न उठता है कि वर्तमान काल में लिंग की पूजा शिश्न-पूजा है अथवा ब्रह्म के प्रतीक-रूप में पूजा है। इसपर अनेक विद्वानों ने अपना-अपना मत व्यक्त किया है। यूरोप के कतिपय देशों—आयरलैंड, इंगलैंड, ग्रीस—तथा मिस्र, जापान आदि सभी देशों में शिश्न-पूजा का प्रचार था। उसी के आधार पर मिस्टर केनेडी ने अपने ग्रन्थ 'Hindu Mythology' (हिन्दू मिथोलॉजी) के पृष्ठ ३८ पर लिखा है कि भारत में भी लिंग-पूजा के नाम पर शिश्न पूजा और वेदी के रूप में स्त्री-योनि की पूजा होती थी। श्रीगोपीनाथ राव केनेडी के मत से सहमत हैं। गुडीमलम में अति प्राचीन और यथार्थ-रूपी लिंग-मूर्ति मिली है। स्पष्टतया वह शिश्न की मूर्ति है। शिश्न की मूर्ति वहाँ कैसे और कहाँ से

1. **डॉक्टर जनार्दन मिश्र : भारतीय प्रतीक-विद्या**

आई और इसके लानेवाले कौन थे, यह कहना कठिन है। किन्तु यह ज्ञात होता है कि "जननेन्द्रियों की उपासना का प्राचीन सभ्य संसार में बहुत प्रचार था। आदिमानव के मस्तिष्क पर समस्त पार्थिव जीवन की आधारभूत प्रजनन-प्रक्रिया का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त आदिमानव के अप्रौढ़ विवेक ने मैथुन-कर्म और पशुओं तथा धान्य की उर्वरता के बीच एक कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया। इसी से लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका एक रूप जननेन्द्रियों की उपासना है।"[1]

जो भी हो, वर्तमान काल में भारत में जो लिंग-पूजा होती है, वह शिश्न के रूप में नहीं, किन्तु शिवजी के प्रतीक के रूप में। जैसा हम ऊपर कह आए हैं, भारत के मान्य और प्रतिष्ठित साहित्य में लिंग विभिन्न अर्थ में लिया गया है और कुछ पुराणों को छोड़कर, जिनपर हम आगे विवेचन करेंगे, कहीं भी शिश्न-देव के रूप में नहीं आया। निम्नांकित उद्धरणों से इसकी पुष्टि हो जाती है :

वेदान्त-सूत्र का भारतीय धर्म-ग्रन्थों में एक प्रमुख और मान्य स्थान है। इस ग्रन्थ में बोधक संकेत के अर्थ में 'लिंग' शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है, और उनमें कहीं चिह्न या प्रमाण के अर्थ में और कहीं लक्षण के अर्थ में आया है। यथा—

क्षत्रियत्वा वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्।

यहाँ लिङ्गात् क्षत्रियत्व-सूचक चिह्न या प्रमाण का बोधक है। कहीं-कहीं (१/१/२३; १/१/३१; १/४/१६; २/३/१३; ३/२/११; ३/२/२६; ३/३/४४; ३/४/३४; ३/४/३९; और ४/३/४) लक्षण के अर्थ में आया है। उदाहरणार्थ—**तदामध्यानोंदवतु तालिङ्गात्सः** (२।३।१३) अर्थात् उन तत्त्वों का भलीभाँति चिन्तन का कथन होने से तो वह परमात्मा ही उन सबकी रचना करता है; क्योंकि उक्त लक्षण उसी के अनुरूप हैं। उपर्युक्त स्थलों में एक स्थान पर भी सूत्र में आए हुए 'लिंग' शब्द का कहीं भी शिश्न के रूप में व्यवहार नहीं किया गया है।

इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के अनेक सूत्रों (४८, ७५, ७८, १०५, १८२, और ३४६) 'लिंग' में शब्द का प्रयोग निर्गुण ब्रह्म तथा चिह्न के रूप में हुआ है। उदाहरणार्थ—**वेदा लिङ्गाय** (१८२) अर्थात वेदों में चिह्न

1. **शैवमत, पृ० २६**

पाए जाने से। **सतालिङ्गाऽभावात् (१०५)** अर्थात् कोई लिंग (चिह्न) नहीं पाया जाता, जिससे शब्द को अविनाशी वा नित्य मान सकें।

उपनिषदों में भी चिह्न, प्रमाण या लक्षण के रूप में 'लिंग' शब्द का प्रयोग हुआ है।

अत्यक्तत्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एक्य।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छिति॥
(कठोपनिषद् २।५।८)

अर्थात् अव्यक्त प्रवृत्ति से पुरुष श्रेष्ठ है, जो सर्वव्यापक और अलिंग (चिह्न-रहित) है, जिसको जानकर प्राणी मुक्त होता है।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
न कारणम् करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥
(श्वेताश्वेतरोपनिषद् ६।९)

अर्थात् न उसका कोई पति है, न शासक, न लिंग (चिह्न), न कारण, न कारण के स्वामी का स्वामी, न अधिक ओर न उत्पन्न करनेवाला।

शिवोपनिषद् तथा सदानन्दोपनिषद् में[1]—जिनकी गणना मुक्तिकोपनिषद् में वर्णित १०८ उपनिषदों में नहीं है—भी लिंग का जो उल्लेख आया है, उससे शिश्नदेव का अर्थ नहीं निकलता है। यथा—

हृदयान्तःकरणं ज्ञेयं शिवास्यायतनं परम्।
हृत्परमं वेदिका तत्र लिङ्गभोङ्कारमिष्यते॥
(शिवोपनिषद् १।२४)

अर्थात् हृदय में अन्तःकरण (मन) ही शिव का सर्वश्रेष्ठ निवास-स्थान है। वहाँ हृदय-कमल वैदिक ॐ है ओर ॐकार लिंग है।

यद्दि लिङ्गं सकलं सकल निष्कलं-निष्कलं च स्थूलं सूक्ष्मं च तत्परम्, स्थूले स्थूले। सूक्ष्मे सूक्ष्मे कारणं तत्परं च।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं यचोत्तरायणम्।
ध्याननिर्मथनादेव पाशं दहति मानवः।
अन्तर्बहिश्चतुर्लिङ्ग विधत्ते यस्तु शाश्वतम्॥
(सदानन्दोपनिषद्)

---

1. आद्यार पुस्तकालय, मद्रास द्वारा प्रकाशित **"अप्रकाशिता उपनिषदाः"**, पृ० क्रमशः ३२९ तथा ३८८-८९

अर्थात् यह जो लिंग है, वह साकार, साकार-निराकार और निराकार है। स्थूल, सूक्ष्म और उससे परे है। स्थूल में स्थूल, सूक्ष्म में सूक्ष्म और इनसे परे अर्थात् इनका कारण है।

टिप्पणी—यहाँ लिंग ब्रह्म का बोधक है।

आत्मा को नीचे की अरणि (अग्नि-मन्थन का काष्ठ) और ॐकार को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान से मथने पर मनुष्य बन्धन को जला देता है। इसे 'लिंग' कहा जाता है।

लिङ्गपुराण ने भी शिश्न को देव के रूप में नहीं माना है। यथा—

लयं गच्छन्ति भूतानि संहरे निखिलं यतः ।
सृष्टिकाले पुनः सृष्टिस्तस्माल्लिङ्गमुदाहृतम् ॥ (६६।८)

अर्थात् प्रलयकाल में सारी सृष्टि जिसमें लीन हो जाती है और पुनः सृष्टि-काल में जिससे सृष्टि होती है, उसे लिंग कहते हैं।

आध्यात्म रामायण (अरण्य सर्ग ३/२५-२६; अयोध्या १/२०-२१; किकिष्न्धा ३/२३-२५;) में 'लिंग' शब्द आया है। किन्तु कहीं भी शिश्न का बोधक नहीं है। यथा—

त्वदाभासोदिताज्ञानमव्याकृतमितीर्यते ।
तस्मान्महांस्ततः सूत्रं लिङ्गं सर्वात्मकं ततः ॥
अहङ्कारश्च बुद्धिश्च पञ्चप्राणेन्द्रियाणि च ।
लिङ्गमित्युच्यते प्राज्ञैर्जन्ममृत्युसुखादिमत् ॥

अर्थात् (नारद राम से कहते हैं) तुम्हारे प्रकाश से प्रकाशित अज्ञान अव्याकृत कहलाता है। इससे सूत्र रूप सर्वात्मक लिंग, उससे अहंकार, बुद्धि, पञ्च प्राण और पाँच इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। बुद्धिमान लोग इन्हें लिंग कहते हैं। जन्म, मृत्यु, सुख इत्यादि इनके साथ लगे हुए हैं (**अयोध्या, सर्ग १, श्लोक २०-२१**)

बुद्धीन्द्रियादिसामीप्यादात्मनः संसृतिर्बलात् ।
आत्मा स्वलिङ्गं तु मनः परिगृह्यत तदुद्भवान् ॥
किष्किन्धा, सर्ग ३।२३-२४

अपनी सृष्टि, बुद्धि, इन्द्रिय इत्यादि की समीपता के कारण आत्मा अपने लिंग, मन का ग्रहण करके कामोपभोग करती हुई गुणों के वश में पड़ जाती है।

तंत्रालोक (आह्निक ४, कारिका १३१) में 'लिंग' शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—

लिङ्गशब्देन विद्याद्भिः सृष्टिसंहारकारणम् ।
लयादागमनाच्चाहुर्भवानां पदमव्ययम् ॥
एकस्य स्पन्दनस्यैषा त्रेधा भेदव्यवस्थितिः ।
अत्र लिङ्ग यदा तिष्ठेत् पूजाविश्रान्तितत्परः ॥

अर्थ— विद्वान कहते हैं कि 'लिंग' शब्द से सृष्टि और संहार के कारण का ज्ञान होता है। ल से लय और ग से आगमन अर्थात् विकास का बोध होने के कारण यह सृष्टि के अव्यय पद का बोधक है। पूजा में स्थिर होकर जब लिंग पर मन स्थिर होता है, तब (बोध होता है) कि एक ही स्पन्दन के तीनों भेद इसमें स्थिर हैं। अतः मनीषिगण कहते हैं—

लाभं गच्छन्ति भूतानि संहारे निखिलं यतः ।
सृष्टिकाले पुनः सृष्टिस्तस्माल्लिङ्गमुदाहृतम् ॥
(लिंगपुराण ६६।८)

प्रलयकाल में सारी सृष्टि जिसमें लीन हो जाती है और पुनः सृष्टिकाल में जिससे सृष्टि होती है, उसे लिंग कहते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि 'लिंग' शब्द का व्यवहार बोधक चिह्न के अर्थ में हुआ है और वह ब्रह्म-बोधक चिह्न माना गया है, न कि शिश्न। ब्रह्मोपासना के प्रधान साधन के रूप में पुराणादि में लिंग की नाना प्रकार से प्रशंसा की गई है और इसके द्वारा उपासना का विधान भी किया गया है। यथा—

आदिमध्यान्तरहितं भेषजं भवरोगिणाम् ।
(सौर पुराण ४२।४१)

लिंग का आदि, मध्य और अन्त नहीं है। यह संसार-रोग के रोगियों के लिए भेषज (दवा) है।

प्रणवेनैव मन्त्रेण पूजयेल्लिङ्गमूर्धनि ।
(सौर पुराण ४२।४२)

लिंग के मस्तक पर ॐकार से पूजा करें।

शिवोपनिषद् (२।३९) में लिंग के निर्माण और स्थापना की विधि दी गई है। उससे शिश्न की तनिक भी झलक नहीं मिलती। कहा है—

अधोभागे स्थितः स्कन्दः स्थिता देवी च मध्यतः ।
उर्ध्वं रुद्रः क्रमाद्वापि ब्रह्माविष्णुमहेश्वरः ॥
एत एव त्रयो लोका एत एव त्रयो गुणाः ।
एत एव त्रयो वेदा एत श्चन्याश्रितं त्रिधा ॥

(लिंग के) निम्न भाग में स्कन्द रहते हैं, बीच में देवी रहती है और ऊपर के भाग में रुद्र हैं। अतः यह क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं। ये ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों गुण हैं, ये ही तीनों वेद हैं तथा और जो कुछ तीन रूपों में वर्त्तमान हैं। ओंकार के अ, उ, म रूप में ब्रह्म का स्थूल रूप माना गया है और इसीलिए ओइम् की उपासना ब्रह्म की उपासना कही गई है। लिंग के तीनों भाग ब्रह्मा, विष्णु और महेश के प्रतीक होने के कारण समस्त रूप से ओंकार के प्रतीक हैं।

ग्रन्थों के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि 'लिंग' शब्द का व्यवहार विभिन्न रूप और अर्थ में आया है; यथा—इन्द्र लिंग, आग्नेय लिंग, याम्य-लिंग, ऐन्द्र-लिंग, वायु-लिंग, वरुण-लिंग, कुबेर लिंग, वैष्णव-लिंग, देह-लिंग, बोध-लिंग, देवी लिंग, पार्थिव लिंग आदि-आदि।

निराकार और ओंकार-स्वरूप ब्रह्म के कल्पित रूप को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए इस पर मुख बना दिया जाता है। कहीं इसपर एक, कहीं दो और कहीं तीन और कहीं पाँच मुख बना देते हैं। ब्रह्मैक्य के प्रतीक स्वरूप एक मुख बनाया जाता है। तीन मुख त्रिगुणात्मक स्वरूप के प्रतीक हैं। इसमें सामनेवाला एक मुख कुछ खुला हुआ रहता है। यह रजोगुण है और यह सत्त्व और तमोगुण को जगाए रहता है। इसकी बाईं ओरवाला मुख प्रशान्त मुद्रा में दिखाया जाता है। यह सत्त्वगुण का प्रतीक है। दाहिनी ओर-वाला कराल रूप में दिखाया जाता है। यह संहारक तमोगुण का चिह्न है। बिना शिवलिंग के यह मूर्ति त्रिमूर्ति कहलाती है। पाँच मुखवाले शिवलिंग चार मुख चारों ओर बने रहते हैं और पाँचवाँ मुख प्रायः नहीं बनाया जाता है। इसका वर्णन इस प्रकार दिया गया है—

मुखलिङ्गं त्रिवक्त्रं स्यादेकवक्त्रं चतुर्मुखम् ।
सन्मुखं चैकवक्त्रं स्यात् त्रिवक्त्रं पृष्ठके नहि ॥
पश्चिमास्यं स्थितं शुभ्रं कुकुभा मे तथोत्तरे ।
याम्यं कृष्णकरालं स्यात् प्राच्यां दीप्तग्निसन्निभम् ॥

पञ्चमं च तथेशानं योगिनामप्यगोचरम् ।[1]

किन्तु एक देवता द्वारा किसी अन्य देवता का आत्मसात कर लेने की रीति देवकथाओं में कोई असाधारण घटना नहीं है। सच तो यह है कि प्राचीन संसार में जब कभी एक जाति का किसी अन्य जाति पर राजनीतिक प्रभुत्व हो जाता था, और विशेषकर जब कोई दो जातियाँ मिलकर एक हो जाती थीं, तब देवताओं का इस प्रकार एक-दूसरे द्वारा आत्मसात अनिवार्य रूप से हो जाता था। अतः जब वैदिक आर्यों ने आर्येतर जातियों को अपने अन्दर मिलाना आरम्भ किया और फलस्वरूप स्वभावतः दोनों के जनसाधारण का ही आपस में सबसे अधिक सम्पर्क हुआ, तब आर्यों के जनसाधारण के देवता रुद्र ने भी इन आर्येतर जातियों के देवताओं को आत्मसात किया। यह बहुत सम्भव है कि आर्यों के सम्पर्क में आनेवाली सबसे पहली आर्येतर जातियाँ हिमालय की उपत्यकाओं में बसनेवाली जातियाँ थीं; क्योंकि वे ही उत्तरी पंजाब और काश्मीर के पहाड़ों में वैदिक आर्यों के निवास स्थान के समीप थीं। इन्हीं जातियों में पूजे जाने-वाले किसी देवता का वैदिक रुद्र के साथ सर्वप्रथम आत्मसात हुआ। ज्ञात होता है कि इसी कारण रुद्र का वह रूप बना, जो त्र्यम्बक-होम में दिखाई देता है। त्र्यम्बक-होम यजुर्वेद के सामान्य यज्ञ-विधान से पृथक एक विशेष विधि है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के सूक्तों के निर्माण-काल के पश्चात् और यजुर्वेद के सूक्तों के संकलन से पूर्व किसी समय आर्य-देवता रुद्र के साथ एक आर्येतर देवता का आत्मसात हो गया था। सम्भवतः हिमालय की उप-त्यकाओं में बसनेवाली कुछ जातियाँ इस देवता को पूजती थीं। महाभारत के किरातार्जुनीय प्रसंग से हमें आभास मिलता है कि भगवान शिव का किरातों के साथ सम्बन्ध था। उत्तर-वैदिक काल में शिव का निवास-स्थान हिमालय के उत्तर कैलास पर्वत पर होना तथा यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में वर्णित रुद्र स्त्रोत्र से भी इस विचार की पुष्टि होती है। यह निर्विवाद है कि वेदों में सबसे पुराना ऋग्वेद है और उसमें भी २ से ९ मण्डल सबसे प्राचीन माने जाते हैं। बाद में पहले और दसवें मण्डल का संकलन हुआ। कालान्तर में जब

---

५. भारतीय प्रतीक विद्या, पृ० ११५

Elements of Hindu Iconography, Madras 1916, Vol. I, Part II, P. 27.

यहाँ आर्य-जीवन का प्रमुख अंग हो गया तब उस सम्बन्ध के विस्तृत वर्णन की आवश्यकता हुई, और ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के साथ अन्य मन्त्रों को जोड़कर यजुर्वेद का संकलन हुआ। यजुर्वेद का संकलन दो रूपों में—(१) शुक्ल और (२) कृष्ण—प्रचलित हुआ। शुक्ल यजुर्वेद में सिर्फ मन्त्र हैं, किन्तु कृष्ण यजुर्वेद में ब्राह्मण भाग भी सम्मिलित हो गया है।

वेदों के बाद ब्राह्मणों ग्रन्थ का स्थान आता है। जिस ग्रन्थ में वेदों के मंत्रों का अर्थ-निर्णय किया गया है, जिसमें याज्ञिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिए गए हैं, उसका नाम ब्राह्मण-ग्रन्थ है। उसमें नाना विषयों के आख्यान-उपाख्यान कहे गए हैं। तपोधन और त्यागमूर्ति ब्राह्मणों ने इसका संकलन, संस्मरण और सृजन किया, इसलिए इसका नाम 'ब्राह्मण' पड़ा।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ करने की विधि विस्तार से दी गई है। इसी विधि-विधान को व्यक्त करने के लिए शुक्ल यजुर्वेद के स्वतन्त्र ब्राह्मण-ग्रन्थ शतपथ-ब्राह्मण की रचना हुई, जो सौ अध्यायों में विभक्त है और उसका स्थान ब्राह्मण-ग्रन्थों में सर्वप्रथम है। उसको तात्कालिक विश्वकोष कहना अनुचित न होगा। ब्राह्मण-ग्रन्थों में का रुद्र विशेष आवास उत्तर और उत्तर-पूर्व दिशा में कहा गया है। (**ऐतरेय ५।२।६; कौशीतकी २।२; तैत्तिरीय १।६।१०; शतपथ ५।४।२।१०**) और एक स्थान पर (**ऐतरेय ५।२२।७**) उत्तर दिशा से आने-वाले एक विचित्र पुरुष कहकर रुद्र का वर्णन आया है। इन सब आधारों पर डॉ० यदुवंशी[1] का विचार है कि "रुद्र के स्वरूप और उनकी उपासना में आर्येतर अंशों के मिल जाने के कारण उनमें और अन्य देवताओं के बीच जो अन्तर आता जा रहा था, उसके भी अनेक संकेत ब्राह्मण-ग्रंथों में मिलते हैं। ...... त्र्यम्बक-होम में रुद्र का विशेष वाहन मूषक बतलाया गया है। संकेत एक ही ओर है कि ब्राह्मण-ग्रंथों के समय तक रुद्र को अन्य देवताओं से पृथक समझा जाने लगा था। वैदिक काल के सामान्य देवगण से रुद्र के इस पृथक्करण का रुद्र की उपासना के इतिहास और विकास में बहुत महत्त्व है। ब्राह्मण-काल में जब वैदिक कर्मकांड अपनी प्रौढ़ावस्था को पहुँचा और उसका रूप अत्यधिक विकट हो गया, तब वैदिक देवताओं में से अधिकांश का व्यक्तित्व फीका पड़ गया, और वे सर्वशक्तिमान् आह्वान-मंत्र से सज्जित स्त्रोता के संकेत-मात्र पर चलने

1. **शैवमत पृ० १८-१९**

वाले होकर रह गए। रुद्र को छोड़कर इसका एक ही अपवाद है और वह है—विष्णु। परन्तु विष्णु की उपासना की कथा अलग है, और उससे प्रस्तुत विवेचन का कोई संबंध नहीं है। रुद्र पुरोहितों के इस कर्मकाण्ड की जकड़ में नहीं थे, और जैसे-जैसे इनके उपासकों की संख्या बढ़ती गई, इनकी उपासना में कुछ ऐसी बातें भी आ गईं, जो किंचित् आपत्तिजनक थीं; परन्तु वे संभवतः उन्हीं लोगों तक सीमित रहीं, जिनमें वे प्रारम्भ में ही प्रचलित थीं। किन्तु दूसरी ओर, इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि वैदिक आर्यों में से कुछ ऐसे प्रगतिशील विचारक थे, जो कृत्रिम कर्मकाण्ड को आध्यात्मिक उन्नति के लिए व्यर्थ समझते थे। वे रुद्र की उपासना की ओर आकृष्ट होने लगे थे और संभवतः इस मनोभाव का परिणाम श्वेताश्वेतरोपनिषद् की रचना और उसका व्यापक प्रचार था।

शुक्ल-यजुर्वेद के १६वें अध्याय में जो शतरुद्रिय सूक्त आया है, उसके ६६ मंत्रों में रुद्र के विभिन्न नाम आए हैं, जिनमें नोलग्रीव, गिरित्र, गिरीश, गिरिचर, गिरिशम, पशुपति, शंभु और शंकर प्रमुख हैं। ५१वें मंत्र में तो मृगचर्म पहने तथा त्रिशूल धारण किए शिव का वर्णन भी है। यथा—

मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव। परमे वृक्षऽआयुधं
निधाय कृत्ति वसानऽआचरपिनाकं बिभ्रदागहि।

अर्थ—हे शिव! तुम अत्यन्त कल्याण के करनेवाले हो। तुम हमारे निमित्त शान्त और श्रेष्ठ मनवाले होओ। हमसे दूर स्थित ऊँचे वृक्ष पर तुम अपने त्रिशूल को रखकर, मृगचर्म को धारण करते हुए आओ। तुम अपने धनुष को धारण किए चले आओ। (आचार्य श्रीराम शर्मा)

हे अत्यन्त पराक्रम-युक्त, अतिकल्याणकारी, सेना के पति, आप हमारे लिए प्रसन्न चित्त से सुखकारी हों। खड्ग, भूशुण्डी और शतघ्नी आदि शस्त्रों का ग्रहण कर मृगचर्मादि की अँगरखी को शरीर में पहिने आत्मा के रक्षक धनुषवा बख्तर आदि धारण किए हुए हमलोगों की रक्षा के लिए आइए। (स्वामी दयानन्द सरस्वती)

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि इस रुद्र-स्तुति का संकलन रुद्र के अनार्य-देवता से आत्मसात होने के बाद हुआ; क्योंकि अनेक नाम तथा मृगचर्म

रुद्र को पर्वतों और जंगलों से सम्बन्धित करते हैं। इनके अतिरिक्त 'क्षेत्रपति' और 'वणिक' शब्द भी आए हैं। ऋग्वेद में रुद्र मध्यम श्रेणी के देवता दीख पड़ते हैं, किन्तु यजुर्वेद में आकर महान् देवता हो जाते हैं और उपर्युक्त उपाधियों से रुद्र का लोकप्रिय स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद का वर्णन भयंकर देवता के रूप में आया है। देवता तक उनसे डरते हैं। रुद्र-स्तुति से स्पष्ट ज्ञात होता है कि रुद्र के प्राचीन स्वरूप की स्मृति उस समय तक शेष थी और इसी कारण इस सूक्त में रुद्र के भयावह बाणों का डर स्तोत्र-कर्त्ता के मन में अधिक है और वह अनेक प्रशंसासूचक उपाधियों से रुद्र को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है।

ऋग्वेद (७।५९।१२) तथा यजुर्वेद में एक और महत्त्वपूर्ण नाम 'त्र्यम्बक' आया है। पुराणों में शिव को तीन नेत्रवाला कहा गया है और वेदों में आए हुए त्र्यम्बक शब्द को पौराणिक शिव का ही स्पष्ट उल्लेख मानते हैं। शिवपरक टीकाओं में इसका अर्थ तीन नेत्रवाला भी माना गया है।[1] यह मंत्र आज महामृत्युञ्जय मंत्र के रूप में आदर पाकर साधकों के जप का एक प्रमुख मंत्र बन गया है। वैदिक साहित्य और परवर्ती साहित्य में 'अम्ब' का अर्थ है पिता। अतः यदि इसकी व्युत्पत्ति पर ध्यान दें तो त्र्यम्बक का अर्थ होना चाहिए, जिसके तीन पिता हैं। वैदिक देवताओं में केवल एक ही देवता ऐसा है, जिस पर यह वर्णन लागू हो सकता है और वह है अग्नि, जिसके तीन जन्मों का—पृथ्वी, आकाश और द्यु—वैदिक साहित्य में बहुधा उल्लेख मिलता है। चूँकि रुद्र और अग्नि का तादात्म्य है, इसलिए सहज में ही स्पष्ट हो जाता है कि यह उपाधि वास्तव में अग्नि से चलकर रुद्र के पास आई। कालान्तर में 'अम्ब' शब्द का मूल अर्थ लोग भूल गए और अम्ब के दूसरे अर्थ नेत्र को लेकर इसकी धारणा पौराणिक शिव के एक महत्त्वपूर्ण ओर प्रमुख स्वरूप की उत्पत्ति हुई और शिव के तृतीय नेत्र की सारी कथा रची गई।[2]

अतः रुद्र कभी भी विशुद्ध रूप से कर्मकाण्ड के देवता नहीं थे, पर ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय तक एक प्रमुख देवता बन गए थे, जिसका अपना वास्तविक

1. इस 'त्र्यम्बक' शब्द का विभिन्न विचारधारा से किया हुआ अर्थ प्रथम परिच्छेद में महामृत्युञ्जय मंत्र की व्याख्या में प्रस्तुत है।
2. शैवमत

व्यक्तित्व था। वे वैदिक ऋत के मूर्तिमान स्वरूप बन गए, जबकि अन्य देवता सर्वशक्तिमान यज्ञ-विधि के समक्ष क्षीण होते जा रहे थे। इस प्रकार रुद्र का पद निश्चित रूप से इन अन्य देवताओं में ऊँचा हो गया और वे वास्तव में महा· देव बन गए। इसी कारण जब अथर्ववेद का संकलन हुआ तब उसमें ऋग्वेद की अपेक्षा उनका स्थान बहुत अधिक प्रमुख हो गया। अनेक शताब्दी बाद पौराणिक काल में शिव के स्वरूप और उपासना के बहुत-से प्रमुख अंश वैदिक रुद्र के स्वरूप और उपासना से ही लिए गए। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैदिक रुद्र का आवास उत्तर और उत्तर-पश्चिम कहे जाने के फलस्वरूप पौराणिक काल में शिव का निश्चित वासस्थान कैलास बन गया और उसी के चारों ओर अनेक कथाओं की रचना हुई।

वैदिक आर्य बड़ी यज्ञ-वेदियों और कुछ अस्थायी मण्डपों से अधिक नहीं बनाते थे। इन दोनों में से किसी को भी स्थायी बनाने का कोई उद्देश्य नहीं होता था। यज्ञ-समाप्ति के बाद उनकी भी समाप्ति हो जाती है—जैसाकि आज-कल यज्ञोपवीत या विवाह के समय बनते हैं। किन्तु जब वैदिक देवता रुद्र का एक ओर हिमालय के आदिवासियों के देवताओं से तथा दूसरी ओर सिन्धु-प्रदेश के अनार्य शिश्नोपासकों के देवता से आत्मसात हो गया, तब संभवतः आरम्भ में लिंग-पूजा सीमित रूप में सिर्फ निम्नकोटि के आर्यों में प्रचलित होती है। ज्ञात होता है कि इन दो विभिन्न अंचलों के लोगों के सम्पर्क के बाद स्थायी उपासना-भवनों के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। जैसाकि प्रथम परिच्छेद में लिखा गया है, जहाँ तक मूर्तियों का प्रश्न है, हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि मूल आर्यों ने कभी देव-मूर्तियाँ बनाईं, यद्यपि देव-ताओं की कल्पना वे पुरुष-विध से करते थे। समस्त वैदिक धर्म में मन्दिर में मूर्ति-पूजा की विधि का कहीं उल्लेख नहीं है और न प्राचीन उपनिषदों की धार्मिक विचारधारा को उपासना की स्थायी भावना की अपेक्षा थी। सच तो यह है कि भारतवर्ष में सदा से ही धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति का सर्वोच्च रूप उसी को माना गया है, जिसमें मन्दिरों और मूर्तियों जैसे बाह्य साधनों की आवश्यकता ही न पड़ी। अतः जब हम देखते हैं कि अपर-वैदिक धम में मन्दिरों और मूर्तियों—दोनों का बड़ा महत्त्व है तब हमें यह मानना पड़ता है कि यह महान् परिवर्त्तन न केवल वैदिक धार्मिक विचारधारा और उपासना-विधि का स्वाभाविक विकास-मात्र है, अपितु किसी प्रबल बाह्य प्रभाव का परिणाम है,।

यद्यपि अनार्यों से सम्पर्क के बाद आर्य-अनार्य के सम्मिश्रण की प्रक्रिया का आरंभ तो हो गया तथापि दीर्घकाल तक उनका अलग अस्तित्व बना रहा। ब्राह्मण-ग्रन्थों में हमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जो दोनों जातियों के सम्मिश्रण के द्योतक हैं। किन्तु इन ग्रन्थों में रुद्र देवता का सिन्धु-घाटी के देवताओं और प्रमुखतः शिश्न-देव के साथ आत्मसात किए जाने का कोई संकेत नहीं मिलता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय तक सम्मिश्रण पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं हुआ था। इससे यह धारणा प्रबल हो जाती है कि लिंग-पूजक सिन्धु-घाटीवालों के सम्पर्क में आने पर भी अनेक शताब्दियों तक आर्यों ने यद्यपि हिमालय प्रदेश के अनार्यों के देवता से आत्मसात कर लिया, तथापि शिश्नदेव की पूजा, जिसका बड़े अपमान के साथ ऋग्वेद में (७।२१।५; १०।९९।३) उल्लेख किया गया है, आत्मसात नहीं कर सके थे, जिसके परिणाम-स्वरूप ब्राह्मण-काल तक आर्यों ने शिश्नदेव की पूजा को अपना लिया और तब इसके स्वरूप को ही बदल दिया जैसाकि हम पहले कह चुके हैं। इसी के परिणाम-स्वरूप जब मूर्ति-पूजा की प्रथा आर्यों में चल पड़ी तब शिव की पूजा साथ-ही-साथ अपनी-अपनी मनोभावना के अनुसार, मूर्ति के रूप में अथवा लिंग के रूप में प्रचलित हुई, यद्यपि आज मूर्ति के रूप में शिव की पूजा लुप्तप्राय हो गई है। द्वादश ज्योतिर्लिंगों की महिमा इस बात की पुष्टि करती है।

सिन्धु-घाटी के पुरुष-देवता और वैदिक रुद्र के समीकरण का एक बहुत बड़ा परिणाम यह हुआ कि आर्य-धर्म में देवी की उपासना का आरम्भ हुआ। वैदिक रुद्र का 'अम्बिका' नामक एक स्त्री-देवता के साथ सम्बन्ध था। अतः जब रुद्र ने सिन्धु-घाटी के पुरुष-देवता को आत्मसात किया तब यह स्वाभाविक था कि सिन्धु-घाटी की देवी का अम्बिका के साथ समीकरण हो जाए। वैदिक साहित्य में अम्बिका रुद्र की बहन है, स्त्री नहीं। यह बात हमारे अनुमान में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करती; क्योंकि देवताओं के ऐसे सम्बन्ध शीघ्र ही बदल जाते हैं। इस प्रकार सिन्धु-घाटी की देवी रुद्र की पत्नी मानी जाने लगी। इन दो देवताओं के समीकरण में सबसे बड़ी सुविधा यह हुई कि 'अम्बिका' शब्द का अर्थ है माता और सिन्धु-घाटी की देवी भी माता मानी जाती थी तथा दोनों का सम्बन्ध उर्वरता से था। कालान्तर में रुद्र की पत्नी के रूप में इस देवी का पद वैदिक देवताओं की पत्नियों से सर्वथा भिन्न हो गया। अन्य देवताओं की पत्नियों का अपना व्यक्तित्व बहुत कम विशिष्ट था, उनकी ख्याति अपने

पतिदेव के कारण ही थी, किन्तु रुद्र की पत्नी को एक स्वतंत्र देवता के रूप में बहुत ऊँचा स्थान मिला।

स्वतंत्र रूप से उनकी उपासना से भारतवर्ष में शक्ति अथवा तांत्रिक मत का सूत्रपात हुआ। इस सम्बन्ध में हम आगे विस्तृत रूप से प्रकाश डालेंगे।

सिन्धु-घाटी के लोगों का आर्य-जाति से सम्मिश्रण का दूसरा महान् परिणाम हुआ कि भारत में मन्दिरों और मूर्तियों की स्थापना आरम्भ हुई। सिन्धु-घाटी के लोगों और आर्यों के सम्मिश्रण होने पर तथा इन दोनों के देवताओं का परस्पर आत्मसात होने पर सिन्धु-घाटी की देवी और उसके सहचर देवताओं के मन्दिर, रुद्र की सहचरी देवी और स्वयं रुद्र के मन्दिर माने जाने लगे। इस प्रकार देवालय और उसमें स्थापित मूर्ति की पूजा का श्रीगणेश हुआ।

सिन्धु-घाटी के लोगों और आर्यों के एक हो जाने के उपरान्त, रुद्र की उपासना ने जो स्वरूप धारण किया, उससे लिंगोपासना दृढ़ हो गई। सबसे बढ़कर तो यह बात हुई कि रुद्र के उपासकों की संख्या अत्यधिक बढ़ गई और आज सारे भारत में कन्याकुमारी से लेकर सुदूर अमरनाथ तथा केदारनाथ तक एक रूप से शिव की उपासना प्रचलित है और इसकी तुलना में मूल आर्य-देवता विष्णु तथा उनके प्रमुख अवतार श्री राम और श्रीकृष्ण की उपासना भारत के विभिन्न अंचलों में ही मुख्य रूप से प्रचलित है।

इस सम्मिश्रण का एक और प्रभाव यह पड़ा कि निम्नकोटि के लोगों ने कुछ नए देवी-देवताओं को अपनाया। ऐसे देवी-देवता असभ्य जंगली अनार्यों के द्वारा सर्वत्र पूज्य थे। इनकी आकृति पशु-पक्षियों की-सी होती थी या प्रेत-पिशाच-जैसे मुँह और दाँत होते थे। ऐसे देवी-देवता प्रायः क्रूरकर्मा होते थे। आज भी बहुत-से गाँवों में ऐसे ग्रामदेवों की मिट्टी या लकड़ी की मूर्तियाँ मिलती हैं, और भाँति-भाँति की पूजा द्वारा उन्हें शांत किया जाता है। अपने अनार्य पड़ोसियों के सम्पर्क से आर्यों में नाग, गदहे पर सवार होनेवाली शीतला देवी और कुत्ते पर चढ़नेवाले भैरव के साथ मूषक-वाहन पर आरूढ़ हस्ति-मुख गणेश की भी पूजा प्रचलित हो गई।

तीसरा परिच्छेद

उपनिषद्-काल

एक जाति का दूसरी जाति के सम्पर्क में आने पर परिस्थितियों के अनुसार कभी कम और कभी अधिक समय तक, सम्मिश्रण की प्रक्रिया के जारी रहने पर भी, दोनों जातियों को अपने-अपने अलग अस्तित्व का बोध रहता है। यह सम्मिश्रण एक ऐसी प्रक्रिया है, जो धीरे-धीरे होती है और दीर्घ काल तक होती रहती है। अतः इसके लिए कोई एक तिथि नियत करना संभव नहीं है। सिन्धु-घाटी के लोगों तथा हिमालय-प्रदेश के आदिनिवासियों के सम्मिश्रण की प्रक्रिया का प्रारम्भ तो उसी समय हो गया होगा जब उनका आर्यों के साथ सम्पर्क हुआ; किन्तु ज्ञात होता है कि दीर्घ काल तक उनका अलग अस्तित्व बना रहा। आर्य विजेता थे। अतः स्वभावतः उनमें बड़प्पन का अभिमान था। सती-दाह की कथा से हमें इस सम्बन्ध का एक प्रबल संकेत मिलता है। ज्ञात होता है कि जब अनेक शताब्दियों के संघर्ष के पश्चात् आर्य और अनार्य विवाह-सूत्र में बँधने लगे तब उसी सिलसिले में आर्य-नरेश दक्ष प्रजापति की पुत्री सती का विवाह गन्धर्व देश (तिब्बत)-निवासी शंकर से हुआ, जो कालान्तर में वैदिक देवता रुद्र में विलीन हो गए। विवाह-सम्बन्ध हो जाने पर भी आर्य-सभ्यता और संस्कृति की महानता को दक्ष भूल नहीं सके थे; पूर्व संस्कार-पूर्ण रूप से मौजूद था। अनार्यों को बराबर का अधिकार और सम्मान देने के लिए वे प्रस्तुत नहीं थे। अतः यज्ञ में शंकर को न तो मर्यादापूर्ण स्थान दिया और न निकटतम सम्बन्धी होने पर भी उन्हें निमंत्रण ही दिया। किन्तु बिना निमंत्रण पाए, इस धारणा के अनुसार कि 'मित्र, प्रभु, पितु, गुरु गेहा। जाइए बिनु बोले संदेहा॥'—सती बिना बुलाए पति-गृह चली गई। यद्यपि वहाँ उनका स्वागत नहीं हुआ, तथापि अपने अप-मान का उन्हें क्षोभ भी नहीं हुआ। किन्तु, जब सती ने अपने पूज्य पति की वहाँ अवमानना देखी तब पति के अपमान के प्रतिकार में तथा आर्य-संस्कृति के अभि-मान के फलस्वरूप दोनों जातियों के बीच के मनोमालिन्य को दूर करने के उद्देश्य से इस अन्यायपूर्ण कार्य का विरोध करने के उपरान्त यज्ञ-कुण्ड में कूद कर आत्म-बलिदान किया। इसके फलस्वरूप आर्यों और अनार्यों का उत्तर-

भारत में संघर्ष बुझती हुई दीप-शिखा की तरह अन्तिम बार प्रज्वलित होकर अन्त में स्थायी रूप से आर्य-अनार्य के संघर्ष को सदा-सर्वदा के लिए दूर कर उन्हें स्नेह-सूत्र में बाँधने में समर्थ हुआ। आगे चलकर इसी धारणा ने श्रीरामचन्द्र को दक्षिण-भारत में आर्य-संस्कृति के विस्तार का सुअवसर दिया। यह घटना स्पष्टतया ब्राह्मण-काल में हुई ज्ञात होती है; क्योंकि वैदिक यज्ञ के संबंध में ही यह घटना हुई थी। इससे स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-काल तक यह सम्मिश्रण पूर्ण रूप से पुष्ट और व्यापक नहीं हुआ था। इस घटना से हम उस समय का अनुमान लगा सकते हैं, जब सम्मिश्रण की प्रक्रिया हो रही थी। पहले-पहल दो जातियों के लोगों के उन दलों में इक्के-दुक्के व्यक्तियों का मेल होता है, जो सबसे अधिक एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और यदि कोई प्रतिबन्ध न लगा तो यह प्रक्रिया फैलती जाती है। परन्तु इस सम्मिश्रण के फल व्यक्त होने में काफी समय लगता है। अतः आर्यों का अनार्यों के साथ सम्मिश्रण की प्रक्रिया तो आर्यों और अनार्यों के सम्पर्क के साथ-साथ आरम्भ हो गई होगी; किन्तु दीर्घ काल तक, यानी स्पष्ट रूप से ब्राह्मण-काल तक, उनका अलग-अलग अस्तित्व बना रहा। इसी कारण ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन दोनों जातियों के सम्मिश्रण का प्रमाण मिलता है, किन्तु अनार्यों की लिंग-पूजा को आत्मसात करने का कहीं संकेत नहीं मिलता। ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-काल में ही रुद्र की मूर्ति की स्पष्ट कल्पना हो चुकी थी; क्योंकि शतपथ ब्राह्मण (६।१।३, १-८) में रुद्र-जन्म की कथा आई है; किन्तु कहीं भी उनकी मूर्ति की स्थापना और पूजा का उल्लेख नहीं है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के बाद वैदिक साहित्य में आर्यों की विचार-पद्धति को दर्शानेवाले ग्रन्थ आरण्यक और उपनिषद् मिलते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों के जो अंश अरण्य या विपिन में पठित और उपविष्ठ हुए, उनका नाम 'आरण्यक' है। इन आरण्यकों के भाग या खण्ड गहन, गंभीर और सूक्ष्म मनन-चिन्तन से परिपूर्ण हैं और उस अंश का नाम उपनिषद् है। उपनिषदों में परमात्मा के संबंध की निगूढ़ आलोचना है।

उपनिषद् अनेक हैं। १०८ उपनिषदों का उल्लेख मुक्तिकोपनिषद् में आया है। अधिकांश विद्वान इन्हीं १०८ उपनिषदों से परिचित हैं। किन्तु इन १०८ उपनिषदों के अतिरिक्त ७१ उपनिषदों को 'अप्रकाशित उपनिषद्' के नाम से आद्यार पुस्तकालय, मद्रास द्वारा प्रकाशन हुआ है। इसमें एक 'अल्ला-उपनिषद्'

भी है, जिसके कुछ अंश तो अरबी भाषा में हैं और कुछ संस्कृत में। इस उपनिषद् की रचना बादशाह अकबर के समय में 'दीन-इलाही' मत की पुष्टि के लिए की गई थी। यह उपनिषद् छोटी है। इसमें सिर्फ उन्नीस पंक्तियाँ (लाइन) हैं। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं :

दिव्यानि धत्ते धत्ते दिव्यानि धत्ते। धत्त इलल इलले धत्ते धत्त इलले। धत्त इति धत्ते। इलले वरुण इलल इलले वरुणः। इलल इति इलले।

इससे ज्ञात होता है कि उपनिषदों का निर्माण जो वैदिक काल में शुक्ल-यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय से ईशावास्योपनिषद् के रूप में आरम्भ हुआ, अबाधगति से मुगल बादशाह अकबर के शासन-काल तक चलता रहा, जिसके परिणाम-स्वरूप अनेक साम्प्रदायिक उपनिषदों की रचना हुई।

किन्तु सर्वमान्य सिर्फ दस उपनिषदें हैं—(१) ईश, (२) केन, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक, (६) माण्डूक्य, (७) ऐतरेय, (८) तैत्तिरीय, (९) छान्दोग्य और (१०) बृहदारण्यक। इन दस उपनिषदों का स्थान प्रस्थान-त्रयी—(१) ब्रह्मसूत्र, (२) उपनिषद् और (३) गीता—में है। शंकराचार्य, निम्बार्काचाय, रामानुजाचार्य आदि ने इन दस उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। इन दस उपनिषदों के अतिरिक्त श्वेताश्वेतरोपनिषद् की भी काफी मर्यादा है। शंकराचार्य ने इसपर भाष्य भी लिखा है। यद्यपि दशोपनिषद् ब्रह्म-परक हैं और उनमें देवी-देवताओं का उल्लेख नहीं है तथापि बृहदारण्यक[1] (१।४।११; २।२।२) और प्रश्नोपनिषद्[2] (२।६) में प्रसंगवश रुद्र का उल्लेख आया है।

---

1. **ब्रह्म वा इदमग्र आसीद् एकमेव। तदेकं सन्न व्यभवत्। तत् श्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति।**

अर्थ—प्रारम्भ में एक ब्रह्म था। वह विभूतियुक्त कर्म करने के लिए समर्थ नहीं हुआ; क्योंकि वह उस समय अकेला था। उसने कल्याण-स्वरूप क्षत्रिय जाति को उत्पन्न किया एवं देवताओं में क्षत्रिय इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादि की रचना की।

1. **(क) तद्या इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्ताभि रेनं रुद्रोऽन्वायत्तोऽथः।**
(बृहदारण्यक २।२।२।)

अर्थ—सात रुद्रादि देवता नेत्र-स्थित प्राण की रक्षा करते हैं, जिनमें जो ये नेत्र में लाल रेखाएँ हैं, उनके द्वारा रुद्र इस मध्यम प्राण के अनुगत हैं।

2. **इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा, रुद्रोऽसि परिरक्षिता। (प्रश्नोपनिषद् २।६।)**

उपनिषदों में मैत्रायणी उपनिषद् की भी मर्यादा है। अनेक विद्वान् दशोपनिषद् के साथ प्राचीन उपनिषदों में श्वेताश्वेतर, कौषितकी और मैत्रायणी का भी उल्लेख करते हैं। श्वेताश्वेतर और मैत्रायणी पर शंकराचार्य का भाष्य मिलता है। किन्तु इन उपनिषदों के विषयों के चयन से ज्ञात होता है कि ये उपनिषदें दशोपनिषद् के बाद त्रिदेव ब्रह्म की भावना के पूर्णरूपेण पुष्ट होने के पहले की हैं; क्योंकि रुद्र का सम्बन्ध स्पष्टतया तमोगुण से किया गया है और आर्यों के उपास्य और रक्षक विष्णु का सतोगुण से। मैत्रायणी उपनिषद् से स्पष्ट ज्ञात होता है कि रुद्र के प्रति प्राचीन विरोध-भावना का अन्त नहीं हुआ था। इस उपनिषद् के चोथे प्रपाठक में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को परमात्मा का सबसे बड़ा और श्रेष्ठ शरीर कहा गया है। किन्तु इन तीनों को परमात्मा का पर्यायवाची कहकर ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु को क्रमशः परमात्मा का रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण का अंश कहा गया है। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि तीनों मिलकर पूर्ण परमात्मा का स्वरूप हैं।[1] इस उपनिषद् के अंत में शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वस्रष्टा (ब्रह्मा), हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, सम्राट्, इन्द्र और चन्द्र सबको नियन्ता और पर्यायवाची कहा है।[2]

अर्थ—हे प्राण ! तू इन्द्र है, तेज के कारण तू ही रुद्र है।

1. **ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरित्यथयोह खलु वावास्य राजसोंऽशोऽसौ स योऽयं ब्रह्माऽथ योह खलु वावास्य तामसोंऽशोसौ स सोऽयं रुद्रोऽथ योह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशोसौ स एवं विष्णुः स वा एष एकस्त्रिधा भूतः। (मैत्रायणी उप०-४।५)**

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र (रुद्र) को परमात्मा का सबसे बड़ा और श्रेष्ठ शरीर कहा गया है। उसपर परमात्मा के रजोगुण का अंश ब्रह्मा है, तमोगुण का अंश रुद्र है और जो सतोगुण का अंश है; वह विष्णु है। इस प्रकार वह एक ही परमात्मा तीन रूपों में प्रकट हुआ है।

2. **एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृड्हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शान्तो विष्णुर्नारायणो-**

रुद्र सम्बन्धी उपर्युक्त उपनिषदों की कमी श्वेताश्वेतर उपनिषद् पूरी कर देती है। इसी उपनिषद् में सर्वप्रथम महेश्वर, शिव, ईशान आदि नाम से रुद्र सम्बोधित हुए हैं। वेदों में रुद्र का उग्र देवता के रूप में परिचय आया है, किन्तु श्वेताश्वेतर उपनिषद् में सिर्फ एक श्लोक (३।६) में उनकी प्राचीन उग्रता का उल्लेख मिलता है।[1]

ब्राह्मण-ग्रंथों के समय से रुद्र के पद का कितना उत्कर्ष हो चुका था, यह इस उपनिषद् में स्पष्ट झलक जाता है। वे मोक्षान्वेषी योगियों के ध्यान के विषय हो जाते हैं, और उनको स्रष्टा ब्रह्म, परमात्मा माना गया है। रुद्र की स्तुति में वेद के पुरुष-सूक्त के भी कुछ मंत्र ज्यों-के-त्यों इस उपनिषद् में (३।१४-१६) आ गए हैं। इस प्रकार, इस उपनिषद् में रुद्र के साथ पूर्ण रूप से ब्रह्म का

ऽर्कः सविता धाता सम्राजिन्द्र इन्द्ररिति य एष तपत्य-
ग्निना पिहितः सहस्राक्षेण हिरण्मयेनान्देनैष वाव
विजिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः।

(मैत्रायणी ५।८)

अर्थ—यही आत्मा है, यही सबका नियन्ता, ईश्वर, शंकर, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वस्रष्टा, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शांत, विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, सम्राट्, इन्द्र और चन्द्र है। जो इस अग्नि के रूप में तपता है और हजारों के नेत्र-रूप में प्रकाशमय आनन्द से व्याप्त है, वही जानने योग्य है।

1. **यमिषुं गिरिशन्त हस्ते विभर्ष्यस्तवे ।**
शिवां गिरित्रतां कुरु माहिंसीः पुरुषं जगत् ॥

अर्थ—हे गिरिशन्त ! जीवों की ओर फेंकने के लिए तुम अपने हाथ में जो बाण धारण किए रहते हो, हे गिरित्र ! उसे मंगलमय करो, किसी जीव या जगत की हिंसा मत करो।

मानस्तोके तनये मान आयुषि मानो गोषु मानो अश्वेषु रीरिषः ।
वीरान्नो रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे ॥

अर्थ—हे रुद्र ! तुम कुपित होकर हमारे पुत्र, पौत्र, आयु, गौ और अश्वों का क्षय न करना और हमारे वीर सेवकों का भी वध न करना। हम हव्य-सामग्री से युक्त होकर सर्वदा ही तुम्हारा आवाहन करते हैं।

तादात्म्य किया गया है। श्वेताश्वेतरोपनिषद्, काल की दृष्टि से दशोपनिषद्-काल के बाद की और रुद्रहृदयोपनिषद् सदृश शैव उपनिषदों के बहुत पहले की रचना है। उसमें रुद्र का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उपनिषद् की रचना के समय तक रुद्र का उत्कर्ष पूर्ण रूपेण हो चुका था और वे सिर्फ जनसाधारण के देवता ही नहीं थे, अपितु आर्यों के सबसे अधिक आराध्य देव बन गए थे।[1] इस उपनिषद् में रुद्र की योगी, चिन्तक और शिक्षक-रूप में भी कल्पना की गई है। इस उपनिषद् में पहली बार रुद्र का विश्व की सक्रिय सर्जना-शक्ति के रूप में उल्लेख हुआ है और उसको परब्रह्म की शक्ति कहा गया है, जिसके द्वारा वह विविध रूप से विश्व की सृष्टि करता है।[2] इसी उपनिषद् में पहली बार शिव को

1. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्लं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ।। ४।२

अर्थ—वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्ल (शुद्ध) है, वही ब्रह्म है, वही जेता है और वही प्रजापति है।

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूत गुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ।। ३।११

अर्थ—वह भगवान् समस्त मुखोंवाला, समस्त शिरोंवाला और समस्त ग्रीवाओंवाला है। वह सम्पूर्ण जीवों के अन्तःकरणों में स्थित और सर्वव्यापी है, इसलिए सर्वगत और मंगलमय है।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मरन्त रयियोन
ज्यायोऽस्तिकश्चित्। वृक्षइव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-
स्तेनेदं पूर्णपुरुषेण सर्वम् ।। ३।९

अर्थ—जिससे उत्कृष्ट और कोई नहीं है तथा जिससे छोटा और बड़ा भी कोई नहीं है, वह यह अद्वितीय परमात्मा अपनी द्योतनात्मक महिमा में वृक्ष के समान निश्चल भाव से स्थित है। उस पुरुष ने ही इस सम्पूर्ण जगत को व्याप्त कर रखा है।

2. एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोका
नीशत ईशनीभिः। प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सचुको-
चान्तकाले संसृज्य विश्वाभुवनानि गोपाः ।। (३।२)

परब्रह्म माना गया है। इसी में सांख्य और सांख्य प्रकृति का पहली बार निश्चित रूप से उल्लेख हुआ है।[1]

किन्तु रुद्र-सम्बन्धी उल्लेखों से भरपूर रहने पर भी इस उपनिषद् में संकेत से भी कहीं रुद्र की मूर्ति की पूजा का उल्लेख नहीं मिलता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस उपनिषद् के रचना-काल तक लिंग-पूजा आर्यों में आरम्भ नहीं हुई थी, अन्यथा रुद्र के सम्बन्ध में विशद वर्णन में भी कहीं-न-कहीं उसका उल्लेख आ ही जाता। यहाँ जो कुछ आया है वह सिर्फ रुद्र के निराकार रूप को व्यक्त करता है।

केनोपनिषद् में—जिसकी गणना दस अति प्राचीन उपनिषदों में होती है—कहा गया है कि देवताओं को ब्रह्मज्ञान उमा हैमवती नामक एक देवता ने कराया (३।१२)। इस उपनिषद् में अपर-वैदिककालीन देवता उमा का वैदिककालीन सर्वश्रेष्ठ देवता इन्द्र से साक्षात् एक अद्भुत घटना है।[2]

अर्थ—क्योंकि एक ही रुद्र है, इसलिए (ब्रह्मविद्) उससे भिन्न किसी अन्य वस्तु के लिए अपेक्षा नहीं करते। वह अपनी (ब्रह्मादि) शक्तियों द्वारा इन लोकों का शासन करता है, वह समस्त जीवों के भीतर स्थित है और सम्पूर्ण लोकों की रचना कर उनका रक्षक होकर प्रलयकाल में उन्हें संकुचित करता है।

1. **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतना नामे को बहूनां यो विदधाति कामान्।**
तत्कारणं सांख्ययोगधि गम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ (६।१२)

अर्थ—जो नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन है, अकेला है। बहुतों को भोग प्रदान करता है, सांख्य योग द्वारा ज्ञातव्य उस सर्वकारण देव को जानकर पुरुष समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

2. **सतस्मिन्नेवाकाशे स्त्रिय माजगां बहुशोभनां**
उमा हैमवतीं तां हो वाच किमेतद यक्षामिति।

(केनोउपनिषद् ३।१२)

अर्थ—इन्द्र ने अत्यन्त सुशोभित और सुवर्ण के आभूषणों को पहने हुए हिमाचल की कन्या उमा को आकाश में विद्या-रूप से प्रकट हुए देखा। इससे यक्ष (ब्रह्म) के वृत्तान्त का पता लगेगा, ऐसा समझकर देवराज इन्द्र उसके समीप जाकर पूछने लगा कि वह यक्ष कौन था।

क्योंकि जहाँ वेद में इन्द्र की कल्पना ब्रह्म (ईश्वर) के रूप में की गई है, और जिसकी स्तुतियों से ऋग्वेद भरपूर है, उपनिषद्-काल तक इनकी मर्यादा इतनी गिर गई ज्ञात होती है कि इन्हें हम उमा से ब्रह्मोपदेश पाते देखते हैं। पुराणों के अनुसार सती का दक्ष-यज्ञ में अपने को बलिदान कर देने के अनेक काल बाद उमा का हिमाचल के घर में जन्म हुआ और बाद में शिव से विवाह हुआ। अतः इस उपनिषद् की रचना ब्राह्मण-ग्रन्थों के बहुत बाद की ज्ञात होती है; क्योंकि ब्राह्मण-काल में इन्द्र की मर्यादा अक्षुण्ण दीख पड़ती है और दूसरी बात यह है कि उमा नाम और हैमवती उपाधि से हमें तुरन्त अपरकालीन शिव की पत्नी का स्मरण हो जाता है, जिसका नाम उमा था और वह हिमवान् की पुत्री थी। यहाँ यदि उमा की उपाधि हैमवती न रहती तो शिव की पत्नी होने का ख्याल भी नहीं होता; क्योंकि हैमवती का अर्थ सुवर्ण-वर्ण अथवा सुवर्णमय भी है। अतः यह भी सम्भव है कि अपर वैदिककाल में शिव की पत्नी को हिमवत् अर्थात् हिमालय की पुत्री माना जाने लगने पर केन-उपनिषद् में सुवर्ण-वर्ण उमा का वर्णन आने के बाद शिव की पत्नी पार्वती का नाम उमा भी पड़ गया हो; क्योंकि लक्ष्मी और सरस्वती के सदृश शिव-पत्नी सिर्फ एक नाम से प्रसिद्ध न होकर कालान्तर में अनेक नामों—दुर्गा, काली आदि—से प्रसिद्ध हुईं और विभि न नाम और रूप से उनकी पूजा आज होती है। कुछ भी हो, उनके साक्षात् उपस्थित होने के फलस्वरूप हमें एक देवता का साक्षात् दर्शन होता है, किन्तु इससे किसी प्रकार की मूर्ति-पूजा का संकेत नहीं मिलता।

इन प्राचीन उपनिषदों के अतिरिक्त रुद्र का उल्लेख अन्य उपनिषदों में भी आया है। किन्तु निश्चित रूप से वे आधुनिक हैं, अतः उनपर विचार करना यहाँ आवश्यक नहीं है।

सुतरां बृहदारण्यक प्रश्न, मैत्रायणी, केन और सर्वोपरि श्वेताश्वेतर उपनिषद् में जो रुद्र-सम्बन्धी वर्णन आया है, उसमें संकेत-रूप में भी उस काल में किसी भी रूप में प्रतीक-पूजा का आभास नहीं मिलता। अतः ज्ञात होता है कि यद्यपि उपनिषद्-काल तक वैदिक देवता रुद्र का अनार्यों के देवता से आत्मसात हो चुका था और रुद्र समान रूप से आर्यों और अनार्यों के उपास्य हो चुके थे, तथापि आर्यों में प्रतीक-पूजा को उस काल तक अपनाया नहीं था।

चौथा परिच्छेद

रामायण-महाभारत-काल

रामायण-काल

रामायण का ठीक-ठीक समय निश्चित करने के संबंध में विद्वानों में मतभेद है; किन्तु यह सर्वमान्य है कि रामायण में वर्णित ऐतिहासिक घटना महाभारत से काफी पहले घटी थी। उस समय तक वैदिक मर्यादा तथा आर्य-संस्कृति का ह्रास नहीं हुआ था। किन्तु रामायण के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मांसाहार, सुरापान आदि आसुरी प्रवृत्तियाँ आरम्भ हो चुकी थीं, जिनके परिणाम-स्वरूप ऋषियों के यज्ञों को मांसादि से अपवित्र करने के कारण राम को ताड़का और सुबाहु का वध करना पड़ा। वास्तव में यही बात राम के वन-गमन का कारण बनी।

इस समय रामायण-सम्बन्धी जितनी भी सामग्री अनेक ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध है, उन सबका आधार ऋषि वाल्मीकि-कृत रामायण ही है। किन्तु जितनी भी वाल्मीकीय रामायण मिलती हैं, उनके काण्ड, सर्ग और श्लोक-संख्या विभिन्न तथा अनेक अप्रासंगिक एवं प्रकृति-नियम-विरुद्ध स्थलों को देखते हुए यह प्रायः सर्वमान्य हो गया है कि अन्य ग्रन्थों की भाँति इस ग्रन्थ में भी प्रक्षिप्त सामग्री भरपूर है।

भारतवर्ष में अनेक मतान्तरों के प्रचार तथा उनके अनुयायियों के द्वारा (मुद्रणालय-युग के पहले जब हस्तलिखित पुस्तकों का युग था) समय-समय पर श्लोक बनाकर मिलाए गए। यही कारण है कि प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकें एक-दूसरे से नहीं मिलतीं। कहा जाता है कि मूल रामायण की श्लोक-संख्या ६,६८० थी, किन्तु आज जो वाल्मीकि रामायण प्राप्य है, उसका कलेवर इतना बढ़ गया है कि उसमें २४ सहस्र श्लोक हो गए हैं।

आज वाल्मीकि-कृत रामायण में तीन पाठ मिलते हैं : (१) दाक्षिणात्य, (२) गौडीय और (३) पश्चिमोत्तरीय। इनमें दाक्षिणात्य पाठ अपेक्षाकृत विस्तृत होने के साथ-साथ अधिक प्रचलित है। बम्बई, पूना, प्रयाग, पारडी (सूरत)

आदि स्थानों से प्रकाशित जो रामायण उपलब्ध हैं, वे सब दाक्षिणात्य पाठ हैं। पश्चिमोत्तरीय पाठ दयानन्द महाविद्यालय संस्कृत ग्रथमाला से प्रकाशित तथा वेद-प्रतिष्ठान, होशियारपुर, पंजाब से प्राप्य है। गौडीय प्रति मुझे खोजने से कहीं नहीं मिली। प्रत्येक के पाठ में बहुत-से श्लोक ऐसे मिलते हैं, जो अन्य पाठों में नहीं पाए जाते हैं। दाक्षिणात्य, पश्चिमोत्तरीय तथा गौडीय पाठों की तुलना करने पर देखा जाता है कि प्रत्येक पाठ में श्लोकों की लगभग दो-तिहाई संख्या समान रूप से मिलती है। इसके अतिरिक्त जो श्लोक तीनों पाठों में पाए भी जाते हैं, उनका पाठ भी एक नहीं है और इनका क्रम भी अनेक स्थलों पर भिन्न है।[1]

पश्चिमोत्तरीय संस्करण में श्लोकों की बाईं ओर गौडीय पाठ के श्लोकों की संख्या दी गई है और दाहिनी ओर दाक्षिणात्य पाठ के श्लोकों की। जहाँ इन दोनों संस्करणों में कोई श्लोक नहीं आया है, वहाँ संकेत-चिह्न N दे दिया गया है। सर्गों का सिलसिला भी एक-सा नहीं है। उदाहरणार्थ बालकाण्ड के पश्चिमोत्तर पाठ के एकादश सर्ग का श्लोक दक्षिणी पाठ के १६वें सर्ग में आया है और गौडीय पाठ के १४, १५ और १६वें सर्ग में।

रामायण के भिन्न-भिन्न पाठों की तुलना करने पर स्पष्ट है कि बालकाण्ड और उतरकाण्ड बाद के लिखे हुए हैं। वस्तुतः बालकाण्ड तथा उतरकाण्ड वाल्मीकि-कृत रचना में विद्यमान नहीं थे। वाल्मीकि-कृत आदिरामायण (काण्ड २—६) तथा प्रचलित रामायण में जो अन्तर पाया जाता है, इसके लिए बहुत काल की आवश्यकता है। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में राम का वर्णन स्पष्टतया विष्णु के अवतार के रूप में आया है, किन्तु अयोध्याकाण्ड से लेकर युद्ध-काण्ड तक राम स्पष्टतया पुरुषोत्तम ज्ञात होता है; यद्यपि अयोध्या काण्ड के आरंभ में (१/७) और युद्धकाण्ड के अन्त में (सर्ग ११७ और ११९) स्पष्टतया राम को विष्णु का अवतार कहा गया है। प्रसंगवश सुन्दरकाण्ड में भी एक जगह (५१/३९-४२) कहा है कि युद्ध में त्रिलोक-स्वामी राम के सामने गन्धर्व, देवता, दैत्य, यक्ष, राक्षस, विद्याधर, सर्प, सिद्ध किन्नर और पक्षी आदि सब प्राणियों में सर्वत्र किसी काल में भी कोई ऐसा नहीं हो सकता, जो विष्णु-तुल्य पराक्रमी राम का सामना करे। इस प्रकार वाल्मीकि-रामायण में अनेक स्थल

1. रामायण : रेवरेण्ड डॉ० कामिल बुल्के।

प्रक्षिप्त हैं, जिनमें अयोध्याकाण्ड के सर्ग १०९।३४ में गौतम बुद्ध का उल्लेख प्रक्षिप्त होने का ज्वलन्त उदाहरण है। वेदवाणी कार्यालय, आजमगढ़-पैलेस, वाराणसी से वाल्मीकि-रामायण के सुन्दरकाण्ड तक का सानुवाद संस्करण छप चुका है। इसमें विद्वान सम्पादक ने प्रक्षिप्त अंशों को छोटे अक्षरों में दिखाया है। किन्तु इस संस्करण में स्पष्टतया आर्य-समाज के दृष्टिकोण से प्रक्षिप्त अंशों का उल्लेख है।

आर्य विद्वान पं० प्रेमचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर ने मूल वाल्मीकि-रामायण की श्लोक-संख्या ६,३८२ निर्धारित की है और इसी दृष्टिकोण से वाल्मीकि-रामायण के २४ सहस्र श्लोकों को छानकर जो संस्करण सम्पादित किया है, उसकी श्लोक-संख्या ६,३८२ है। यह ग्रंथ गोविन्दराम हासानन्द; नई सड़क, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है।

स्पष्ट प्रक्षिप्त भागों के होते हुए भी समस्त रामायण में सर्वत्र केवल वैदिक यज्ञों तथा संध्या-वन्दन का वर्णन है। मूर्ति-पूजा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। मूर्ति-पूजा विषयक श्लोकों का सर्वथा अभाव यह सिद्ध करता है कि जिस काल में प्रक्षिप्त अंश जोड़े गए, उस समय भी मूर्ति-पूजा जारी नहीं थी।

उत्तरकाण्ड बहुत बाद का जोड़ा हुआ है और इसका प्रमाण भी पर्याप्त है। युद्धकाण्ड के अंत में (सर्ग १२८, श्लोक १०५-२२) जो फल-स्तुति मिलती है, उससे यह प्रमाणित होता है कि रामायण की परिसमाप्ति वहीं हो गई। इसके अतिरिक्त उत्तरकाण्ड और युद्धकाण्ड में परस्पर-विरोधी बातें भी मिलती हैं।

बालकाण्ड के आरम्भ में महर्षि वाल्मीकि महर्षि नारद से प्रश्न करते हैं कि इस संसार में सर्वगुण-सम्पन्न, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी, सुदृढ़व्रत, उदार आचरणवाले, सब भूतों में स्थित, जित-क्रोध, वीर्यवान और धृतिमान कौन है? उत्तर में नारद राम-चरित्र का वर्णन करते हैं। इसमें अयोध्याकाण्ड की घटना से लेकर युद्धकाल तक की घटना का समावेश है। न उसमें बालकाण्ड की घटना है और न उत्तरकाण्ड की। ज्ञात होता है कि यही अनुक्रमणिका मूल रामायण के आरंभ में थी, किन्तु बालकाण्ड की रचना हो जाने पर यह अनुक्रमणिका अयोध्याकाण्ड के आरंभ से हटाकर नवलिखित बालकाण्ड के आरंभ में जोड़ दी गई। सर्वोपरि महाभारत में वर्णित रामोपाख्यान में भी

बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड का विषय नहीं मिलता। इसलिए उत्तरकाण्ड में मूर्ति-पूजा सम्बन्धी निम्नांकित श्लोक स्पष्टतया बहुत बाद का ज्ञात होता है। यदि यह श्लोक मूल रामायण में हो भी तो भी यह एक अनार्य से सम्बन्ध रखता है, जो स्पष्टतया मूर्ति-पूजक था।

यत्र यत्र प्रयाति स्म रावणो राक्षसेश्वरः।
जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म नीयते॥

अर्थात्—रावण जहाँ-जहाँ जाता है, अपने साथ सुवर्णमय लिंग ले जाता है। इसी प्रकार एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि—

बालुकावेदिमध्ये तु तल्लिङ्गं स्थाप्य रावणः॥

अर्थात्—बालू की वेदी पर रावण ने लिंग की स्थापना की।

प्रथम तो ये श्लोक उत्तरकाण्ड के हैं, जो विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त भाग सिद्ध हो चुका है, किन्तु यदि उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त न भी माना जाए तब भी वह अनार्य-कृत है और यह निर्विवाद है कि अनार्यों में लिंग-पूजा अनादिकाल से प्रचलित थी। किन्तु एक बात इन प्रक्षिप्त अंशों से ज्ञात होती है कि प्रक्षिप्त काण्ड लिखने के समय तक भी आर्यों ने लिंग-पूजा को अपनाया नहीं था अन्यथा कहीं भी किसी मूर्ति और उसकी पूजा का वर्णन प्रसंगवश आ ही जाता। जान पड़ता है कि इसी वर्णन के आधार पर मूर्ति-पूजा और अवतारवाद की मर्यादा कायम हो जाने पर अनेक ग्रन्थों में भगवान राम द्वारा रामेश्वर-स्थापना का वर्णन मिलता है। सर्वोपरि एक लोककथा प्रचलित है कि रामेश्वर की स्थापना के समय वैर-भाव को भूलकर राम के निमंत्रण पर शिव भक्त और वेदज्ञ ब्राह्मण होने के कारण रावण ने ही पुरोहित का कार्य-सम्पादन किया।

वाल्मीकि-रामायण से ज्ञात होता है कि प्रातः एवं सायं संध्योपासना तथा अग्निहोत्र किया जाता था। अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख आया है। किन्तु मूर्ति या मूर्ति-पूजा की कहीं झलक भी नहीं मिलती। उदाहरणार्थ (**बाल० रा० १८।२३**) विश्वामित्र ने राम तथा लक्ष्मण से कहा: **स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम।** अर्थात् हमलोग स्नान करेंगे और जप-हवन करेंगे। उसी प्रकार अयोध्या-काण्ड (२०।४८) में आया है—

ततश्चीरोत्तरासङ्गः सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम्॥ ५०।४८

तदनन्तर रामचन्द्र ने चीर ओढ़कर सायंकालीन संध्या की और लक्ष्मण का लाया हुआ जल भी ग्रहण किया।

सीता महारानी भी संध्या करती थीं। हनुमान सीता की खोज करते हुए अशोक-वाटिका के सरोवर को देखकर कहते हैं :

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी॥

(सुन्दरकाण्ड १४।५०)

अर्थात् संध्याकाल में मनवाली देवी सीता संध्या करने के लिए इस शुभ जलवाली नदी पर जाएगी।

रामायण-काल में भी मूर्ति-पूजा प्रचलित थी। इसके समर्थन में दो-एक श्लोक बालकाण्ड से उद्धृत किए जाते हैं। यथा—

देवतायतनान्याशु सर्वास्ताः प्रत्यपूजयन्।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा. राजसुतास्तदा॥

(बालकाण्ड ७७।१३)

अर्थ—उन सब (बाहुओं) ने शीघ्र ही देवताओं की पूजा की। तत्पश्चात् सब राजपुत्रियों ने अभिवादन-योग्य व्यक्तियों का अभिवादन किया।

यह श्लोक आगे और पीछे के श्लोकों से मेल नहीं खाता; क्योंकि १२वें श्लोक में आया है कि कुशध्वज की दोनों पुत्रियों को राजा की पत्नियों ने ग्रहण किया। मांगलिक वस्तुओं के आलेपन से सुशोभित रेशमी वस्त्र धारण किया; और के १४वें श्लोक में है कि सब प्रसन्न हुई (राजपुत्रियों) ने एकान्त में (अपने) पतियों के साथ रमण किया। (इसी प्रकार) संसार के पराक्रम-अप्रतिम (अतुलनीय) महात्मा राजकुमारों ने भी रमण किया। सारा बालकाण्ड ही वाल्मीकि-कृत नहीं है और यह श्लोक स्पष्टतया प्रक्षिप्त है; क्योंकि यहाँ अप्रासंगिक वर्णन है और इसका समर्थन वाल्मीकि-रामायण में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

वाल्मीकि-रामायण में इतना वर्णन है कि लंका से विमान द्वारा लौटते समय राम ने एक स्थान दिखलाते हुए सीता से कहा कि वहाँ उन्होंने महादेव की कृपा से समुद्र में पुल बाँधा था।

एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः।
सेतुबन्ध इति ख्यातं त्रैलोक्यपरिपूजितम्॥

एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।
अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ॥
(युद्धकाण्ड, सर्ग १२३।२०-२१)

अर्थ—इसी स्थान पर प्रभु महादेव हमपर प्रसन्न हुए थे। तीनों लोकों में पूरित सेतुबन्ध-तीर्थ इसीका नाम है। यह स्थान महापवित्र तथा महापातकों का नाश करनेवाला है।

पुष्पक-विमान से सीता को सेतुबन्ध का पुल दिखाते हुए राम ने कहा कि इस पुल के बाँधने में नल ने बड़ा परिश्रम किया। यह हिरण्यनाम मैनाक पहाड़ है, जो हनुमान के ठहरने के लिए स्वयं सागर से प्रकट हुआ था। यह सेना के ठहरने का प्रथम तट है। इसी प्रसंग में राम ने महादेव (भगवान) की कृपा का उल्लेख किया; क्योंकि बिना महादेव की कृपा से वह दुष्कर कार्य संभव नहीं था। अगर राम ने शिवलिंग की वहाँ स्थापना की होती तो वे प्रथमतः विमान से उतरकर सीता के साथ दर्शन और पूजन करते; अथवा कम-से-कम शिवलिंग की ओर सीता का ध्यान आकर्षित कर बता देते कि इसकी स्थापना उन्होंने की थी। इस बात से भी यह अंश प्रक्षिप्त ज्ञात होता है; क्योंकि १९वें श्लोक में वर्णित समुद्र से हनुमान के ठहरने के लिए मैनाक पहाड़ का सहसा निकल आना अनहोनी-सी घटना है।

मूर्ति पूजा के समर्थन में प्रकाण्ड विद्वान श्री माधवाचार्य जी ने अपने ग्रन्थ "क्यों?" के दूसरे अध्याय के पृष्ठ ४७ पर शास्त्रीय विवेचन करते हुए लिखा है कि "रामचन्द्र जी का स्थापित किया हुआ रामेश्वर नामक शिवलिंग सेतुबन्ध में अभी तक विद्यमान है। वाल्मीकि-रामायण के युद्ध-काण्ड (युद्ध-सर्ग १२५) में इसका उल्लेख मिलता है। किन्तु सर्ग १२५ में संकेत-मात्र से भी उसका उल्लेख नहीं है। इस सर्ग में भरद्वाज-आश्रम से विदा होने पर अयोध्या के सन्निकट आने का वर्णन है। शिवलिंग-स्थापना का उल्लेख तो रामायण में नहीं मिलता। सिर्फ १२३वें सर्ग के २०वें श्लोक में भगवान राम ने सेतुबन्ध की ओर सीता का ध्यान आकर्षित करते हुए सिर्फ इतना ही कहा है कि इसी स्थान पर प्रथम प्रभु महादेव हमपर प्रसन्न हुए थे। इससे संकेत-रूप में भी मूर्ति-पूजा का समर्थन नहीं होता।

वाल्मीकि-रामायण में उपासना तथा पूजादि का विशद वर्णन है, किन्तु कहीं भी मन्दिर या मूर्ति-पूजा का उल्लेख नहीं है, यद्यपि स्थान-स्थान पर संध्या-

बन्दना, होम, यज्ञ आदि का वर्णन आया है। इन्हीं सब बातों को देखकर निष्पक्ष विद्वानों की राय है कि रामायण-काल में प्रतीक-पूजा का प्रचलन आर्यों में नहीं था।

सुतरां, रामायण में जीवन का जीता-जागता सत्य है, व्यवहारों में आने-वाला धर्म है, परिवार को सुखी और सम्पन्न बनानेवाले आदर्श हैं, कठोरता से पालन किए जानेवाले युद्ध-नियम हैं; बन्धु, स्त्री, मित्र, शत्रु, सेवक, देवता और दानव के चरित्र हैं। प्रजा के प्राणप्रिय राजा का देवता-रूप में दर्शन है। किन्तु मन्दिर और उसमें स्थापित मूर्ति की कहीं झलक भी नहीं है।

महाभारत-काल

महाभारत का समय आज से लगभग पाँच हजार वर्ष से कुछ ऊपर माना जाता है। यह काल रामायण-काल से बहुत बाद का है। ज्ञात होता है कि रामायण-काल में वैदिक मर्यादा का पालन होता था। राम-रावण-युद्ध में भी युद्ध-सम्बन्धी नियमों का पालन उभय पक्ष ने किया था; किन्तु महाभारत-काल में वैदिक मर्यादा की खुले रूप में अवहेलना हुई थी। तप और त्याग का स्थान भोग-विलास लेते जा रहे थे। जुआ खेलना पाप नहीं समझा जाता था। जुए में भाइयों को नहीं, बल्कि विवाहित भार्या को भी दाव पर लगाना अशोभनीय नहीं समझा जाता था। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का कोई स्थान नहीं था, मनुष्य का स्थान नीग्रो गुलामों की कोटि का था, जहाँ बड़ा भाई जुए के दाव पर बिना किसी संकोच के भाइयों तथा स्त्री को रखकर गँवा सकता था। और, इस प्रकार का दुष्कर्म करनेवाले को 'धर्मराज' कहा जाता था! कौरवों की सभा को छोड़-कर संसार के इतिहास में कहीं भी राजसभा में भद्र महिला को निर्वस्त्र करने की बात नहीं मिलती है। महाभारत-युद्ध के आरम्भ में दोनों पक्षों की सम्मति से युद्ध-नियम बनाए गए थे, किन्तु दोनों पक्षों ने खुलेआम उनकी अवहेलना की, जिसका ज्वलन्त उदाहरण अभिमन्यु, भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन का वध है। यही नहीं, सुप्तावस्था में अश्वथामा द्वारा धृष्टद्युम्न, पाण्डव-पुत्रों आदि की नृशंस हत्या तक की गई थी।

महाभारत में अनेक ऐतिहासिक कथाएँ एक साथ ग्रथित हैं। इसके रचयिता व्यास मुनि माने जाते हैं। किन्तु, महाभारत के वर्णनानुसार इसके तीन

संस्करण हुए हैं, जिनके तीन रचयिता—(१) व्यास, (२) वैशम्पायन और (३) सौती थे। ज्ञात होता है कि युद्ध के बाद व्यास ने 'जय' नामक इतिहास की रचना की, जिसमें कौरव-पाण्डव-युद्ध का विशद वर्णन है। उसको व्यास के शिष्य वैशम्पायन ने पाण्डवों के प्रपौत्र जनमेजय को सर्प-यज्ञ के अवसर पर सुनाया। वहाँ उस कथा को सुनकर सूत लोमहर्षण के पुत्र सौती उग्रश्रवा ने उन ऋषियों को सुनाया, जो नैमिषारण्य में सत्र कर रहे थे। आदिपर्व और स्वर्गारोहण-पर्व में कहा है—**जयो नामेतिहासोऽयम्**, अर्थात् 'जय' नाम का यह इतिहास है। आगे चलकर वैशम्पायन द्वारा दूसरे संस्करण के बाद 'भारत' नाम पड़ा और अन्त में गौतम बुद्ध के निर्वाण के सैकड़ों वर्ष बाद 'सौती' के तृतीय संस्करण के कलेवर में अपार वृद्धि हो जाने के कारण इसका 'महाभारत' नाम पड़ा। अतः महाभारत के आरम्भिक श्लोक में ही 'जय' ग्रन्थ का उल्लेख है। यथा—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

महाभारत के तीन रचयिता होने का दूसरा प्रमाण यह है कि इसका आरम्भ तीन स्थानों से होता है; यथा—

मन्वादि भारतं केचिदास्तिकादि तथा परे।
तयोः परिचरादन्ये विप्राः सम्यगधीयते॥

अर्थात् कितने विद्वान महाभारत को 'नारायण नमस्कृत्य' (आदिपर्व, अध्याय १, श्लोक १) से प्रारम्भ करके पढ़ते हैं। कितने ही इसको आस्तिक चरित्र से प्रारम्भ करते हैं (आदिपर्व, अध्याय १३) और कितने ही उपरिचर की कथा (आदिपर्व, अध्याय ६३) से इसका प्रारम्भ मानते हैं।

तीसरा प्रमाण यह है कि व्यास ने अपने 'जय' नामक ग्रन्थ में जो पर्व बनाए थे, वे भिन्न हैं। वे छोटे हैं और उनकी संख्या १०० है। बाद में सौती ने अपने ग्रन्थ को अठारह पर्वों में विभक्त किया। कोई भी ग्रन्थकार अपने एक ही ग्रन्थ में एक ही नाम का छोटा और बड़ा विभाग नहीं करेगा। उदाहरणार्थ सभापर्व में सभापर्व, सौप्तिक पर्व में सौप्तिक पर्व आदि। यह महाभारत (आदि-पर्व, २।८३-८४) से स्पष्ट है।

एतत् पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना।
यथावत्सूतपुत्रेण लोमहर्षणिना ततः।
उक्तानि नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु ॥

अर्थ—इस प्रकार महात्मा श्री व्यास ने १०० पर्वों की रचना की। सूत-नन्दन उग्रश्रवा सौती ने इन्हीं पर्वों को अठारह महापर्वों में क्रमानुसार सुसम्बद्ध कर नैमिषारण्य में उपस्थित ऋषि-वृन्दों को सुनाया था।

विद्वानों की राय है कि व्यास-कृत 'जय' के श्लोकों की संख्या ८८००, वैशम्पायन के 'भारत' के श्लोकों की संख्या २४,००० और वर्तमान महाभारत की श्लोक-संख्या लगभग एक लाख है। महाभारत-मीमांसा के विद्वान लेखक चिन्तामणि विनायक वैद्य की राय है कि ईसवी सन् से पहले ३०० से २०० वर्ष तक के समय में वर्तमान महाभारत का निर्माण हुआ।

अतः प्रश्न उठता है कि चौबीस हजार श्लोकों के 'भारत' के श्लोकों में वृद्धि कर उनकी संख्या एक लाख क्यों की गई? उस समय भारत में दो नए और प्रबल धर्म—जैन और बौद्ध-उत्पन्न और प्रचलित ही नहीं हो चुके थे, वरन् जनता पर उनका काफी प्रभाव पड़ चुका था और जनता बहुत अधिक संख्या में इन धर्मों की ओर आकृष्ट हो रही थी। इन दोनों धर्मों ने वेदों और तत्कालीन प्रचलित वैदिक हिंसा-यज्ञों का विरोध किया था और अहिंसा का प्रचार किया था। इनके लिए धर्म का आचरण केवल नीति के आचरण के सिवा और कुछ नहीं था। महावीर तीर्थंकर और बुद्ध के निर्वाण हुए कई शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी थीं और जैन तथा बौद्ध मतावलम्बियों में क्रमशः जैन तीर्थंकरों एवं भगवान् बुद्ध की मूर्ति की पूजा का प्रचलन भी हो चुका था। हिन्दूधर्म के कुछ लोग तो वैदिक देवताओं के स्थान पर विष्णु को प्रधान देवता मानकर 'पाञ्चरात्र मत' का पालन करते थे और कुछ लोग शंकर को प्रधान देवता मानकर पाशुपत मत का आश्रय ले रहे थे। कुछ लोग परमात्मा के रूप में देवी की आराधना करते थे और कुछ सूर्य के उपासक थे। इन विभिन्न मतावलम्बियों में आपस का झगड़ा भी था। वेदान्त और सांख्य का दृष्टिकोण पूर्णतया भिन्न था। वर्तमान मनुस्मृति का उस समय पता नहीं था। जनता को हिन्दूधर्म की ओर आकृष्ट करने और हिन्दूधर्म की गौरव-गरिमा को स्पष्ट रूप से दिखानेवाला कोई ग्रन्थ नहीं था। बौद्ध और जैन धर्म के आक्रमण का प्रतिवाद करने का कोई साधन नहीं था।

ऐसी अवस्था में ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी, जिसमें आनुषंगिक रीति से तत्त्वज्ञान, इतिहास, राजनीति, नीति, प्रतिमा-पूजन आदि अनेक विषयों का समावेश हो।

वैष्णव और शैव मतों के विरोध को दूर करने के अभिप्राय से सौती ने महाभारत में शिव-स्तुति विषयक अनेक उपाख्यान दिए। महाभारत में स्पष्ट वर्णन आया है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों देवताओं पर जगत के तीन काम—उत्पत्ति, पालन और नाश—नियत हैं। इन तीनों का एकीकरण परब्रह्म में किया गया है। इसके अतिरिक्त सौती ने वेदान्त, सांख्य योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत मत आदि अनेक मतों के एकीकरण का सफल प्रयत्न किया। यत्र-तत्र मन्दिर और मूर्ति की मर्यादा का भी प्रतिपादन किया। परिणाम यह हुआ कि महाभारत ग्रन्थ वर्तमान हिन्दूधर्म की सब शाखाओं—शैव, वैष्णव, शाक्त, वेदान्त, योग आदि—के लिए समान रूप से मान्य है।

इस प्रकार महाभारत सच्चे अर्थ में प्राचीन भारतवर्ष का विश्वकोष है। भारतीय जन और उसकी कीर्ति, सामाजिक क्रान्ति, राजनीति, अर्थनीति आदि का सुन्दर विवेचन महाभारत में है। जहाँ एक ओर यह प्राचीन धर्म और नीति का अमूल्य भाण्डार है, वहाँ दूसरी ओर, प्राचीन गौरव-गरिमा का गान करनेवाला अपूर्व ग्रन्थ है। इसके महान् चरित्रों की अमर कथाएँ देश-देशान्तर में फैली हुई हैं। इसमें वर्णित अपने पूर्व पुरुषों की चरितावली सुनने अथवा पढ़ने पर हमारे मन में स्वाभाविक उमंग उद्भूत होती है। इसके अनेक पात्रों की वीरता, कर्मपरायणता, न्याय-नीति एवं धर्मनिष्ठा देखकर मन आनन्द से गद्गद हो जाता है।

इसमें स्पष्ट दीख पड़ता है कि सभी आर्य—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—प्रतिदिन संध्या एवं यज्ञ किया करते थे। भारतीय योद्धाओं के वर्णन में भी इस बात की कहीं कमी नहीं है। जिस तरह रामायण से स्पष्ट मालूम होता है कि राम और लक्ष्मण कभी संध्या करना नहीं भूलते, उसी प्रकार समझौते के लिए जाते हुए श्रीकृष्ण का जो वर्णन महाभारत में आया है, उसमें उनके प्रातः-सायं संध्या करने का वर्णन करने में कवि ने भूल नहीं की है। (उद्योग-पर्व, अध्याय १३). महाभारत-युद्ध के समय समस्त क्षत्रिय प्रातःस्नान करके संध्या से छुट्टी पाकर रणभूमि में जाते थे।

संध्या के साथ-साथ होम करने की परिपाटी भी महाभारत-युद्ध-काल में प्रचलित थी। उदाहरणार्थ उद्योग-पर्व के अध्याय ८ में आया है—

कृत्वा पौर्वाह्णिकं कृत्यं स्नातः शुचिरलङ्कृतः।
उपतस्थे विवस्वन्तं पावकं च जनार्दनः॥

अर्थ—श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर ने संध्या एवं होम करके ब्राह्मण को दान दिया इत्यादि।

वर्णन आया है कि रात को भी एक दिन युद्ध हुआ और समस्त सैनिकों ने युद्ध-भूमि में ही आराम किया। उस समय का वर्णन है कि प्रातःकाल होने से पहले युद्ध छिड़ गया था, तब सूर्य निकलने पर समस्त सैन्य में युद्ध रुक गया, और सभी क्षत्रियों ने रणांगन में ही संध्या अर्थात् सूर्योपासना की (द्रोणपर्व, अध्याय १८६)।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि महाभारत-युद्ध-काल में सूर्य और अग्नि की उपासना यानी उपस्थान एवं आहुति, दोनों काम प्रत्येक आर्य को करने पड़ते थे। अतः यह बात निर्विवाद है कि इस वर्णन में कहीं भी मूर्ति या मूर्ति-पूजा का उल्लेख नहीं है। यद्यपि श्रीकृष्ण अथवा युधिष्ठिर की आह्निक क्रियाओं का वर्णन विस्तारपूर्वक आया है, तथापि इसमें किसी देवता की धातुमयी अथवा पाषाणमयी मूर्ति की पूजा का वर्णन नहीं है। वैद्य महोदय का कथन है कि "निश्चयपूर्वक अनुभव होता है कि भारतीय युद्धकाल में और महाभारत-काल-पर्यन्त आर्यों के आह्निक धर्म में किसी प्रकार के देवता की पूजा समाविष्ट नहीं हुई थी। किसी घर में देवता की मूर्ति रखकर उसकी पूजा आरम्भ नहीं हुई थी। भिन्न-भिन्न गृह्य-सूत्रों में भी देवताओं की पूजा का विधान नहीं पाया जाता। इससे यह बात निर्विवाद है कि देवपूजा की आह्निक विधि महाभारत-काल के सैकड़ों वर्ष बाद प्रचलित हुई। मूर्ति-पूजा का उद्गम भारत में कबसे हुआ, यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का और गूढ़ है। कुछ लोगों की धारणा है कि बौद्धधर्म के प्रचार होने के पश्चात् मूर्ति-पूजा चल पड़ी।"[1]

बौद्धधर्म के प्रचार के फलस्वरूप वैदिक देवताओं का लोप हो चला था। बुद्ध के निर्वाण के सैकड़ों वर्ष बाद अनेक बौद्धों ने बुद्ध को ही भगवान् मानकर उनकी छोटी-बड़ी प्रतिमाएँ गढ़ना आरम्भ कर दिया। इस कारण

1. **भारत-मीमांसा**

एक समय ऐसा आया जब हिन्दुस्तान में बुद्ध की इतनी अधिक मूर्तियाँ प्रचलित हुईं कि जहाँ देखो, वहीं बुद्ध की मूर्तियाँ और मन्दिर दीख पड़ते थे। बौद्धधर्म बाहर के देशों में भी फैला था। इस कारण विभिन्न देशों में बौद्धों के अनेक मन्दिर और हजारों प्रतिमाएँ हो गई थीं। जिस समय इस्लाम फैला, मुसलमानों ने मूर्तियों को तोड़ना आरम्भ कर दिया। परिणाम-स्वरूप पहले हिन्दुस्तान के बाहरी देशों में बने हुए हजारों बौद्ध-मन्दिरों की मूर्तियाँ तहस-नहस हो गईं। मुसलमानों की भाषा—अरबी-फारसी—में 'बुद्ध' शब्द मूर्ति के अर्थ में प्रचलित हो गया, जो कालान्तर में 'बुत' हो गया। मुसलमानों ने बुत (बुद्ध)-शिकन और बुत-परस्त—ये दो भेद कर दिए, अर्थात् मूर्ति तोड़नेवाला और मूर्ति पूजने वाला।

आरम्भ में तो बुद्ध की देह के अवशिष्ट केश, नख, हड्डियों आदि पर पत्थरों का ढेर बनाकर पूजा आरम्भ हुई थी और कालान्तर में वह बुद्ध की मूर्ति में परिणत हो गया। देखा-देखी अज्ञ जनता को आकृष्ट करने के लिए हिन्दुओं ने विष्णु, शिव, स्कन्द (स्वामी कार्तिक) आदि देवताओं की मूर्तियों की स्थापना मन्दिरों में करना आरंभ किया। परिणाम-स्वरूप तंजोर के मन्दिर में आज लाखों शिवलिंग पाए जाते हैं, जिनमें अनेक काल के प्रवाह में नष्ट-भ्रष्ट होते जा रहे हैं।

ऐसी परिस्थिति में सौती ने जो तीन अध्यायों को 'भारत' में जोड़कर उसका कलेवर बढ़ाया, उसमें मन्दिरों और मूर्तियों का वर्णन किया; क्योंकि उस समय तक मूर्तिपूजा चल पड़ी थी। किसी-न-किसी समय शिव, विष्णु, दुर्गा, दत्तात्रेय और स्कन्द आदि देवताओं की उपासना प्रचलित हो गई थी। दत्तात्रेय ब्रह्मा, विष्णु और शिव को त्रिमूर्तियों के अवतार माने जाने लगे थे। गणेश और स्कन्द मानव-शक्तियों के अधिपति माने जाते थे। उदाहरण स्वरूप भीष्मपर्व के आरम्भ में मन्दिरों और देव-प्रतिमाओं का वर्णन है। वर्णन पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया गया है; क्योंकि वहाँ आया है कि देवताओं की प्रतिमाएँ काँपती हैं, हँसती हैं, मुख से रुधिर वमन करती हैं, देह से पसीना निकाल रही हैं।[1]

---

1. **देवताः प्रतिमाश्चैव कम्पन्ति च हसन्ति च।
वमन्ति रुधिरं चास्यात् सीदन्ति प्रपतन्ति च॥ (भीष्मपर्व, २२।२६)**

प्रतीक के रूप में पूजा के अतिरिक्त महाभारत (वनपर्व ३९-४०) में अर्जुन का शिव के साथ साक्षात् दर्शन, युद्ध तथा स्तुति का वर्णन आया है। लिखा है कि शिव किरात-वेष धारण करके धनुष-बाण लिए नाना वेषधारी भूतों, सहस्रों स्त्रियों और भगवती उमा के साथ वन में अर्जुन के समीप गए और उन्हें मारने की घात में लगे हुए 'मूक' नामक वराह-रूपधारी दानव को अर्जुन और शंकर ने एक साथ ही बाण मारा। बाद में अर्जुन के साथ शिव के विवाद और युद्ध का वर्णन है। किरात-वेषधारी शिव के साथ युद्ध में पराजित होने पर अर्जुन ने शिव की पार्थिव मूर्ति की पूजा की और उसे माला पहनाई। किरात के गले में अपनी चढ़ाई हुई माला देखकर अर्जुन पहचान गया कि वह शिव हैं और उनके चरणों पर पड़ गया तथा स्तुति की। अर्जुन को शंकर ने पाशुपत अस्त्र दिया। उसी प्रकार शान्तिपर्व में भी हम पाते हैं कि दक्ष के शरणागत होने पर हवनकुण्ड से साक्षात् प्रकट होकर उनपर कृपा की (शान्ति० २८४।१५-६०) इसपर दक्ष ने सहस्रनाम द्वारा स्तुति की, जिससे प्रसन्न होकर वरदान देने के बाद शिव अन्तर्धान हो गए (शान्ति० २८४।१८२-९१)। सौप्तिक पर्व के १७वें अध्याय में कुपित होकर शिव द्वारा अपने लिंग को काटने की कथा आई है। कहा गया है कि इस प्रकार भूमि पर डाला गया वह लिंग अग्नि-रूप में प्रतिष्ठित हो गया। (अनुशासन-पर्व, अध्याय १४)

उपमन्यु ने अपनी माता से शिव की महिमा सुनकर उनकी आराधना की। तपस्या, भक्ति, स्तुति, प्रार्थना आदि पर शिव प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हुए और उपमन्यु को वरदान दिया।

इस प्रकार विष्णु की पूजा से सम्बद्ध वर्णन भी (अनु० पर्व १०९) में आया है। शिव-पत्नी उमा का पूजन और कीर्तन का वर्णन (वनपर्व ३७।३३) में आया है। युधिष्ठिर ने इनके दुर्गा-रूप के स्तवन पर दर्शन और वर प्राप्त किया (विराट पर्व, ६)। उमा ने दुर्गा रूप में अर्जुन को प्रत्यक्ष दर्शन देकर वर दिया (भीष्मपर्व, २३।४-१६)। इस प्रकार अनेक स्थानों पर विभिन्न देवताओं के प्रत्यक्ष उपस्थित होने और वरदान देने की कथा स्थान-स्थान पर आई है। इन कथाओं का प्रभाव स्वभावतः अज्ञ जनता पर पड़ा और मूर्ति-पूजा की ओर

अर्थ—देवताओं की प्रतिमाएँ काँपती हैं, हँसती हैं, मुख से रुधिर वमन करती हैं, देह से पसीना डाल रही हैं।

उसकी अभिरुचि बढ़ी। अतः सौती-कृत महाभारत में सिर्फ मूर्ति-पूजा का ही उल्लेख नहीं मिलता, बल्कि विभिन्न देवताओं के साक्षात दर्शन का प्रसंग भी मिलता है। लिंग-पूजा का भी उल्लेख आया है। यथा—

विग्रहं पूजयेद्यो वै लिङ्गं वापि महात्मनः।
पूज्यमाने सदा तस्मिन् मोदते स महेश्वरः॥

यह निश्चित है कि सौती-कृत महाभारत के रचना-काल में मूर्ति-पूजा चल निकली थी; क्योंकि इसीके समकालीन ग्रन्थ पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में मन्दिरों और मूर्तियों का स्पष्ट उल्लेख है। किन्तु इस विशाल ग्रन्थ में यत्र तत्र मूर्ति-पूजा के विरोध के भी श्लोक मिलते हैं। यथा—.

मृच्छिलाधातुदार्वादि मूर्त्तावीश्वरबुद्धयः।
क्लिश्यन्ति तपसा मूढाः परां शान्ति न यान्ति ते॥

अर्थ—मूर्ख लोग मिटटी, पाषाण, धातु अथवा काष्ठ की मूर्तियों को ईश्वर समझते हैं। इन लोगों को कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

अतः इस सम्बन्ध में वैद्य महोदय का विचार है कि "महाभारत-काल में यद्यपि मन्दिर और मूर्तियाँ भी रही हों तथापि आर्यों के आह्निक धर्म कृत्य में अबतक देवताओं की पूजा न थी। यह बात महाभारत और गृह्यसूत्रों से भी निश्चित दीख पड़ती है। वैदिक देवता कुल ३३ माने गए थे। परन्तु तैंतीस देवताओं में से बहुत थोड़े की प्रतिमाएँ बनीं अथवा मन्दिर तैयार हुए।"



पाँचवाँ परिच्छेद

सूत्रकाल

"श्रौतसूत्र ब्राह्मणकालीन कर्मकाण्ड का सारांश-मात्र हैं और कर्मकाण्ड के मुख्य यज्ञों के साथ उनका सम्बन्ध है। इस कारण ब्राह्मण-कर्मकाण्ड के क्षेत्र से बाहर धार्मिक आचार-विचारों में जो विकास हो रहा था, उसकी झलक साधारण रूप से इन सूत्रों में दिखाई देती है। वह प्रायः वैसा ही है जैसा ब्राह्मण-ग्रन्थों में। रुद्र अनेक देवताओं में से केवल एक देवता हैं। और पहले की तरह उनके अनेक नाम— रुद्र, भव, शर्व आदि का उल्लेख हुआ है और इसी प्रकार महादेव, पशुपति, भूतपति आदि अनेक नामों का उल्लेख है। मनुष्यों और पशुओं की रक्षा के लिए रुद्र की प्रार्थना की जाती है। उनको व्याधि-निवारक कहा गया है; और साथ-साथ रोग-नाशक औषधियाँ देनेवाला। रुद्र और अग्नि के तादात्म्य की स्मृति भी अवतक शेष है और रुद्र को एक बार (लाटट्यायन सूत्र ५।३।२ में) अग्निस्विष्टिकृत कहा गया है।"[1]

इस समय ध्यान देने योग्य बात यह है कि शांखायन श्रौतसूत्र में रुद्र का जो एक स्वरूप दीख पड़ता है, उसका ब्राह्मण-ग्रन्थों में उल्लेख नहीं है। इससे हमें यह पता चलता है कि इस समय रुद्र के स्वरूप का विकास किस प्रकार हो रहा था। यह है रुद्र की सहचरी देवता का उल्लेख। इसको भवानी, शिवानी, ईशानी, रुद्राणी और आग्नेयी कहा गया है। यह सब रुद्र के विभिन्न नामों के स्त्रीलिंग रूप मात्र हैं। यज्ञ के इस स्त्री-देवता को हवियाँ देने का भी विधान किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि इस समय तक स्त्री-देवता की; आर्यों के देवगण में विधिवत् गणना होने लगी थी और रुद्र के साथ ही उसकी भी उपासना होती थी। प्राचीन ग्रन्थों में रुद्र-पत्नी का यह प्रथम उल्लेख है। अतः हम कह सकते हैं कि शांखायन श्रौतसूत्र के समय तक सिन्धु-घाटी की देवी की उपासना का, रुद्र की उपासना में समावेश हो गया था।

रुद्र की उपासना का जो स्वरूप श्रौतसूत्रों में मिलता है, लगभग वही स्वरूप धर्म-सूत्रों में भी है, जो समकालीन हैं। बोधायन धर्म-सूत्रों में भी, जो समकालीन हैं, रुद्र की सहचरी स्त्री-देवता के अतिरिक्त दो

1. शैवमत, पृ० ४३

नये देवताओं—विनायक और स्कन्द--का उल्लेख मिलता है। पौराणिक काल में ये दोनों देवगण शिव के पुत्र के रूप में प्रसिद्ध हुए। विनायक आगे चलकर गणेश नाम से विख्यात हुए। इस धर्म-सूत्र में इन देवताओं को विधिवत् मान्यता प्रदान की गई है और इनके लिए तर्पण का विधान भी किया गया है। बाद में विनायक वक्रतुंड, एकदन्त, लम्बोदर और विघ्न-विनायक आदि नाम से प्रसिद्ध हुए। आज गणेश का देवगणों में अग्रगण्य स्थान है। सिर्फ पंचदेवों—(१) विष्णु, (२) शिव, (३) दुर्गा, (४) सूर्य और (५) गणेश—में इनकी गणना ही नहीं है, बल्कि ये आदिपूज्य हो गए हैं।

न बोधायन धर्मसूत्र में और न आरण्यक में ही इस देवता का उल्लेख मिलता है। हाँ, तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१) के एक श्लोक में, जो प्रसिद्ध गायत्री-मंत्र के ढंग पर बना है, किसी देवता का वक्रतुंड और दन्ति कहकर वर्णन आया है। गृह्यसूत्रों से ज्ञात होता है कि आरम्भ में इस देवता को विघ्नों और बाधाओं का देवता माना गया है। विनायक विघ्नकर्त्ता थे, अच्छे कामों में भी बाधा डालते थे, अतएव प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में उनको मनाया जाता था। कुछ भेंट करके उनका विसर्जन कर दिया जाता था और तब मूल कृत्यों का आरम्भ किया जाता था। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि कालान्तर में विनायक का कायाकल्प हो गया। वह जहाँ विघ्नराज थे, वहाँ धीरे-धीरे मंगलकर्त्ता बने। जहाँ पहले भावी विपत्ति टालने के लिए उन्हें प्रसन्न किया जाता था, वहाँ आज उनसे सिद्धि माँगी जाती है। समय की प्रगति से विनायक-पूजा मंगल-कार्य का अनिवार्य अंग हो गई। लिखने-पढ़ने का कार्य भी आज अनेक हिन्दू श्री 'गणेशाय नमः' से आरम्भ करते हैं। स्वभावतः इस परिवर्त्तन में सैकड़ों वर्ष लगे होंगे। अतः विनायक के विकास का इतिहास रोचक और ज्ञानवर्धक है; क्योंकि कालान्तर में गणेश बौद्धधर्म के भी अंग हो गए और सुदूर बाली, तिब्बत, चीन, जापान, तुर्किस्तान आदि देशों में भी आराध्य हुए। श्री सम्पूर्णानन्द के शब्दों में—"पृथ्वी-भर में किसी दूसरे उपास्य के जीवन की गणेश-चरित्र के साथ तुलना नहीं हो सकती। आज बुद्ध, ईसा और मुहम्मद के अनुयायी देश-विदेश में करोड़ों की संख्या में हैं, किन्तु उनके पद एवं स्वरूप में कोई परिवर्त्तन या वृद्धि नहीं हुई है। विघ्नकर्त्ता ग्रामदेव का अपदेव से उठकर सर्वदेवाग्रगण्य बनना, फिर परमात्मा और ब्रह्म-दृष्टि से मान्यता-लाभ करना, विदेशों में पहुँचकर वैरोचन और अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्वों में तादात्म्य प्राप्त

करके योग के अनिर्वचनीय रहस्यों का प्रतीक हो जाना गणेशजी का ही काम है। उनके अप्रतिम व्यक्तित्व के सामने सिर झुकाना ही पड़ता है।"[1]

आज गणेश के उपासकों का एक पृथक् गाणपत सम्प्रदाय हो गया है, और उनको परमात्मा से अभिन्न प्रतिपादित किया गया है। पुराणों और तन्त्रों में गणेश के सम्बन्ध में विशाल वाङ्मय भरा-पड़ा है। भारत में और भारत के बाहर इनकी सैकड़ों विलक्षण मूर्तियाँ मिलती हैं। यहाँ तक कि सुदूर अमेरिका में भी गणेश की मूर्ति खुदाई के बाद पाई गई है।

वेदों में जगह-जगह ३३ देवताओं का उल्लेख है, परन्तु किसी भी वैदिक देव-सूची में गणेश के किसी भी नाम का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु, द्वितीय मण्डल के तेईसवें सूत्र के पहले मंत्र तथा तैत्तिरीय संहिता (२।३।१४।३) के आधार पर अनेक विद्वान गणेश का उल्लेख वैदिक देवता के रूप में पाते हैं। यथा—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत अग्नेः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥
(ऋग्वेद २।२३।१)

अर्थ—हे ब्रह्मणस्पते! तुम देवताओं में दिव्य और कवियों में श्रेष्ठ हो। तुम्हारा अन्न सबमें उत्तम है। तुम प्रशंसा किए हुए में सर्वश्रेष्ठ एवं स्तोत्रों के स्वामी हो। तुम हमारी स्तुति से आश्रय देने के लिए यज्ञ-स्थान में बिराजो। हम तुम्हारा आह्वान करते हैं।

"इस मंत्र की द्वितीय पंक्ति में स्पष्ट ही ब्रह्मणस्पति को सम्बोधित किया गया है। अतः प्रथम पंक्ति का 'गणपति' शब्द उन्हीं के लिए प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्मणस्पति का अर्थ है, ब्रह्मों का पति। सायन के अनुसार 'ब्रह्म' का अर्थ मंत्र है, अतः ब्रह्मणस्पति का अर्थ मंत्रों का स्वामी हुआ। यह उपाधि बृहस्पति को ही दी जाती है, ब्रह्मणस्पति को गणों का गणपति कहा गया है। सायन ने भाष्य में इसका अर्थ किया है—

देवादिगणानां सम्बन्धि गणपतिः—अर्थात् देवादि गणों से सम्बन्ध रखनेवाला गणपति; देवों के गणों के स्वामी। थोड़े में मंत्र बृहस्पति, ब्रह्मों (अर्थात् मंत्रों) के ज्येष्ठराज से जो देवगणों के गणपति और कवियों (ऋषियों, ब्रह्म-

1. **श्री सम्पूर्णानन्द : गणेश, भूमिका**

ज्ञानियों) में कवि (ज्ञातृतम) हैं, यह प्रार्थना करता है कि हमारी स्तुतियों को सुनकर इस यज्ञ-स्थल में विराजिए।"[1]

शुक्ल यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के पच्चीसवें मंत्र में भी 'गणपति' शब्द आया है :—**नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो नमो गृत्सेभ्यो गृत्सविभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः।** अर्थात् देवताओं के अनुचर गणों को नमस्कार, गणों के अधिपति को नमस्कार, विशिष्ट जाति-समूहों को नमस्कार, समूहों के अधिपति को नमस्कार, बुद्धिमानों और विषयियों को नमस्कार, बुद्धिमानों के पालक को नमस्कार, विविध रूपवालों को नमस्कार और विश्वरूप रुद्र को नमस्कार।

महीधर अपने भाष्य में लिखते हैं—**देवानुचरा भूतविशेषगणाः गणानां पालकाः गणपतयः**—कि देवों के अनुचर भूत-विशेष गण होते हैं, उनके पालक गणपति कहलाते हैं। यहाँ रुद्र के गणों की ओर संकेत तो हो सकता है, पर ध्यान देने की बात है कि 'गणपति' शब्द बहुवचन में आया है। मंत्रद्रष्टा ऋषि की दृष्टि में कोई एक गणपति नामधारी देव नहीं है, वरन् देवों के अनुचरों के कई नायक हैं। वह उन सबको प्रणाम कर रहा है। प्रणाम इसलिए किया जा रहा है कि यह सब रुद्र-रूप है। परन्तु, इतने से ही इन गणों या गणपतियों की महत्ता प्रदर्शित नहीं होती; क्योंकि इस अध्याय में कुम्भकारों, शस्त्रधारियों, चोरों, कुत्तों, घोड़ों यानी थोड़े में समस्त जगत को रुद्र-रूप मानकर प्रणाम किया गया है।

गणपति का तीसरा उल्लेख शुक्ल-यजुर्वेद के तेईसवें अध्याय के उन्नीसवें मंत्र में इस प्रकार है :

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा-त्वमजासि गर्भधम् ॥ २३।१९

अर्थात् हे गणपते! तुम सब गणों के स्वामी हो। हम तुम्हें आहूत करते हैं। हे प्रियों के मध्य में निवास करनेवाले प्रियों के स्वामी, हम तुम्हें आहूत करते हैं। हे निधियों के मध्य निवास करनेवाले निधिपते! हम तुम्हें आहूत करते हैं, तुम हमें श्रेष्ठ निवास देनेवाले और रक्षक हो। तुम गर्भधारक जल

1. **श्री सम्पूर्णानन्द : गणेश, पृ० १**

को सब प्रकार आकर्षित करते हो। तुम गर्भ धारण करनेवाले को अभिमुख करते हो। तुम समस्त पदार्थों के रचयिता होते हुए सब प्रकार से अभिमुक्त होते हो ॥ (आचार्य श्रीराम शर्मा)

"यह मंत्र अश्वमेध के प्रसंग में आया है। यजमान की पत्नी, राजमहिषी मरे हुए घोड़े की परिक्रमा करके समीप लेट जाती है। इसी अवसर पर वह इस मंत्र को पढ़ती है। इसमें अश्व को सम्बोधित किया गया है, इसलिए महीधर के शब्दों में "अश्वदेवत्यम्" है—इसका देवता अश्व है। उवट और महीधर दोनों भाष्यकारों ने इसका यह अर्थ किया है: "हे गणों के गणपति अर्थात् स्त्रीगण के मध्य में पालक, गण के स्वामी, प्रियों के प्रियपति अर्थात् वल्लभों के बीच में प्रिय के पालक, निधियों के निधिपति अर्थात् सुख-निधियों के पालक, हम तुम्हारा आह्वान करते हैं; हे वसुरूप अश्व, तुम हमारे पति हो; गर्भ धारण करनेवाले रेत को मैं खींचकर छोड़ती हूँ। तुम भी गर्भ धारण करनेवाले रेत (वीर्य) को खींचकर छोड़ो।"[1]

वेदों के अर्वाचीन सनातन धर्मावलम्बी अनुवादक पं० रामस्वरूप शर्मा तथा आचार्य श्रीराम शर्मा अथवा आर्य-समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुवाद से भी इस मंत्र में गणेश की झलक भी नहीं मिलती। यद्यपि वैदिक देवताओं में स्पष्टतः गणेश की कहीं गणना नहीं है, तथापि इस मंत्र का गणेश-पूजा में पाठ होता है, परन्तु बहुत कम लोगों का ध्यान वास्तविकता की ओर जाता है।

प्राचीन दस उपनिषदों में और सर्वोपरि श्वेताश्वेतर-उपनिषद् में, जो रुद्र-सम्बन्धी श्लोकों से भरपूर है, गणेश का कहीं उल्लेख नहीं है। किन्तु बहुत बाद की साम्प्रदायिक गणपत्युपनिषद् में, जिसकी भाषा और शैली स्पष्टतया अर्वाचीन है, पन्द्रहवें श्लोक में गणपति, गणेश, एकदन्त, वक्रतुंद, दन्ति, लम्बोदर और शिवपुत्र के नाम से स्तुति है। इस उपनिषद् में (१।६) गणेश को ब्रह्म का स्वरूप कहा गया है। यथा—

नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रथमपतये नमस्तेऽस्तु लम्बो-
दरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवपुत्राय वरदमूर्त्तये नमो नमः ॥

शिवपुत्र नाम से स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक काल में शिव के पुत्र होने की कथा की पुष्टि के बाद इस उपनिषद् की रचना हुई।

1. सम्पूर्णानन्द : गणेश, पृ० २

संहिताओं में दिए हुए मंत्रों का विनियोग ब्राह्मण और आरण्यक-ग्रन्थों के मुख्य विषय हैं। ऐतरेय ब्राह्मण का सम्बन्ध ऋग्वेद से है। यह ब्राह्मण (१।२१) गणपति को ब्रह्मस्पति या बृहस्पतिवाचक मानता है। तैत्तिरीय आरण्यक में यह मंत्र आया है

तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नोदन्तिः प्रचोदयात् ।

इस उपनिषद् में इस मंत्र के पाठ करने का माहात्म्य बताया गया है। कहा है कि इसका पाठ करनेवाला पुरुष ब्रह्मत्व-प्राप्ति का अधिकारी होता है। उसके लिए किसी प्रकार का विघ्न बाधा नहीं उत्पन्न करता। वह सभी स्थानों पर सुखी रहता है। पाँचों प्रकार के पापों से वह मुक्त होता है और प्रातःकाल पाठ करनेवाले के रात्रि में किए हुए पाप कट जाते हैं। प्रातः-सायं दोनों काल में पाठ करने से पाप-रहित ही नहीं होता, बल्कि इसका पाठक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पाता है।

इस मंत्र में वक्रतुण्डी की जगह महादेव और दन्ति की जगह रुद्र कर देने से प्रसिद्ध रुद्रगायत्री-मंत्र बन जाता है। यथा :—

तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।

"इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि दन्ति (या दन्ती) हमको प्रेरित करे। दन्ति का अर्थ हुआ दाँतवाला। उनका विशेषण है वक्रतुण्ड, टेढ़ी सूँड-वाला। दन्ति में दाँतों की संख्या का निर्देश नहीं है, परन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसा नाम उसी को दिया जा सकता है, जिसके दाँतों में कोई विशेषता हो। ऐसी दशा में स्वभावतः गणेशजी के एकदन्त, एकरदन जैसे नामों की ओर ध्यान जाता है और यह अनुभव होता है कि ये गणेशजी के ही नाम हैं। वक्रतुण्ड इसी अनुमान को पुष्ट करता है।"[1]

श्री सम्पूर्णानन्द का विचार है कि जिस समय इस आरण्यक का प्रचार हुआ, उस समय वक्रतुण्ड दन्ति उन महादेव रुद्र से अभिन्न माने जाते थे, जो तत्पुरुष नाम से भी पुकारे जाते हैं। कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है कि संहिताओं में उनका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। श्रुति में ३३ देवों की बराबर चर्चा हुई है। इन ३३ देवों में इन्द्र और बृहस्पति के सिवा ८ वसु, १२ आदित्य और ११

1. श्री सम्पूर्णानन्द : गणेश, पृ० २

रुद्र हैं। किन्तु किसी भी वैदिक देव-सूची में गणेश का किसी भी नाम से अन्तर्भाव नहीं मिलता। यह भी सम्भव है कि आरण्यकों की रचना के समय तक रुद्र का आत्मसात अनार्य-देवता में हो जाने के फलस्वरूप उनके पुत्र के रूप में गणेश की मान्यता हो चली हो। जो भी हो, इन आरण्यकों के मंत्रों से मूर्तिपूजा का कहीं संकेत नहीं मिलता।

बोधायन धर्मसूत्र (२।५।६-७) में एक दूसरे देवता का उल्लेख हुआ है। वह है स्कन्द। विनायक की तरह इस देवता के लिए तर्पण का विधान किया गया है, और इसी से पता चलता है कि इसको भी विनायक के समान ही विधिवत् मान्यता प्राप्त थी। इसके अतिरिक्त इस सूत्र में ही इनके अन्य नामों का भी उल्लेख किया गया है; जैसे—षण्मुख, जयन्त, विशाख, सुब्रह्मण्य महासेन आदि। इन नामों से निश्चित हो जाता है कि यह वही देवता है, जो आगे चलकर कार्तिकेय तथा सुब्रह्मण्यम् नाम से क्रमशः उत्तर और दक्षिण भारत में प्रसिद्ध हुआ। परन्तु इस देवता के विषय में कुछ और नहीं कहा गया है और इस एक संदर्भ में उसका रुद्र के साथ क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्टतया ज्ञात नहीं होता। यह देवता आज दक्षिण भारत में तीन मुख्य देवताओं—(१) विष्णु, (२) शिव और (३) सुब्रह्मण्यम्—में एक है।

गृह्यसूत्रों में भी रुद्र की पत्नी और रुद्र के पुत्रों का उल्लेख स्पष्टतया धर्मसूत्रों की तरह आया है, परन्तु गृह्यसूत्रों से जो सामग्री उपलब्ध होती है, उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण वह है, जो रुद्र की उपासना में एक बिलकुल नई प्रवृत्ति पर प्रकाश डालता है—मूर्तिपूजा। गृह्यसूत्रों में ही पहले-पहल रुद्रादि देवताओं की मूर्तियों के प्रतिष्ठापन और पूजन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। बोधायन गृह्यसूत्र में रुद्र की मूर्ति की स्थापना (३।२।१६।१-४३) का विस्तृत वर्णन आया है। रुद्र की प्रतिमा को स्नान कराते हुए (२।२।१८) कहा गया है—

आराधितो मनुष्यैस्त्वं सिद्धैर्देवासुरादिभिः ।
आराधयामि शक्त्या त्वाऽनुग्रहाण महेश्वर ॥

यहीं पर पहली बार शिवलिंग का भी उल्लेख आया है। मानवाकार मूर्तियों के साथ लिंग-मूर्ति का भी वर्णन किया गया है (३।२।१६।१-४३)। यथा—

पुष्पफलाक्षतमिश्रयवदुर्वाङ्करं पादपीठे निक्षिपति ······नमस्ते रुद्रमन्यव इति ······तेन ······

**नमस्ते अस्तु धन्वने इत्यष्टाभिः स्नापयति........
हिरण्येन तेजसा चक्षुर्विमोचयेत् तेजऽसीति
लिङ्गो चोन्निवर्त्तते चक्षुषोरभावात् ।**

इससे स्पष्ट है कि वोधायन गृह्यसूत्र के समय तक रुद्र की उपासना लिंग-रूप में प्रचलित हो गई थी। लिंग को केवल भगवान शिव का एक प्रतीक माना जाता था और उसकी उपासना फल, फूल आदि द्वारा ठीक उसी प्रकार की जाती थी, जिस प्रकार उनकी मानवाकार मूर्तियों की।

लिंगोपासना के प्रचलन से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि धर्मसूत्र-काल तक आर्य और अनार्य का पूण रूप से सम्मिश्रण हो चुका था।

इसी धमसूत्र में रुद्र की मूर्ति-पूजा के साथ-साथ विष्णु की मूर्तियों के प्रतिष्ठापन का भी विधान मिलता है (३।२।१३।१६)।

दो प्रधान देवता रुद्र और विष्णु के साथ-साथ गृह्यसूत्रों में रुद्र की पत्नी को भी स्थान मिला है। इस समय रुद्र की पत्नी एक स्वतंत्र देवता के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। रुद्र की मूर्तियों की पूजा के साथ इनकी पूजा की विधियाँ भी बताई गई हैं और पहली बार इन्हें दुर्गा कहा गया है (३।३।२-३)।[1]

वोधायन गृह्यसूत्र (३।३।१०) में विनायक का उल्लेख और पूजा-विधि आई है। "संक्षेप में विनायक सामान्य रूप से उत्पाती जीव माने जाते थे और मनुष्यों के साधारण व्यापार में उनके कारण बाधाएँ न पड़ें, इस उद्देश्य से उनको संतुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता था। इसलिए जो विधियाँ बताई गई हैं, उनमें जादू-टोनों का पुट अधिक है और उनके स्वरूप स्पष्ट ही अथर्व-वेदीय हैं। पता चलता है कि विनायक जनसाधारण के प्रचलित विश्वासों के क्षेत्र के जीव थे। ये विधियाँ तम-निवारक सूर्य के स्तवन के साथ समाप्त

1. आपोहिष्ठामयो भुवः इति तिसृभिः हिरण्यवर्णाः इति चतसृभिः पवमानाः इत्येतेनानुवाकेन मन्त्रयित्वा आर्यायै रौद्रायै महाकाल्यै महायोगिन्यै सुवर्णपुष्प्यै देवसंकीर्त्यै महाचक्र्यै (यक्ष्यै) महावैष्णव्यै महापृथिव्यै मनोगम्यै शङ्खधरिण्यै नमः इति——सावित्र्यै :—भगवत्यै दुर्गादिव्यै हविर्निवेदयामि इति हविर्निवेद्य शेषम् एकादश नामधेयै हुत्वा पञ्चदुर्गा जपेत् दशस्वस्ति जपेत्।

होती थीं और इससे हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि विनायक को अन्धकार और नदी का जीव माना जाता था।"[1]

गृह्यसूत्रों में विनायक विघ्नकारी से बढ़कर विघ्नपति हो गया है और विघ्नों के नाश के लिए तथा फिर सामान्य रूप से सफलता के लिए प्रार्थना की जाती है (बोधायन गृह्यसूत्र ३।३।१०)। प्रार्थना यों है—

विघ्नविघ्नेश्वरागच्छ विघ्नित्येव नमस्कृत।
अविघ्नय भवान् सम्यक् सदा स्माकं भव प्रभो॥
कृते यदि मया प्राप्तं श्रद्धया वा गणेश्वर।
उत्तिष्ठ सगणः साधो याहि भद्रं प्रसीदताम्॥

यहाँ विनायक उत्तरकालीन गणेश का आदिरूप है। बोधायन गृह्यसूत्र में इसका एक स्त्री-देवता के साथ साहचर्य भी बताया गया है, जिसका नाम 'ज्येष्ठा' है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि विनायक के समान ही इसको भी हस्तिमुखा कहा गया है (बोधायन गृह्यसूत्र ३।३।९)।

अतः उत्तर-वैदिक साहित्य में विनायक का इस प्रकार सहसा उल्लेख और अपरकाल में शिव के साथ उसका घनिष्ट संबंध हो जाना एक आश्चर्यजनक घटना है। बोधायन गृह्यसूत्र (३।९) में जहाँ विनायक का उल्लेख किया गया है, वहाँ उसे भूपति, भूतपति, भूतानांपति और भुवनपति की उपाधियाँ दी गई हैं। ये उपाधियाँ साधारणतया रुद्र के लिए प्रयुक्त होती हैं। पुराणों में शिव को बहुधा गणेश की उपाधियाँ दी गई हैं और गणेश को भी प्रायः शिव के अनेक गुणों से विभूषित किया गया है। हम पहले कह आए हैं कि आरम्भ में मूषक रुद्र का वाहन था; किन्तु उत्तर-वैदिक काल में मूषक अनिवार्य रूप से गणेश का वाहन माना जाने लगा और शिव का नहीं। पुराणों ने इसकी पुष्टि की है। इससे यह प्रबल धारणा बनती है कि कुछ विशेष पहलुओं से देखने पर शिव और गणेश का स्वरूप परस्पर बहुत भिन्न नहीं था। अतः यह सम्भव हो सकता है कि प्रारम्भ में ये दोनों देवता एक ही थे।

इस संबंध में डॉ० यदुवंशी का कहना है कि 'देवताओं में एक देवता द्वारा अन्य देवताओं को आत्मसात कर लेने की प्रक्रिया तो काफी प्रचलित है।

1. शैवमत, पृष्ठ ५०।

परन्तु एक विपरीत प्रक्रिया भी देव-कथाओं में चलती है, अर्थात् एक ही देवता के विभिन्न रूपों का विकास होते-होते अनेक स्वतंत्र देवताओं का अस्तित्व हो जाना। रुद्र और विनायक के संबंध में यही विपरीत प्रक्रिया काम करती हुई दृष्टिगोचर होती है। प्रारम्भ में विनायक रुद्र के रूप का ही नाम था, परन्तु जैसे-जैसे इस रूप का विकास होता गया, उस प्रारम्भिक तादात्म्य की स्मृति मिटती गई और अन्त में दोनों स्वतंत्र देवता बन गए और साथ ही गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा। और, पिता-पुत्र का संबंध उपयुक्त है भी; क्योंकि रुद्र के एक रूप में गणेश का जन्म हुआ।[1]



1. शैवमत, पृष्ठ ५२

दूसरा खण्ड

पहला परिच्छेद

पाणिनि-काल

भारतीय युद्धकाल में आर्यों का धर्म केवल वेद-विहित था, किन्तु आगे चलकर महाभारत रचना-काल में वैदिक देवताओं के सिवाय कुछ और देवता समाविष्ट हो गए। वैदिक देवताओं के अग्रगण्य इन्द्र पीछे पड़ गए और शिव तथा विष्णु की मूर्ति पूर्णरूप से स्थापित हो गई। विद्वानों की मत है कि भारतीय युद्ध से लेकर महाभारत की रचना तक दो-ढाई हजार वर्ष बीते और इस अवधि में आर्य-धर्म का रूपान्तर हो गया। "वैदिक काल में ईश-भक्ति की विशेष क्रिया संध्या और यज्ञ थे। वेदाध्ययन और यजन तीनों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—में जीवित और जाग्रत थे। परन्तु भारतीय काल में आर्यों और अनार्यों के समाज में एवं धर्म में पूर्णतया मिश्रण होकर जो धर्म स्थिर हुआ, उसमें यद्यपि ब्राह्मणों में वेदाध्ययन और अग्निहोत्र बने रहे थे, तथापि अन्य वर्णों में शिव, विष्णु, स्कन्ध और दुर्गा की पूजा प्रचलित हो गई। इसके अतिरिक्त इसी समय इन देवताओं की प्रतिमाएँ और इनके लिए मन्दिर बने। अज्ञ लोगों में निरे भूत-पिशाचों की ही भक्ति, स्कन्द के साथ अस्तित्व में आ गई थी और यह भी प्रकट है कि बौद्धों के स्तूपों की पूजा का निषेध किया गया। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि महाभारत-युद्ध के पश्चात् ढाई-तीन हजार वर्षों के अंतर्गत भारत में मूर्ति-पूजा का प्रचार हुआ। बौद्धों के स्तूपों की पूजा का निषेध भी यह सिद्ध करता है कि महाभारत-ग्रन्थ में यह सम्मिश्रण बौद्धकाल में हुआ जबकि बुद्ध की पूजा प्रचलित हो चुकी थी।"[1]

यह ठीक है कि प्राचीन काल में सरस्वती, लक्ष्मी आदि की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बनती थीं। वर्तमान समय में भारतमाता के चित्र की कल्पना भी ऐसी ही वस्तु है। न इसमें कोई दोष है और न हानि। पाश्चात्य देशों में अनेक महापुरुषों की मूर्तियाँ स्थान-स्थान पर प्रतिष्ठित हैं और विशेष अवसरों पर उनके प्रति जनता आदर प्रदर्शित भी करती है। किन्तु यह आदर-प्रदर्शन मूर्ति-पूजा नहीं है। स्थान-स्थान पर मूर्तियों के उल्लेख से यह भी धारणा

1. महाभारत की मीमांसा : वैद्य

होती है कि कला अथवा शौर्य-पूजा की दृष्टि से उस समय भवनों में कतिपय मूर्तियाँ रखी जाती हों; किन्तु मूर्तिपूजा का उल्लेख हमें महाभारत-युद्धकाल तक वास्तव में नहीं मिलता।

प्राचीन ग्रन्थों में सर्वप्रथम पाणिनि के व्याकरण-सूत्रों में मूर्तियों और मंदिरों का प्रामाणिक उल्लेख हम पाते हैं। अधिकांश विद्वान् पाणिनि का समय ईसा से चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व मानते हैं। पाणिनि ने अपने सूत्रों में निम्नलिखित वैदिक देवताओं का उल्लेख किया है :

(१) अग्नि, (२) इन्द्र, (३) वरुण, (४) भव, (५) शर्व, (६) रुद्र, (७) मृड, (८) वृषाकपि, (९) पूषा, (१०) अर्यमा, (११) त्वष्टा, (१२) सूर्य, (१३) वायु, (१४) महेन्द्र, (१५) अपानप्तृ, (१६) सोम और (१७) नासत्य। कुछ जुड़वाँ देवताओं के भी नाम हैं—अग्नि-सोम, अग्नि-वरुण, द्यावापृथिवी, शुनासीर, सोम-रुद्र, इन्द्र-पूषा, शुक्रामन्थी। पाणिनि के समय में मास, ऋतु, संवत्सर सभी को देवताओं के नाम-पद प्राप्त हो चुके थे। पाणिनि ने स्वयं ऋतु को (४।२।३१) देवता कहा है। देवत्व-प्रदान की नई पद्धति के परिणाम-स्वरूप जितने नक्षत्र थे, वे सब-के-सब देवता मान लिए गए।

"देवताओं के विषय का दृष्टिकोण धर्म के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन का सूचक है। यह भक्ति-प्रधान दृष्टिकोण था। पाणिनि के युग में भक्ति-धर्म का उदय भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। इसका परिणाम समाज और व्यक्ति के जीवन पर व्यापक हुआ। वैदिक यज्ञों में जो पुरातनकाल की आस्था थी, उसके साथ-साथ एक प्रतिद्वन्द्वी दृष्टिकोण भी मान्य हो गया। यह विशेष देवताओं के प्रति भक्ति या विश्वास था, जिससे उनको प्रसन्न करके उनका वरदान या प्रसाद प्राप्त किया जा सकता था। भक्ति-धर्म की स्वीकृति का प्रभाविक फल कई प्रकार से देखने में आया। एक तो लोक-धर्म में जो सैकड़ों प्रकार के छोटे-मोटे देताव थे, उन सबकी पद-प्रतिष्ठा बढ़ी और उनके लिए त्रैवर्णिक समाज में द्वार उन्मुक्त हो गया। फलतः यक्ष, नाग, भूत, पिशाच, ग्रह, रुद्र, देवी, वृक्ष, नदी, गिरि आदि को देवता मानकर उन्हें पूजने की जो परम्परा लोक में चली आती थी, उन्हें सार्वजनिक रूप में मान्यता मिल गई। उच्चवर्ण के घरों में भी इन देवताओं का निरवरोध प्रवेश हो गया। वैदिक धर्म के देवता और

उन्हें प्रसन्न करने की यज्ञ-पद्धति नए भक्ति-धर्म के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर प्रकट हुए और देखते-देखते समाज में सर्वत्र उनकी धाक जम गई। यहाँ तक कि स्वयं वैदिक देवता और उनके प्रति किए जानेवाले यज्ञ पिछड़ गए। पाणिनि के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् अशोक ने इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख किया है—**अमिसादेवा मिशा कटा,** अर्थात् जो देवता पहले अलग थे, वे अब वैदिक देवताओं के साथ, बौद्धधर्म के साथ और उच्च धर्म की पूजा-पद्धति के साथ घुल-मिलकर एक हो गए।"[1]

भक्ति-धर्म के उदय का दूसरा प्रभाव पूजा की पद्धति पर पड़ा। यह प्राचीन यज्ञ-विधि से सर्वथा भिन्न थी। "भक्ति-धर्म का तो प्रभाव यह हुआ कि पुरुष विशेष देवता के रूप में पूजित हुए। एक ओर बौद्धों और जैनों ने बुद्ध और महावीर को भक्ति-धर्म की पूजा-विधि और मान्यता का लक्ष्य बनाया और उसके लिए स्तूप और चिह्नों की कल्पना करके धर्म का बाह्य रूप खड़ा किया। उसने जनसाधारण के मन को अपनी ओर खींच लिया। दूसरी ओर, हिन्दू-समाज पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। फलतः वासुदेव कृष्ण को देवता मानकर उनकी भक्ति का आदर्श नए रूप में समाज के सामने आया। बुद्ध और महावीर जैसे क्षत्रिय पुरुष-विशेष थे, वैसे ही कृष्ण भी क्षत्रिय पुरुष-विशेष थे। ऐसे देवताओं को मनुष्य प्राकृतिक देव कहते थे, अर्थात् जिनकी मूल प्रकृति मनुष्य की थी, पर जो देवता मान लिए गए।"[2]

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' (५।३।९६) में देव-मूर्तियों का वर्णन है तथा (५।२।१ में) 'अर्चा' अर्थात् प्रतिमा शब्द का उल्लेख आया है। अतः ज्ञात होता है कि मूर्ति-पूजा का सूत्रपात भारत में याज्ञिक विधानों की अनुरूपता को लेकर हुआ। पर यह कब और किसके द्वारा हुआ, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। किन्तु पाणिनि के युग में कृष्ण वासुदेव की भक्ति के विकास को प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। श्रीकृष्ण वासुदेव की भक्ति करनेवाले वासुदेवक कहे जाते थे। कृष्ण के साथ-साथ उनके अभिन्न सखा अर्जुन की पूजा भी प्रचलित हो चली थी और कालान्तर में इनके धार्मिक साहचर्य का दूसरा रूप नर-नारायण की सहपूजा थी, जिसमें नारायण

1. **पाणिनिकालीन भारतवर्ष : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल**
2. **वहीं**

प्रधान और नर उनके सखा थे। इसी को नारायणीय धर्म कहा गया। महाभारत (शान्ति-पर्व ३३९) में नारायणीय धर्म का विशेष रूप से वर्णन है। वासुदेव और अर्जुन का ही नामान्तर नर-नारायण है। वेदों में भी देवताओं के जोड़े या साहचर्य का उल्लेख है—जैसे अ.ग.-वरुग, इन्द्र-सोम, इन्द्र-बृहस्पति। इस संबंध में डॉ० अग्रवाल का कथन है कि "नर-नारायण की भाँति 'संकर्षण और वासुदेव' नए भक्ति-धर्म, का मुख्य सूत्र बन गया। इसी में आगे चलकर प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के मिलने से चतुर्व्यूह का स्वरूप पूरा हुआ। साम्ब को साथ लेकर पंचवृष्णि वीरों की कल्पना पूर्ण हुई, जो पञ्चरात्र-धर्म की सुनिष्पन्न मान्यता बनी। भारत के धार्मिक इतिहास में यह परिवर्तन बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसकी गूँज पाणिनि के **वासुदेवार्जुनाभ्यावुन** (४।३।९८) में सुनाई देती है। भागवत-धर्म के इतिहास में पाणिनीय सूत्र की प्रमाण-साक्षी अमूल्य है।

चतुर्व्यूह का सम्यक् वर्णन महाभारत (शान्ति-पर्व, अध्याय ४९) में आया है। यह विचारणीय है। कहा गया है कि श्वेतद्वीप में पहुँचकर देवर्षि नारद भगवान विष्णु के दर्शन की इच्छा से उनके नाम की दो सौ नामों द्वारा स्तुति करने लगे। स्तुति पर विश्व-रूप धारण कर भगवान ने उन्हें दर्शन दिया। भगवान का रूप विलक्षण था। सनातन भगवान श्रीहरि अपने स्वरूप में नाना प्रकार के रंग धारण किए हुए थे। उनके हजारों नेत्र, हजारों मस्तक, हजारों पैर, हजारों उदर और हजारों हाथ थे। वे अपूर्व कान्ति से संपन्न थे और उनकी आकृति अव्यक्त थी। सबको वश में रखनेवाले भगवान नारायण एक मुख से तो ओंकार तथा उससे संबंध रखनेवाले गायत्री का जप करते थे एवं अन्यान्य मुखों से चारों वेदों और उनके आरण्यक भाग का गान कर रहे थे (शान्ति-पर्व, ३३९।२१-२५)। भगवान ने कहा—"विप्रवर धर्म के घर में अवतीर्ण हुए, वे नर-नारायण आदि चारों भाई मेरे ही स्वरूप हैं; अतः तुम सदा उनका भजन किया करो तथा जो कार्य प्राप्त हो उसका साधन करो। जो नेत्रों से देखा नहीं जाता, त्वचा से जिसका स्पर्श नहीं होता, गंध ग्रहण करनेवाली घ्राणेन्द्रिय नली से जो सूँघने में नहीं आता, जो रसेन्द्रिय की पहुँच से परे है, सत्, रज एवं तम नामक गुण जिसपर कोई प्रभाव नहीं डालते, जो सर्वव्यापी, साक्षी और सम्पूर्ण जगत का आत्मा कहलाता है, सम्पूर्ण प्राणियों का

नाश हो जाने पर भी जो स्वयं नष्ट नहीं होता, जिसको अजन्मा, नित्य, सनातन, निर्गुण और निष्क बताया गया है, जो चौबीसों तत्त्वों से परे पच्चीसवें तत्त्व के रूप में विख्यात है, जिसे अन्तर्यामी पुरुष निष्क्रिय तथा ज्ञानमय नेत्रों से ही देखने योग्य बताया जाता है, जिसमें प्रवेश करके श्रेष्ठ द्विज मुक्त हो जाता है, वही सनातन परमात्मा है। उसी को वासुदेव नाम से जानना चाहिए। संसार में उस एकमात्र सनातन पुरुष वासुदेव को छोड़कर कोई भी चराचर भूत नित्य नहीं है।"

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि नारायणीय धर्म, जिसमें नारायण प्रधान हैं और नर उनके सखा-रूप में है, एक ईश्वर के रूप में प्रचलित हुआ। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से इस विचारधारा का आरम्भ उसी युग में हुआ होगा। वासुदेव और अर्जुन का ही नाम नर-नारायण है। इस मान्यता से एक धार्मिक दृष्टिकोण पल्लवित हुआ कि एक ही शक्ति नर और नारायण के दो रूपों में विकसित हुई। डॉ० अग्रवाल का कथन है कि 'वासुदेव कृष्ण की परिवार-कल्पना का दूसरा स्वरूप और भी अधिक व्यापी एवं स्थायी हुआ। वह चतुर्व्यूह या पञ्चरात्र की कल्पना थी। उसके अनुसार पहले तो वासुदेव और संकर्षण इन दोनों का जुड़वाँ रूप लोक में प्रसिद्ध हुआ। इसे ही व्याकरण के उदाहरणों में वासुदेव-संकर्षण कहा गया है (८।१।१५)। इस प्रकार के जुड़वाँ देवता की कल्पना पहले से चली आती थी। वासुदेव और संकर्षण तो उसी प्रथा का नया दृष्टान्त थे। देवता द्वन्द्वे च (६।३।२६) सूत्र से ज्ञात होता है कि ऐसे कुछ देवताओं के जोड़े के साहचर्य का विश्वास वैदिक देवताओं के विषय में भी था; जैसे इन्द्र-सोमौ, इन्द्र-बृहस्पति आदि। साथ ही कुछ देवता ऐसे थे, जिनका साहचर्य लोक में प्रसिद्ध था, जैसे ब्रह्म-प्रजापति, शिव-वैश्रवण आदि। नर-नारायण की भाँति संकर्षण और वासुदेव नए भक्ति-धर्म का मुख्य सूत्र बन गए। इसी में आगे चलकर प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के मिलने से चतुर्व्यूह का स्वरूप पूरा हुआ।'

इस चतुर्व्यूह की दृष्टि हमें महाभारत (शान्ति-पर्व ३३९।१०२) में मिलती है। पञ्चरात्र या पञ्चायतन के संबंध में डॉ० मुंशीराम शर्मा[1] का विचार है

1. **डॉ० मुंशीराम शर्मा :** भक्ति का विकास, पृष्ठ २३५-३६

कि "प्रकृति की पूजा पञ्चायतन में अभिव्यक्त हुई है। वष्णवी की व्यूह-पूजा में जो नाम आते हैं, वे भी प्रकृति की मूल विकृतियों के ही नाम हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी (५।३।९६) में देवमूर्तियों का वर्णन है तथा उसमें (५।२।१०) 'अर्चा' अथवा 'प्रतिमा' शब्द का उल्लेख है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र (२।४) में विष्णु-मन्दिर के निर्माण की आज्ञा वर्णित है तथा शिव और वैश्रवण की मूर्तियों का उल्लेख है। ये मूर्तियाँ मन्दिर में प्रतिष्ठित की जाती थीं। इस मूर्ति-पूजा का सूत्रपात इस देश में याज्ञिक विधानों की अनुरूपता को लेकर हुआ; पर वह कब और किसके द्वारा हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। वेद में प्रतिमा-पूजा का विधान किसी भी स्थल पर नहीं है। अतः बहुत दिनों तक वैदिकों तथा भागवतों में विषमता रही। कूर्मपुराण से स्पष्ट है—

न वेदबाह्ये पुरुषे पुण्यलेशोऽपि शंकर ।
सङ्गच्छते महादेव पुण्यो वेदविनिर्बभौ ॥ (१४।१२४)

यह श्लोक पाञ्चरात्रों को वेदबाह्य तथा पुण्यबाह्य कहता है। पराशर-पुराण, वसिष्ठसंहिता, सूत-संहिता, आश्वलायन-स्मृति आदि भी पाञ्चरात्रों को अवैदिक मानते हैं। इसके विपरीत महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण आदि पाञ्चरात्रों का समर्थन करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत-धर्म प्रारम्भ मे वेद-बाह्य समझा जाता था। इसे वेद-परक सिद्ध करने के लिए इसके अनुयायियों ने प्रभूत परिश्रम किया। यमुनाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'आगम-प्रामाण्य' में पाञ्चरात्र-धर्म को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए अथक परिश्रम किया है।"

इस प्रकार पाणिनि के युग में न केवल भागवत-धर्म की नींव पड़ चुकी थी, बल्कि लोक में उसका समृद्ध रूप भी प्रकट हो रहा था। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में पाणिनि के प्रायः सौ वर्ष पश्चात् हमें कृष्ण और कंस के उपाख्यान का और विष्णु के प्रसाद या देव-मन्दिर के निर्माण का उल्लेख मिलता है। दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के एक शिलालेख में, जो चित्तौड़ के पास पाया गया है, वासुदेव को सब देवों से श्रेष्ठ कहा गया है। अतः ज्ञात होता है कि मौर्यकाल में भागवत-धर्म का व्यापक आन्दोलन अस्तित्व में आ चुका था, जिसने भारत के धार्मिक रंगमच पर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में देवतावाचक एक शब्द 'महाराज' आया है और उसके प्रति भक्ति का भी उल्लख ह। 'महाराज' देवता के भक्त महाराजिक

कहलाते थे। ज्ञात होता है कि महाराज देवता वैश्रवण या कुबेर की संज्ञा थी। यक्षों के राजा होने के बाद कुबेर 'महाराज' कहलाए। जातक (६।२६५) में वैश्रवण कुबेर को 'महाराज' कहा गया है। डॉ० अग्रवाल का कथन है कि "गृह्यसूत्रों में भी महाराज या वैश्रवण की पूजा का उल्लेख आया है। गृहहोम या हवि के अन्त में वैश्रवण की स्तुति का मंत्र उच्च घोष से पढ़ा जाता था, जिसमें उसे राजाधिराज अर्थात् यक्षों का अधिपति कहा है।"[1]

पातञ्जल योगदर्शन के निर्माता ने ईसा से डेढ़ सो वर्ष पूर्व पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्र (४।३।९८) पर जो भाष्य लिखा है, उसके अनुसार वासुदेव कृष्ण और संकर्षण के लिए मन्दिर थे और उनकी पूजा की जाती थी। अतः भागवतों का आराध्यदेव वासुदेव और उनके नाम से प्रचलित संप्रदाय विक्रम संवत् से कई सौ वर्ष पूर्व ही इस देश में भागवत संप्रदाय के नाम से प्रतिष्ठित हो चुके थे।

महाभारत भागवत-धर्म को लोक-धर्म कहता है और उसका संबंध सांख्य, योग तथा वेदारण्यक से जोड़ता है (शान्ति-पर्व ३३५।२९, ३२, ३९, ८१)। भागवत धर्म पाञ्चरात्र, ऐकान्तिक नारायण, वासुदेव, वैष्णव, सात्वत आदि नामों से अभिहित किया जाता है। महाभारत (अध्याय ३४८) इस धारणा की पुष्टि इस तरह करता है :

नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः।
परस्पराङ्गान्येतानि पाञ्चरात्रञ्च कथ्यते॥
एष एकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः।
एष ते कथितो धर्मः सात्वतः कुरुनन्दन॥

वैदिक धर्म ज्ञान, भक्ति और कर्म की पावन त्रिवेणी है। यह ज्ञान, यज्ञ, योग, तप, व्रत, उपासना—सभी साधनों को मानव के सर्वांगीण विकास का साधन मानता है। किन्तु भागवत-धर्म एकांगीण है। वह नारायण वासुदेव कृष्ण नाम के भगवान में एकान्त निष्ठा को प्रश्रय देता है। इस प्रकार भागवत-धर्म में भक्ति की प्रमुखता है। भागवत-धर्म ने भगवान में एकान्त निष्ठा और अहैतुक भक्ति को ही जीव का उद्धार करनेवाली माना है।

---

1. **राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे।**
से मे कामान् कामकामाय मह्यं कामेश्वरो वैश्रवणो दधातु॥

ईसा से कुछ वर्ष पूर्व समय की त्रिशूलधारी भगवान शिव की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। विद्वानों का मत है कि शिवलिंग की पूजा त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा से बहुत पूर्व की है और भागवत-संप्रदाय से एकदम असंपृक्त है। अनुमान है कि त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा भागवत प्रभाव के उपरान्त बनी।

मूर्तियों को, जिनमें देव-मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं, प्रतिकृति कहा गया है (५।३।९६)। इसी अर्थ में विशिष्ट शब्द 'अर्चा' का भी प्रयोग हुआ है (९।२। १०१)। मूर्ति रखनेवाला पुजारी अर्चावान् या आर्चिक कहलाता था। पतञ्जलि ने भी देवमूर्तियों के लिए 'अर्च' शब्द का प्रयोग किया है।[1]

ज्ञात होता है कि पाणिनि-पतञ्जलि-काल में कुछ मूर्तियाँ ऐसी थीं, जो सार्वजनिक रूप से प्रासाद में अथवा खुले चबूतरे पर स्थापित होती थीं। उनपर एक व्यक्ति का स्वत्व न था। अतः वे किसी की जीविका का साधन नहीं होती थीं। उनकी अवस्था इन दिनों संतों और देशभक्तों की जो मूर्तियाँ उद्यान, राजपथ आदि पर स्थापित रहती हैं, उन्हीं के सदृश थीं। दो प्रकार की मूर्तियाँ देवालय या पुजारियों के अधिकार में होती थीं। या तो वे एक स्थान में स्थापित रहती थीं अथवा पुजारी स्थान-स्थान पर ले जाकर जीविका के लिए पूजा चढ़वाता था। ऐसी चल और अचल मूर्तियाँ पूजार्थ और देवलकों के जीविकार्थं होती थीं। तीसरे प्रकार की मूर्तियाँ वे थीं, जो दुकानों में बिक्री के लिए रखी जाती थीं, वे पूजार्थं नहीं थीं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मूर्तियाँ प्रदर्शन, जीविका और पूजा—तीनों बातों के लिए रखी जाती थीं। पाणिनि के सूत्रों से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व से ही मूर्ति-पूजा भारत में प्रचलित थी, भले ही वह सर्वमान्य न रही हो। पाणिनि की अष्टाध्यायी के केवल एक सौ वर्ष पश्चात् के कौटिल्य के अर्थशास्त्र से दुर्ग के अन्दर बने शिव तथा अन्य देवताओं के मन्दिर और उनमें प्रतिष्ठित मूर्तियों का विवरण स्पष्ट रूप से मिलता है। इस ग्रन्थ में और भी बहुत-सी ऐसी सामग्रियाँ हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि उस समय तक देवालय और मूर्तिपूजा स्थायी रूप से भारतीय धर्म का अंग बन गई थी। कौटिल्य-अर्थशास्त्र के बाद हमें पतञ्जलि का महाभाष्य मिलता है, जो ईसा से

1. मौर्यः हिरण्यार्थिभिः अर्चा प्रकल्पिताः (५।३।९९)।

दो शताब्दी पूर्व का माना जाता है। महाभाष्य में शिव के अनेक नामों का उल्लेख तो है ही, इसके साथ-साथ शिव और स्कन्द की मूर्तियों का भी वर्णन है, जो स्पष्ट ही पूजा के लिए बनाई जाती थीं (सूत्र १।४९;३।९७;१।६३;४।७७)। इसी ग्रन्थ से यह भी ज्ञात होता है कि मौर्य-सम्राट् मूर्ति-निर्माण और मूर्ति-पूजा को सरकारी आय का साधन भी बनाते थे (३।९०)। अतः यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि मूर्ति-पूजा की प्रणाली जो आर्य-अनार्यों के मिश्रण के बाद आरम्भ हुई थी, पतञ्जलि के समय तक पुष्ट और मान्य होती गई थी। पूजा की विस्तृत प्रणाली तथा माहात्म्य का वर्णन विभिन्न पुराणों में आया है, जो अगले परिच्छेद का विषय है।



दूसरा परिच्छेद

पुराण और उनका मूर्ति-पूजा पर प्रभाव

शतपथ ब्राह्मण (१४।६।१०।६) और बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४।१०) में लिखा है कि जैसे जलती हुई गीली लकड़ी में से धुआँ निकलता रहता है, वैसे ही महाभूत के निःश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान आदि उत्पन्न होते हैं। वैदिक साहित्य में पुराणों के उल्लेख से यह नहीं समझना चाहिए कि इनका अभिप्राय आजकल के १८ पुराणों से है। जिस पुराण का जिक्र वैदिक साहित्य में आया है, वह पुराण आजकल उपलब्ध नहीं है। शंकराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में लिखा है कि 'उर्वशी-पुरुरवा-संवादादि' को इतिहास एवं 'आरम्भ में असत् ही था' इत्यादि सृष्टि-प्रकरण को पुराण कहते हैं।[1]

इन बातों से प्रकट है कि सर्गादि का वर्णन पुराण कहलाता था और कथाएँ इतिहास। छान्दोग्योपनिषद् (७।१।२) में उल्लिखित है कि इतिहास (पुराण) पाँचवाँ वेद है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत है कि इस स्थल पर इतिहास-पुराण से तात्पर्य ब्राह्मणभाग में उल्लिखित कथाओं से है। किन्तु प्राचीन पुराण में केवल सृष्टि की बात रही हो—यह भी ठीक नहीं प्रतीत होता; क्योंकि महाभारत के आदिपर्व में शौनिक ऋषि कहते हैं कि पुराण में दिव्य कथाएँ हैं, आदिवंश के वृत्तान्त हैं।

पुराणों के पाँच लक्षण भिन्न-भिन्न पुराणों में इस प्रकार दिए गए हैं[2] :

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

अर्थात् सर्ग वा सृष्टि-विज्ञान, (२) प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय तथा पुनः सृष्टि, (३) सृष्टि की आदि वंशावली, (४) मन्वन्तर अर्थात् किस-किस

1. '**विश्वधर्म-दर्शन**', पृ० १८५ (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—४ द्वारा प्रकाशित)
2. रामदास गौड़ : **हिन्दुत्व**, पृ० १६२ (ज्ञानमण्डल, काशी द्वारा प्रकाशित)

मनु का समय कब रहा और उस काल में कौन-सी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं तथा (५) वंशानुचरित—प्रसिद्ध वंशों का—सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी आदि राजाओं का—वर्णन।

किन्तु आज जो पुराण पाए जाते हैं, उनमें उपर्युक्त पाँच विषयों के अतिरिक्त भी अनेक बातों का वर्णन है।

पुराणों के पठन से स्पष्ट है कि सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन सब पुराणों में एक ही है। यहाँ तक कि इस प्रसंग का एक-एक श्लोक समान है। किसी पुराण में दो-चार श्लोक अधिक हैं, और किसी में कम। अन्तर केवल इतना ही है। इससे ज्ञात होता है कि आरम्भ में एक ही पुराण था, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में है। संभव है कि पुराण-संहिता के अठारह अध्याय हों, जिनके आधार पर व्यास की शिष्य-परम्परा ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार समय-समय पर अठारह पुराणों की रचना कर डाली और विभिन्न संग्रहकारों ने प्रसंग-वश अपने-अपने इष्टदेव की प्रतिष्ठा और मर्यादा का खयाल रखते हुए, प्रसंग की पूर्ति और संग्रह को रोचक बनाने के लिए अपने श्लोकों की संख्या बढ़ा दी। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि संहिता के १८ भागों में पुराण का होना कारण-विशेष सूचित करता है। संभवतः १८ की परम्परा उस समय तक चल निकली थी। महाभारत में १८ पर्व हैं। युद्ध १८ दिनों तक चला। सैनिकों की संख्या १८ अक्षौहिणी थी। महाभारत के अन्तर्गत गीता के भी १८ अध्याय हैं। मुख्य धर्मशास्त्र भी १८ माने गए हैं।

प्रत्येक पुराण के अलग-अलग अनुशीलन से पता चलता है कि हर एक का उद्देश्य साधन-विशेष है। भिन्न-भिन्न पुराणों पर भिन्न-भिन्न संप्रदायों का प्रभाव पड़ा हुआ स्पष्ट दीख पड़ता है। यह कहना कठिन है कि इन पुराणों से ही संप्रदाय चल पड़े अथवा संप्रदाय पहले से थे और पीछे से भिन्न-भिन्न संप्रदायों के समर्थकों ने व्यास जी की शिष्य-परम्परा से निर्मित कराकर अपने संप्रदाय के अनुकूल परिवर्त्तन और परिवर्द्धन करा लिया। इसमें तो संदेह नहीं कि जैन एवं बौद्ध धर्मों के उत्कर्ष-काल में पुराणों की रचना हो चुकी थी; क्योंकि जैन और बौद्ध-साहित्य में पौराणिक कथाओं, नामों तथा कतिपय देवताओं का उल्लेख है। इतिहासकारों का मत है कि बौद्धधर्म के प्रभाव से वैदिक धर्म को बहुत धक्का लगा और लोग अपने धर्म की रक्षा के हेतु सावधान हो गए

तथा धार्मिक स्थिति के अनुकूल स्वधर्म की रक्षा के लिए ही इन भक्ति-प्रधान पुराणों की रचना हुई। जो भी हो, जैन और बौद्धधर्म के आक्रमणों से पुराणों ने वैदिक धर्म की खूब रक्षा की। जैन और बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रधान आधार हिंसक यज्ञों के विरुद्ध अहिंसा का प्रचार था। अतः पुराणों के द्वारा देश में हिंसक कर्मकाण्ड के स्थान पर भक्ति-रस का विलक्षण प्रभाव फैल गया और उसके परिणाम-स्वरूप भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना खूब बढ़ी और मूर्तियों एवं मन्दिरों के निर्माण की ओर लोग प्रवृत्त हुए। यह भी बौद्ध तथा जैन मन्दिर-निर्माण के स्पर्धा-स्वरूप ही हुआ। भिन्न-भिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न देवताओं की महत्ता, पूजा-विधि आदि हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान में सहायक सिद्ध हुईं। यह निर्विवाद है कि आज भी वर्तमान हिन्दू-धर्म के मूलाधार पुराण-ग्रन्थ हैं। भक्तजनों ने विभिन्न पुराणों में अपने-अपने इष्ट देवताओं का शोभन अलंकारों से मनमाना श्रृंगार किया।

अवतारवाद पुराणों का प्रधान अंग है। प्रायः सभी पुराणों में अवतार का प्रसंग आया है। कहीं दस अवतारों की धारणा की पुष्टि की गई है तो कहीं चौबीस अवतारों की। जैन और बौद्ध धर्मों को अपने में आत्मसात करने के उद्देश्य से जैनधर्म के आदि प्रवर्त्तक ऋषभदेव की गणना चौबीस अवतारों में हुई और बुद्धदेव की नवें अवतार में। सबसे आश्चर्य और कौतूहल की बात है कि संसार के ये ही दो धर्म हैं, जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखते। भारतीय परिपाटी के अनुसार आस्तिक और नास्तिक का भेद ईश्वर को मानने या न मानने पर निर्भर नहीं रहा है, बल्कि वेद के मानने और न मानने पर। इसी कारण सांख्य और मीमांसा की गणना नास्तिक दर्शन में होती चली आई। किन्तु जैन और बौद्ध धर्म तो वेद की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते। फिर भी इनके प्रधान प्रवर्त्तकों को अवतारों की कोटि में स्थान देना हिन्दू-धर्म की उदारता और सहिष्णुता का द्योतक है। आज भी हिन्दू-धर्म के कट्टर नेताओं के हृदय और वाणी में संसार के अन्य धर्मों के प्रवर्त्तकों के लिए अत्यधिक सम्मान और आदर पाया जाता है।

पुराणों का प्रधान उद्देश्य यह मालूम पड़ता है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति की उपासना अथवा ब्रह्मा को छोड़कर शेष पञ्चदेवताओं की उपासना का प्रसार एवं प्रचार हो। ये पाँचों परमात्मा के सगुण रूप माने गए हैं। सृष्टि में इनका कार्य-विभाग पृथक्-पृथक् है। ब्रह्मा की उपासना आज-

कल प्रचलित नहीं है। पुष्कर (अजमेर) को छोड़कर भारत में हमें ब्रह्मा का सर्वमान्य मन्दिर कहीं देखने को नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि गणेश ने ब्रह्मा का स्थान ले लिया है और विष्णु, शिव, सूर्य एवं शक्ति के साथ पञ्चदेव में सम्मिलित हो गए हैं। ईश्वर-भक्ति के विविध रूपों में नाम-कीर्त्तन की महिमा सभी पुराणों में विशेष रूप से वर्णित है। भक्ति का प्रचार ही पुराणों का मुख्य लक्ष्य है। उपनिषदों के आदर्श को प्राप्त करने में इस काल के मनुष्यों ने अपनी असमर्थता का अनुभव किया और इसी कारण सगुण-उपासना की प्रवृत्ति बढ़ी। तब से आजतक सगुण-भक्ति भारतीय जन-जीवन का प्रधान अंग रही।

अधिकांश शिक्षित-वर्ग पुराणों में उल्लिखित घटनाओं को असंभव कहकर उन्हें कपोल-कल्पित मानते हैं। इस संबंध में निम्नलिखित कथन सर्वथा विचारणीय है—"सब पुराणों के सभी वाक्यों को प्रमाणभूत मान लेना भी बड़ी जटिल समस्या का हेतु बन जाता है; क्योंकि असंभव और अस्वाभाविक प्रतीत होनेवाले पौराणिक रहस्य अत्यन्त मनोयोग से अनुसन्धान करने पर भी कुछ समझ में नहीं आते, और पुराणों के विद्वानों को भी भ्रम में डाल देते हैं। तालपत्र के युग में मुद्रण-कला का अभाव था। प्रक्षेपण या प्रतिसंस्करण का काम नैसर्गिक और अनिवार्य था। तालपत्र के किसी भी ग्रन्थ में प्रक्षिप्त वाक्यों के कुछ नए पन्ने मिला देना और प्रतिलिपियों द्वारा देशान्तर में उसका धीरे-धीरे मूलग्रन्थ के रूप में प्रचार करना कठिन नहीं थे।"[1] इसके अतिरिक्त हमें पुराण के रचना-काल का भी ध्यान रखना होगा। उस समय बौद्धधर्म का धुआँधार प्रचार हो रहा था। जनता अधिकतर अशिक्षित और अंधविश्वासी थी। उन दिनों ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता थी, जो जनता के मन पर चमत्कारपूर्ण प्रभाव डाल सके। पुराणों में वर्णित घटनाएँ नानी की कहानी जैसी नहीं लगतीं। यदि उस समय की जनता आज की तरह तर्कशील होती तो निश्चय ही पुराणों का रूप कुछ दूसरा होता। फिर भी पुराणों के गहन अध्ययन से हमारी आध्यात्मिक शक्ति को बड़ा बल मिलता है और उसकी कथा, उपनिषद् की जटिल भाषा के विपरीत, बड़ी रोचक लगती है।

आज की स्थिति में पुराणों के रूप में बड़ा ही अन्तर आ गया है। कुछ पुराण तो पूरे मिलते ही नहीं; कुछ ने अपनी संख्या से अधिक रूप धारण कर

1. इन्दिरारमण शास्त्री : **मानवधर्म-शास्त्र**, पृ० ७३

लिया है। एक पुराण के विषय कहीं-कहीं दूसरे पुराणों में भी प्रविष्ट हो गए हैं। विद्वानों का अनुमान है कि संप्रदायवादियों के पारस्परिक संघर्ष के कारण दूसरों को हेय समझने के लिए पीछे से कहीं-कहीं प्रक्षिप्त अंश पुराणों में मिला दिए गए हैं। ....यदि विवेकपूर्वक मनोयोग से पुराणों का अध्ययन किया जाए तो प्रक्षिप्त अंश पहचान में अवश्य आ जाते हैं।[1]

हम श्री कृष्णमणि त्रिपाठी के विचार से शत-प्रतिशत सहमत हैं कि "पुराणों में सभी देश, काल एवं संप्रदायों में प्रचलित अनेक देव-देवियों की उपासना को स्वीकार करके सभी के माहात्म्यों को सुन्दर ढंग से प्रकाशित किया गया है। पुराणों ने एक ही परमात्मा को विभिन्न संप्रदायानुसार विभिन्न नाम और रूपों में वर्णन करते हुए सारे संप्रदायों को एकत्व के सूत्र में बाँध दिया है और सभी धर्म, मत, साधन, प्रणाली और विशिष्ट तत्त्वों को अक्षुण्ण रखकर उनके आन्तरिक अभेदों को सुप्रतिष्ठित कर दिया है। पुराणों के अनुसार प्रत्येक संप्रदाय विभिन्न नाम और रूपों में एक विश्वात्मा की ही उपासना करके अपने जीवन को कृतार्थ कर रहे हैं।"[2]

अनेकता में एकता की लड़ी को पकड़ने में मानव की बुद्धि तभी सक्षम होती है जब उसमें सिद्धान्त-स्थापना की अपेक्षा सत्य के साक्षात्कार की व्यग्रता काम करने लगती है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि पुराणों में धार्मिक-आध्यात्मिक समन्वय का जो स्वर मुखरित हुआ है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। कहा भी है—

शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः।
उभयोरन्तरन्नास्ति यः पश्यति स मूढधीः॥

सुतरां, पुराण ही वर्तमान हिन्दू-धर्म की आधार-शिला हैं। पुराणों के प्रेम-पठन से सभी श्रेणी के मनुष्यों ने अपने जीवन को संयमशील बनाकर कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त होने का अधिकार प्राप्त किया है।

---

1. श्री कृष्णमणि त्रिपाठी : **पुराणतत्त्व-मीमांसा** : भूमिका तथा पृ० ७
2. वहीं, पृ० ७

तीसरा परिच्छेद

पाशुपत मत और प्रतीक-पूजा

पाशुपत मत के विषय में अधिक जानकारी किसी भी ग्रन्थ से उपलब्ध नहीं होती। इस मत के माननेवाले शिव को पति मानते थे और जीव को पशु। शिवजी पशुओं के पति हैं, ऐसा उनका विश्वास है। शिवजी ही उन्हें इस संसार के भयंकर बंधनों से मुक्ति प्रदान करते हैं। जो उनकी कृपा से वंचित है, वह इस संसार के मोह से बँधा हुआ भटकता-फिरता है। पाशुपत वैदिक, तांत्रिक और मिश्रित—तीन प्रकार के होते हैं। महाभारत-कालीन शिव-पूजा पाशुपत मत के नाम से विख्यात है।

इस मत में तप का विशेष स्थान है, अतः इसके माननेवालों में कुछएक वायु-भक्षण कर निर्वाह करते थे, अन्य केवल जल पीकर जीवन-रक्षा करते थे, कतिपय जप में ही लीन रहते थे और कोई-कोई योगाभ्यास से भगवत-चिन्तन किया करते थे। इनके अतिरिक्त कोई केवल धूम्रपान करता था; कोई उष्णता का सेवन करता था; कोई दूध पीकर रहता था; कोई हाथों का उपयोग न करके गाय के समान खाता-पीता था; कोई पत्थर पर अन्न कूटकर जीविका चलाता था; कोई चन्द्र-किरण पीकर संतोष प्राप्त कर लेता था; कोई जल-फेन खाकर, कोई पीपल-फल को आहार बनाकर अपना-जीवन निर्वाह करता था; कोई पानी में पड़ा रहता था और कोई एक पैर पर खड़ा रहकर और हाथ ऊपर उठाकर वेद-पाठ किया करता था। इस मत के माननेवाले केवल शरीर को कठोर तप द्वारा साधकर मुक्ति प्राप्त करने में विश्वास रखते थे। इसलिए निम्न श्रेणी के अनेक स्त्री-पुरुष इस धर्म के अनुयायी हुए। इस मत में सभी देवों में श्रेष्ठ पशुपति माने जाते थे; क्योंकि वही सारी सृष्टि के रचयिता, पालनकर्त्ता और संहार-कर्त्ता भी हैं।

वेदों एवं उपनिषदों में विष्णु और रुद्र—दोनों मुख्य देवता हैं, किन्तु दशोपनिषद्-काल में परब्रह्म से विष्णु का तादात्म्य हुआ। बाद में श्वेताश्वतरोपनिषद् में यह तादात्म्य शंकर से किया गया पाया जाता है। यह बात **'एको हि रुद्रो न द्वितीय तस्थु। मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्॥'**—इन

वचनों से स्पष्ट है। भगवद्गीता में भी 'रुद्राणां शंकरश्चास्मि' वचन है। यह निर्विवाद है कि उपनिषद्-काल के अनन्तर भारतीय काल में शंकर की परमेश्वर के रूप में उपासना शुरू हुई और इस स्वरूप की एकता विशेषतः वैदिक देवता रुद्र के साथ की गई। यजुर्वेद में रुद्र की विशेष स्तुति है। यजुर्वेद यज्ञ-संबंधी वेद है और यह मान्य हुआ है कि वह क्षत्रियों का विशेष वेद है। धनुर्वेद भी यजुर्वेद का उपांग है और श्वेताश्वतर-उपनिषद् कृष्ण-यजुर्वेद है। यह स्वाभाविक है कि क्षत्रियों में और यजुर्वेद में शंकर की विशेष उपासना शुरू हुई होगी। इसके सिवाय यह भी ध्यान देने योग्य है कि "क्षत्रिय युद्धादि क्रूर कर्म किया करते थे, जिससे संभव है कि उन्हें क्रूर देवता ही अधिक प्रिय हुए हों। कुछ आश्चर्य नहीं कि इसी कारण शंकर की भी भक्ति रूढ़ हो गई हो और महाभारत-काल में तत्वज्ञान में भी पाञ्चरात्र के समान पाशुपत मत प्रचलित हो गया।"[1]

दक्ष के यज्ञ में शंकर को हविर्भाग न मिलने के कारण सती और शंकर को क्रोध आया। शंकर ने अपने क्रोध से वीरभद्र नामक गण की उत्पत्ति की और उसके द्वारा दक्ष-यज्ञ का विध्वंस करा डाला। तत्पश्चात् अग्नि से स्वयं शंकरजी प्रकट हुए और दक्ष ने उनकी स्तुति १०८ नामों से की। ऐसी कथा महाभारत के शान्ति-पर्व में आई है। इस समय शंकर ने दक्ष को पाशुपत-व्रत बतलाया, जो गूढ़ और अपूर्व है। यह सभी वर्णों के लिए तथा आश्रमों के लिए खुला है। यह मोक्षदायी भी है। वर्णाश्रम-विहित धर्मों से यह कुछ मिलता भी है और कुछ नहीं भी मिलता। जो न्याय और नियम करने में प्रवीण हैं, उन्हें यह मान्य होने योग्य है, और जो चारों आश्रमों से परे हों, उनके लिए भी लाभप्रद ही है।

इस मत में पशुपति सभी देवों में प्रमुख हैं। वे ही सारी सृष्टि के उत्पन्न-कर्त्ता हैं। इस मत में पशु का अर्थ है सारी सृष्टि। इनकी सगुण-भक्ति के लिए कार्तिक स्वामी, पार्वती और नन्दीदेव भी सम्मिलित किए जाते हैं और उनकी भी पूजा करने की विधि बतलाई गई है।

शंकर अष्टमूर्त्ति हैं। वे ये हैं—पञ्चमहाभूत, सूर्य, चन्द्र और पुरुष। अनुशासन-पर्व में उपमन्यु के आख्यान में पाशुपत मत का थोड़ा-सा विकास किया

1. श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य : **महाभारत-मीमांसा**

गया है। कहा गया है कि भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महालोक, लोकालोक, मेरुपर्वत और अन्यत्र सभी स्थानों में शंकर ही व्याप्त हैं। यह देवता दिगम्बर, उर्ध्वरेता, मदन को जीतनेवाला और श्मशान में क्रीड़ा करनेवाला है। ईसी से विद्या और अविद्या निकलीं एवं धर्म और अधर्म भी निकले। शंकर के भग-लिंग से निर्गुण, चैतन्य और माया कैसी होती है और इनके संयोग से सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है, इसका भी अनुमान हो सकता है। महादेव सारे जगत के आदि कारण हैं। सारा चराचर जगत उमा और शंकर के दोनों शरीरों में व्याप्त है। (अनु०, अ० १४)

शंकर के स्वरूप का उपमन्यु को ऐसा दर्शन हुआ—"शुभ्र कैलाशाकार नन्दी पर शुभ्र देह सहित देदीप्यमान महादेव बैठे हैं। उनके गले में जनेऊ है। उनको अठारह भुजाएँ और तीन नेत्र हैं। हाथ में पिनाक धनुष और पाशुपत अस्त्र तथा त्रिशूल हैं; त्रिशूल में लिपटा हुआ सर्प है। एक हाथ में परशुराम का दिया हुआ परशु है और बाईं ओर गरुड़ पर शंख-चक्र-गदाधारी नारायण विराजते हैं। सामने मयूर पर हाथ में शक्ति और घंटी लिए स्कन्द बैठे हैं। इस प्रकार शंकर के सगुण-रूप का वर्णन यहाँ दिया गया है। शंकर ने त्रिपुर-दाह किया, उसका वर्णन बराबर आता है—"हे महादेव ! तेरे सात तत्वों (महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ) और छह अंगों को यथार्थ जानकर तथा यह जानकर कि परमात्मा का अभिन्न स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है, जो तेरा ध्यान करता है, वह तुझमें प्रविष्ट होकर सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता ह। पाशुपत तत्त्व-ज्ञान का इससे अधिक स्पष्ट वर्णन महाभारत में नहीं मिलता। इससे यही मानना पड़ता है कि महाभारतकार सौती ने पाञ्चरात्र (भागवत) मत के समान पाशुपत मत के संबंध में उस समय स्वतंत्र आख्यान या ग्रन्थ के उपलब्ध न होने के कारण, महाभारत में इससे अधिक वर्णन नहीं दिया।

पाशुपत शैव साधारण शैवों से भिन्न थे; क्योंकि महाभारत में ऐसा ही स्पष्ट वर्णन आया है। इन साधारण शैवों के आचार-विचार ब्राह्मण-धर्म के सर्वथा अनुकूल थे। पाशुपत शैवों का प्रादुर्भाव संभवतः उसी समय हुआ, जब वैष्णवों के पाञ्चरात्र-संप्रदाय का। महाभारत में इस संप्रदाय के संस्थापक के विषय में कुछ नहीं कहा गया है, परन्तु बाद में पुराण-ग्रन्थों में यह चर्चा आई है कि एक 'लकुलिन' अथवा 'नकुलिन' ने लोगों को महेश्वर अथवा पाशुपत योग सिखलाया था। इस लकुलिन को भगवान शिव का अवतार और श्रीकृष्ण का

समकालीन माना जाता है। लकुलिन की ऐतिहासिकता पर संदेह करने का कोई कारण नहीं है; यद्यपि उनके समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। 'सर्वदर्शन-संग्रह' नामक ग्रन्थ में उनको पाशुपत संप्रदाय का संस्थापक माना गया है और सन् ९७१ ई० के नागराज-मन्दिर के शिलालेख से तथा अन्य कई शिलालेखों से इसकी पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त कापाल-रूप में शिव की पूजा रक्त और नरबलि से की जाती थी। महाभारत में कापालिक वृत्ति का उल्लेख हो चुका है; परन्तु महाभारत के उल्लेखों से हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि शिव की इस रूप में पूजा करनेवालों का कोई संगठित संप्रदाय था वा नहीं। अतः महाभारत के समय में हमें शैवों के केवल एक उप-संप्रदाय अर्थात् पाशुपतों का ही निश्चित रूप से पता चलता है।[1]

ईसवी सन् की सातवीं सदी में चीनी यात्री ह्यूएनसाँग ने भारत की यात्रा की थी और अनेक स्थलों पर उसने नाम लेकर पाशुपत संप्रदाय का उल्लेख किया है। इस संप्रदाय के अनुयायियों की काफी संख्या मालूम होती है। ह्यूएनसाँग के कथनानुसार इनमें से कुछ तो भगवान शिव के मन्दिर में उपासना करते थे, कुछ मन्दिरों में निवास करते थे अथवा भ्रमण करते थे। ये संभवतः पाशुपत संन्यासी थे। पाशुपतों का मुख्य लक्षण यह था कि वे अपने शरीर पर भस्म मले रहते थे। ह्यूएनसाँग ने इनका नाम भस्मधारी रख दिया था। पाशुपत शैव शिवलिंग को अपने मस्तक पर धारण करते थे।

इसी काल में शैव संप्रदायों की स्थिति पर बाणभट्ट-रचित 'कादम्बरी' नामक पुस्तक भी कुछ प्रकाश डालती है। इस काव्य में पाशुपत शैवों का उल्लेख किया गया है। एक स्थान पर वर्णन है कि अमात्य शुकनास से कुछ शैव मिलने आए थे और वे उस समय रक्त वर्ण के वस्त्र धारण किए हुए थे। डॉ० यदुवंशी का विचार है कि ये रक्ताम्बरधारी शैव पाशुपतों के ही एक उप-संप्रदाय के थे।

पाशुपतों का उल्लेख साहित्य और शिलालेखों में होता रहा। इससे सिद्ध होता है कि पाशुपत लोग शैवों के प्रमुख अंग बने रहे। 'सर्वदर्शन-संग्रह' में पाशुपतों को शैवमत के दो प्रमुख संप्रदायों में से एक माना गया है और उनके दार्शनिक सिद्धान्त का दिग्दर्शन कराया गया है।

---

1. डॉ० यदुवंशी : **शैवमत**

पाशुपत मत के प्रादुर्भाव के संबंध में प्रसिद्ध विद्वान स्व० धर्मानन्द कौशाम्बी का कथन है—"एक ओर वाममार्ग में प्रविष्ट तरुण भिक्षु और दूसरी ओर जटिल तपस्वी, इन दोनों ने पाशुपतों का पंथ चलाया और शकों के राज्य-काल में यह बराबर फैलता गया। इस पंथ ने अपना एक भिन्न पाशुपत दर्शन बनाया। उनके आचारों में से कुछ थे, जिनकी क्रिया थी—जटा धारण करना, शरीर पर तीन बार भस्म लगाना, नग्न रहना अथवा चर्म-खण्ड धारण करना तथा लिंग-पूजा करना। इसमें संदेह नहीं कि इसी पंथ के कारण लिंग-पूजन को महत्ता प्राप्त हुई।"

ईसवी सन् की चौथी शताब्दी में तो इस लिंग-पूजा को बहुत ही महत्त्व प्राप्त हुआ जान पड़ता है। वाकाटक वंशीय राजा तथा उनके संबंधी भारशिव-नाग राजा शैव थे। भारशिव-राजा तो अपने कन्धे पर शिवलिंग लेकर घूमा करते थे और उनका विश्वास था कि इसी के कारण उनका राजवंश स्थिर हुआ। जान पड़ता है कि गुप्त, भारशिव तथा वाकाटक राजाओं में लिंग के प्रति बड़ा आदर था।

ऐसा होते हुए भी लिंग-पूजन का सर्वव्यापी प्रचार नहीं हुआ था। कम-से-कम एक-दो शताब्दी तक वह व्यक्तिगत रहा होगा। कारण कि ह्युएनसाँग के यात्रा-वर्णन में लिंग-पूजन का उल्लेख नहीं मिलता, चाहे महादेव की मूर्तियों का वर्णन जितना मिलता हो। काशी में तो उन्होंने महादेव की एक सौ फुट ऊँची ताँबे की मूर्ति देखी थी। ऐसी अवस्था में आजकल जो सारे भारत में लिंग-पूजन दीख पड़ता है, वह सार्वजनिक कैसे हुआ? और ह्युएनसाँग की देखी हुई मूर्तियाँ गईं कहाँ?

महमूद गजनवी के समय लिंग की पूजा सर्वव्यापी हो गई थी, फिर भी महादेव की मूर्तियाँ वर्तमान थीं। सोमनाथ-मन्दिर में लिंग-पूजा हुआ करती थी, परन्तु दूसरे कुछ स्थलों पर महादेव की मूर्तियों की भी पूजा होती रही होगी। ये मूर्तियाँ कैसे बनाई जाती थीं, इसका विस्तृत वर्णन अलबेरुनी ने बृहत्संहिता के पर आधार किया है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि मुस्लिम आक्रमणों के बाद महादेव की मूर्तियाँ बनाने की प्रथा बंद हुई होगी। मूर्तियाँ पत्थर की होने पर वे लोग उन्हें छिन्न-भिन्न कर डालते थे। ऐसे समय लिंग-पूजा सुविधा-जनक सिद्ध हुई। यदि मुसलमान लिंग को तोड़ भी डालते तो उसे फिर बना लेने में अधिक व्यय या परिश्रम नहीं करना पड़ता था।

दक्षिण में एक नए शैव संप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, जो आगे चलकर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। यह था लिंगायत अथवा वीरशैव संप्रदाय। इस संप्रदाय का जन्म कब और कैसे हुआ और इसका संस्थापक कौन था, यह अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। इस संप्रदायवाले बराबर अपने पास शिवलिंग रखते और कभी उससे अलग नहीं होते थे। वे लड़कियों का उपनयन-संस्कार लड़कों के ही सदृश करते थे और यज्ञोपवीत के स्थान पर उपनयन का चिह्न 'शिवलिंग' को बनाया करते थे, जिसे वे अपने शरीर पर धारण करते थे। इसी कारण वे लिंगायत कहलाते थे। उनका मूलमंत्र था 'ओम् नमो शिवाय'।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लिंग-पूजा, जो पूर्व वैदिक काल से भारत के कुछ आदिनिवासियों में प्रचलित थी, महाभारत-काल में पाशुपत संप्रदाय के रूप में मूर्ति-पूजा के साथ-साथ मान्य हो गई और दसवीं शताब्दी तक उत्तरोत्तर विकसित होती गई। पाशुपत संप्रदाय में शंकर की मूर्ति और लिंग की पूजा साथ-साथ समान रूप से प्रचलित रही।



चौथा परिच्छेद

पाञ्चरात्र (भागवत) मत और प्रतीक-पूजा

ईश्वर की साकार या सगुण उपासना करने की परिपाटी शिव और विष्णु की उपासना से ही प्रचलित हुई दीखती है। महाभारत-काल में ही यह बात मान्य हो गई थी कि सभी वैदिक देवताओं में शिव और विष्णु श्रेष्ठ हैं। वैष्णवों में विष्णु और उनके अवतारों की पूजा बढ़ती गई और महाभारत में उसे 'पाञ्च-रात्र' नाम मिला। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान से जान पड़ता है कि महाभारत के समय में भगवद्भक्ति करनेवाले भागवत कहलाते थे। इस संप्रदाय में विष्णु को परमेश्वर मानकर भक्ति की जाती थी। पाञ्चरात्र तथा भागवत एक ही संप्रदाय के पर्यायवाची नाम हैं। इसका आधार नारायण-आख्यान है। इस मत के मूलाधार नारायण हैं। सनातन विश्वात्मा नारायण से नर, नारायण, हरि और कृष्ण—चार मूर्तियाँ उत्पन्न हुईं। नर तथा नारायण नामक ऋषियों ने बदरिकाश्रम में तप किया। नारद ने जाकर उनसे प्रश्न किया, जिसके उत्तर में उन्होंने पाञ्चरात्र धर्म सुनाया। पाञ्चरात्र मत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों का विवेचन है। चित्र-शिखण्डी नामक ऋषियों ने वेदों का निष्कर्ष निकालकर पाञ्चरात्र नामक शास्त्र तैयार किया। इसमें प्रवृत्ति एवं निवृत्ति नामक दोनों मार्ग हैं। शान्ति-पर्व के नारायणीय आख्यान में पाञ्चरात्र धर्म का विवरण दिया गया है। इस मत में अहिंसा धर्म की प्रधानता थी और साथ-ही-साथ यह वेदों और यज्ञों में भी विश्वास रखता और उन्हें मानता था। नारायण नें नारद से कहा कि जो नित्य, अजन्मा और शाश्वत है, जो चौबीसों तत्त्वों से परे है और पच्चीसवाँ पुरुष कहलाता है, उसे सनातन पुरुष वासुदेव कहते हैं, वही सर्वव्यापी है; प्रलयकाल में उसके सिवाय कुछ भी नहीं रहता; पञ्चमहाभूतों का जो शरीर बनता है, उसमें अदृश्य वासुदेव सूक्ष्म रूप से प्रवेश करते हैं, यही देहवर्त्ती जीव होने पर 'शेष' तथा 'संकर्षण' कहलाते हैं। राजा वसु उपरिचर का अहिंसामय यज्ञ का विधान इस बात का स्पष्ट दृष्टान्त है।[1]

1. पं० बलदेव उपाध्याय : **भारतीय दर्शन**, पृ० ५२३–३७

पाञ्चरात्र में वेद का पूरा माहात्म्य दिया हुआ है। साथ-ही-साथ वैदिक यज्ञ-क्रियाएँ भी उसी तरह मान्य की गई हैं; किन्तु यज्ञ का स्वरूप अहिंसा-युक्त वैष्णव-यज्ञ है। पाञ्चरात्र ग्रन्थों में वर्णित है कि श्राद्ध-क्रिया भी यज्ञ के समान नारायण से निकली है। महाभारत के शान्ति-पर्व (अध्याय ३४५) में स्पष्टतया निरूपित है कि श्राद्ध में तीन पिण्ड दिए जाते हैं और वे वही हैं, जिन्हें पहले नारायण ने अपने वराह-अवतार में अपने दाँतों में लगी हुई मिट्टी के पिण्ड से निकालकर अपने-आप को पितर-रूप समझकर दिए थे। इसका तात्पर्य यह है कि विष्णु ही पितर हैं और पितरों को दिए हुए पिण्ड विष्णु को ही मिलते हैं। संक्षेप में, पाञ्चरात्र का यही सिद्धान्त है।

भक्ति-मार्ग बहुत पुराना तो है, परन्तु पाञ्चरात्र-मार्ग से कुछ भिन्न और कुछ प्राचीन है। पाञ्चरात्र-तत्वज्ञान रहस्यमय है। महाभारत के नारायणीय आख्यान से हमें स्पष्ट पता चलता है कि विष्णु और श्रीकृष्ण परमेश्वर के सदृश माने जाने लगे थे और उनको माननेवाले उनके प्रति अगाध श्रद्धा एवं भक्ति प्रदर्शित करते थे और ये भगवद्भक्ति करनेवाले भागवत कहलाते थे और इनका एक सामान्य वर्ग था। जनसाधारण के प्रति श्रीकृष्ण को अगाध प्रेम था और उनके हित के लिए उन्होंने अलौकिक और अद्भुत कार्य किए, जिससे सामान्य जन की कौन कहे, बड़े-बड़े शक्तिशाली राजा और शूर-वीर उनकी प्रतिभा से मात खाकर सर्वदा के लिए उनके शरणागत हो गए। अन्त में छोटे-बड़े सभी श्रीकृष्ण के भक्त हो गए। उस भक्ति में निर्मल प्रेम था और जो उनके अनन्य भक्त हुए, उनका उन्होंने उद्धार किया। धीरे-धीरे जनसाधारण के हृदय पर श्रीकृष्ण एकच्छत्र राज्य करने लगे और उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म ही पाञ्चरात्र अथवा भागवत धर्म कहलाया और यह भक्ति-प्रधान प्रसिद्ध हुआ।

भागवत-धर्म पाञ्चरात्र, ऐकान्तिक, नारायण, वासुदेव, वैष्णव, सात्वत आदि कई नामों से अभिहित किया जाता था। महाभारत के अध्याय ३४८ का निम्नलिखित श्लोक इस धारणा पर प्रकाश डालता है—

एवमेकं सांख्ययोगं वदारण्यकमेव च ॥८१॥
परस्पराङ्गान्यतानि पाञ्चरात्रं च कथ्यते ।
एष एकान्तिनां धर्मो नारायण परात्मकः ॥८२॥

अर्थात् इस प्रकार आत्मा और अनात्मा का विवेक करानेवाला सांख्य, चित-वृत्तियों के निरोध का उपदेश देनेवाला योग, जीव और ब्रह्म के अभेद का बोध करानेवाला वेदों का आरण्यक भाग (उपनिषद्) तथा भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन करानेवाला पाञ्चरात्र-आगम—ये सब शास्त्र ही एक लक्ष्य के साधक होने के कारण एक बताए गए हैं। ये सब एक-दूसरे के अंग हैं। सारे कर्मों को भगवान नारायण के चरणारविन्द में समर्पित कर देना यह ऐकान्तिक भक्तों का धर्म है।

तैत्तिरीय आरण्यक के दशम प्रपाठ के अनुसार सबमें बसने और सबको अपने में बसानेवाले वासुदेव नाम से प्रसिद्ध परमात्मा ही भगवत् भगवान) कहे जाते हैं। उनकी भक्ति करनेवाले भागवत कहे जाते हैं। किन्तु बाणभट्ट के 'हर्षचरित' से ज्ञात होता है कि भागवत और पाञ्चरात्र संप्रदायों में भेद था। वे दो पृथक् संप्रदाय समझे जाते थे। भागवत-धर्म का कई रूपों में विकास हुआ। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' के आधार पर डॉ० मुंशीराम शर्मा का विचार है कि "वैखानस मतानुयायी विष्णु और उनके चार सहयोगियों—अच्युत, सत्य, पुरुष और अनिरुद्ध—की उपासना करते थे। सात्वत लोग विष्णु की नारायण के रूप में उपासना करते थे। नृसिंह और वराह के रूप में महाविष्णु की मूर्ति की कल्पना उनकी विशेषता थी।" नृसिंह, वराह और विष्णु की कितनी ही गुप्तकालीन मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं। ये सात्वतों के सिद्धान्त से अनुप्राणित जान पड़ती हैं। इन दोनों से प्राचीन मूल पाञ्चरात्र सिद्धान्त था। इसी आगम के अनुयायी पाञ्चरात्र या पाञ्चरात्रिक कहलाते थे। वे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में चतुर्व्यूह को मानते थे। इनमें भी जो केवल वासुदेव की आराधना करते थे, वे ऐकान्तिक कहलाते थे। नारद-पाञ्चरात्र के अनुसार ऐकान्तिकों के दो भेद थे—(१) शुद्ध, जो केवल वासुदेव को ही ईश्वर मानकर उनकी पूजा करते थे और (२) मिश्र, जो विष्णु के अतिरिक्त और भी विष्णु-रूपधारी देवताओं (जैसे शिव, इन्द्र, ब्रह्मा, पार्वती, सरस्वती, ब्रह्माणी, इन्द्राणी आदि) को मानते थे। शनैः-शनैः कई संप्रदाय एक में मिल गए। बाण के समय में पाञ्चरात्र और भागवत में दो मोटे भेद रह गए थे। आगे चलकर ये सब केवल 'भागवत' नाम से पुकारे जाने लगे और इनके पारस्परिक सूक्ष्म भेद भी लुप्त हो गए। जैसा कि पहले अध्याय में विवेचन किया जा चुका है, वेद में प्रतिमा-पूजा का

विधान नहीं है। अतः बहुत दिनों तक वैदिकों और भागवतों में प्रतिकूलता रही। कूर्मपुराण में स्पष्ट है—

वा वेदबाह्ये पुरुषे पुण्यलेशोऽपि शंकरः।

सङ्गच्छते महादेव पुण्यो वेदादि निर्यभौ॥ १४।११५॥

कूर्मपुराण में पाञ्चरात्रों को वेदबाह्य तथा पुण्यबाह्य कहा गया है। पराशर-पुराण, वसिष्ठ-संहिता, सूत-संहिता, अचलायन-स्मृति आदि भी पाञ्चरात्रों को अवैदिक मानते हैं। इसके विपरीत महाभारत, भागवत, विष्णु-पुराण आदि पाञ्चरात्रों का समर्थन करते हैं। महाभारत (शान्ति-पर्व, अध्याय ३३९) से ज्ञात होता है कि नारायण ने नारद को जो तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया है, उसमें पाञ्चरात्र के विशिष्ट मत आए हैं। भगवान ने कहा है कि "जो नित्य, अजन्मा और शाश्वत है, जिसे त्रिगुणों का स्पर्श नहीं, जो आत्मा प्राणि-मात्र में साक्षी-रूप से रहता है, जो चौबीस तत्त्वों से परे पच्चीसवाँ पुरुष है, जो निष्क्रिय होकर ज्ञान से ही जाना जा सकता है, उस सनातन परमेश्वर को वासुदेव कहते हैं। वही सर्वव्यापक है। प्रलयकाल में पृथ्वी जल में लीन होती है, जल अग्नि में, अग्नि (तेज) वायु में, वायु आकाश में और आकाश अव्यक्त प्रकृति में और अव्यक्त प्रकृति पुरुष में लीन होती है। फिर उस वासुदेव के सिवाय कुछ भी नहीं रहता। पञ्चमहाभूतों का शरीर बनता है और उसमें अदृश्य वासुदेव सूक्ष्म रूप से तुरत प्रवेश करता है। यह देहवर्ती जीव महा-समर्थ है और शेष संकर्षण उसके नाम हैं। इस संकर्षण से जो मन उत्पन्न होकर सनत्कुमारत्व यानी जीवन-मुक्तता पा सकता है और प्रलयकाल में जिसमें सभी भूतों का लय होता है, उस मन को प्रद्युम्न कहते हैं। इस मन से कर्त्ता, कारण और कार्य की उत्पत्ति है तथा इससे चराचर जगत का निर्माण होता है, इस-लिए इसे अनिरुद्ध कहते हैं। इसी को ईशान भी कहते हैं। सर्वकर्मों में व्यक्त होनेवाला अहंकार यही है। निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ भगवान वासुदेव जीव-रूप में अवतार लेता है, वह संकर्षण है। संकर्षण से जो मन-रूप में अवतार लेता है, वह प्रद्युम्न है और प्रद्युम्न से जो उत्पन्न होता है, वही अनिरुद्ध है और वही अहंकार और ईश्वर है।

पाञ्चरात्र मत का यही सबसे विशिष्ट सिद्धान्त है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का श्रीकृष्ण के चरित्र से अति घनिष्ठ संबंध है।

इसलिए श्रीकृष्ण के भक्तों में उनके लिए पूज्य-भक्ति का होना स्वाभाविक ही है। इसी कारण पाञ्चरात्र मत में उन नामों का समावेश हुआ होगा।

"वासुदेव की सरल व्याख्या वसुदेव का पुत्र वासुदेव है। परन्तु पाञ्चरात्र मत में उसकी व्याख्या और ही हुई है। ऐसी ही व्याख्या संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की भी निकाल सकना संभव है। महाभारत के शान्ति-पर्व (अध्या० २८०) में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण ने मूर्त स्वरूप लिया तथापि वह उपाधि-वर्गों से विरुद्ध था, बद्ध नहीं था। इसी से इसे अनिरुद्ध कहते हैं। सहज ही इसी अर्थ में यानी जीव, मन और अहंकार के अर्थ में शब्द माने गए हैं। चतुर्व्यूह की यह कल्पना वेदान्त, सांख्य या योग के मतों से भिन्न है और पाञ्चरात्र मत की स्वतंत्र है।"[1]

संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध से अपना तादात्म्य दिखाते हुए महाभारत के शान्ति-पर्व (अध्या० ३३९) में नारायण नारद से कहते हैं—"जिसका ज्ञान निरुक्त से होता है, वह हिरण्यगर्भ है। जगज्जनक, चतुर्वक्र ब्रह्मदेव मेरी आज्ञा से सब काम करता है और मेरे ही कोप से रुद्र हुआ है। पहले जब मैंने ब्रह्मदेव को पैदा किया तब उसे ऐसा वर दिया कि जब तू सृष्टि उत्पन्न करेगा, तब मुझे पर्यायवाची अहंकार नाम मिलेगा और जो कोई वर-प्राप्ति के लिए तपश्चर्या करेंगे, उन्हें तुमसे ही वर-प्राप्ति होगी। देवकार्य के लिए मैं हमेशा अवतार लूँगा, तब तू मुझे पिता के तुल्य आज्ञा कर। मैं ही संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का अवतार लेता हूँ और अनिरुद्ध के नाभि-कमल से ब्रह्मदेव का अवतार होता है।"

वैदिकों की धारणा भागवत-धर्म के संबंध में अनुकूल नहीं रही है। इसमें मूर्ति-पूजा, उससे संबंधित नाना प्रकार के विधि-विधान, वैदिक विधान के विपरीत समझे जाते रहे हैं। विक्रम संवत् के आरम्भ से पाँच सौ वर्ष पूर्व अर्थात् पाणिनि के समय में भी इसका प्रचार था। पाणिनि के ग्रन्थ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनके समय में वासुदेव, संकर्षण, महाराज (कुबेर), विष्णु, शिव आदि की मूर्तियाँ बनती थीं और मंदिरों का भी निर्माण होता था। इसका कारण यह था कि वैदिक धर्म ज्ञान, कर्म और भक्ति की पावन त्रिवेणी है।

1. **महाभारत-मीमांसा** : श्री चि० वि० वैद्य

यह ज्ञान, यज्ञ, योग, तप, व्रत, उपासना सभी साधनों के द्वारा मानव के सर्वांगीण विकास का पथ प्रशस्त करता है। भागवत-धर्म इसके विपरीत नारायण, वासुदेव, हरि अथवा कृष्ण नाम के भागवान में एकान्त निष्ठा रखने और सर्वतोभावेन तत्परायण बनने की आज्ञा देता है। उसने भक्ति को प्रमुखता दी है। इस आधार पर कुछ विद्वान भागवत धर्म को वेद का प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं।

जैन तथा बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तकों ने हिंसापूर्ण यज्ञों के विरुद्ध घोर प्रतिक्रिया उत्पन्न की और वे यज्ञ के साथ वेद तथा सृष्टि-रचयिता ईश्वर से भी दूर हो गए। भागवतों ने इन दोनों का साथ नहीं छोड़ा। अहिंसा को अपनाने तथा हिंसापूर्ण यज्ञ के विरोध के कारण प्रारम्भ में उनकी नोंक-झोंक वैदिकों से भले ही चलती रही हो, परन्तु बाद में समझौता करके उन्होंने वैदिकों के साथ मेल-जोल रखा। भागवत-धर्म के समर्थक मान्य ग्रन्थों में वेद की प्रशंसा भरी-पड़ी है। भागवत-धर्म ने जैन-बौद्धों की अहिंसा के साथ समस्त वर्णों की अभेदता को अपनाया। इसने शूद्र, वैश्य, स्त्री आदि उन समस्त वर्गों को आश्वासन दिया, जिन्हें वैदिक धर्म के अधिष्ठाता ब्राह्मण-धर्म ने यज्ञादि कर्मों के अधिकार से वंचित कर दिया था। भागवत-धर्म की अपनी विशेषता थी, जिसे सबके लिए विहित घोषित करके इसने जनता के हृदय में स्थान पा लिया। जन-ग्राह्य होने के कारण तथा जनमत को स्वीकार करने के कारण इसे लोकधर्म या लोक-तंत्र कहा गया है। भागवत-धर्म का आस्तिकवाद अपनी आन्तरिक रूपरेखा में विशुद्ध वैदिक आस्तिकवाद है और ईश्वर को सृष्टि-रचियता के रूप में स्वीकार करता है। भारतवर्ष में भागवत-धर्म के व्यापक प्रचार का यही कारण है। बौद्धधर्म के अहिंसा के सिद्धान्त को अपनाने के साथ-साथ मंदिर में भगवान के अवतार के रूप में बुद्ध की मूर्ति की स्थापना कर पूजा करने के फलस्वरूप कालान्तर में भागवत-धर्म बौद्धधर्म को आत्मसात करने में समर्थ हुआ।

अपने समन्वयवादी व्यवहार के परिणाम-स्वरूप अनेक संप्रदायों को अपने साथ ले चलने का श्रेय पाञ्चरात्र संप्रदाय को ही प्राप्त है। पाञ्चरात्र के अनुयायी वैष्णवों ने अपनी इसी उदार भावना के कारण वेद-बाह्य, देशी विदेशी सभी व्यक्तियों को अपने अंक में आश्रय दिया। वैष्णव-संप्रदाय की यह नीति परवर्ती युगों में भी दिखाई देती है। मुसलमान-काल में चैतन्य महाप्रभु ने यवन हरिदास को अपना अभिन्न साथी बनाया और रहीम, रसखान सदृश

अनेक मुसलमान अपने को वैष्णव कहने लगे। आचार्य रामानन्द ने तो वैष्णव धर्म के मार्ग को प्रशस्त कर दिया और आचार्य वल्लभ ने तो अपने अनुयायियों के लिए जातिगत विभेद-भावना को प्रश्रय नहीं दिया।

जैसा हम पहले लिख चुके हैं, पाञ्चरात्र-साहित्य मेरुगिरि-निवासी चित्र शिखण्डी नामक सात ऋषियों द्वारा निर्मित माना जाता है। इन सात ऋषियों में मरीचि का नाम सर्वप्रथम आता है। इसी मरीचि ऋषि ने वैखानस-आगम की रचना की। अतः इन दोनों आगमों में काफी समता है। दोनों आगम नारायण को परम देवता मानते हैं। मन्दिर-निर्माण और प्रतिमा-पूजन की पद्धतियाँ भी दोनों में लगभग एक ही प्रकार की हैं। किन्तु एक विशेषता वैखानस-आगम की यह है कि वह वैदिकों से अधिक मेल खाता है। इसने वैदिक और पाञ्चरात्र पूजा-विधि का समन्वय किया है। इसके अनुसार भक्त को चाहिए कि वह अग्नि में नित्य होम करने के बाद घर में या मन्दिर में भक्तिपूर्वक नारायण विष्णु भगवान की नित्य अर्चना या आराधना करे। यह आराधना दो प्रकार की है—अमूर्त और मूर्त। अग्नि में जो हवन किया जाता है, वह अमूर्त है, वैदिक है। प्रतिमा का अर्चन करना मूर्त आराधना है। इस प्रकार यह वैखानस तपस्वी गृहस्थों का संप्रदाय कहा जा सकता है, जिसने वेद-मर्यादा को भंग नहीं होने दिया।

अतः पाञ्चरात्र और वैखानस मत के संक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट है कि इन मतों की एक प्रमुख विशेषता मन्दिर-निर्माण और देव-विग्रह की पूजा-पद्धति है, जिसे सामान्यतया मूर्ति पूजा कहा जा सकता है। मूर्ति पूजा विदेशी नहीं, इसी देश के मस्तिष्क की उपज है।

पाँचवाँ परिच्छेद

शाक्तमत और प्रतीक-पूजा

भारतीय धर्म-चर्चा में ब्रह्मा, विष्णु और महेश सर्वोच्च देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वस्तुतः ये त्रिदेव ब्रह्म के त्रिगुणात्मक रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्रह्मा सृजनमूलक रूप के प्रतीक हैं। वे देश और काल के अन्तर्गत होने-वाली चिरन्तन सृजन-प्रक्रिया के व्यञ्जन हैं। विष्णु संपोषण के अधिष्ठाता देवता हैं तथा शिव द्वारा विघटन और संपोषण की क्रियाएँ होती रहती हैं; और सृजन-प्रक्रिया के द्वारा इन आत्यन्तिक विरोधी प्रवृत्तियों में समन्वय की स्थापना की जाती है। संपोषण और विघटन के पारस्परिक तनाव के फल-स्वरूप एक विद्युतीय ऊर्जा का स्फुरण होता है। यही ऊर्जा शक्ति है। इसे ही जगदम्बा, जगद्धात्री, जगन्माता तथा अन्य नामों से पुकारा जाता है।

शक्ति ब्रह्म का ही प्रकाशित रूप है। निर्गुण और निर्विकार ब्रह्म शक्ति के रूप में अपने को प्रकाशित करता है। इसी शक्ति को ब्रह्ममयी भी कहा गया है। शक्ति ही सृष्टि का मूल तत्त्व है। जब शक्ति की निर्बाध धारा निर्गुण और निर्विकार ब्रह्म को आवृत करती हुई उद्दाम गति से प्रवाहित होती है, तभी संसार में सृजन, पोषण और संहार की क्रियाओं का समापन होता है। शक्ति की धारणा यह बताती है कि क्रिया-रहित ज्ञान मृत ज्ञान है। महामाया से ही समस्त सृष्टि-व्यापार का उदय हुआ है और वे ही ब्रह्माण्ड का आदिभूत कारण हैं। महाशक्ति ब्रह्मा, विष्णु और शिव की विशिष्ट शक्तियों के रूप में क्रीड़ा करती हैं। वे महामाया हैं; क्योंकि वे ब्रह्म-रूप शिव को अपने आवरणों में छिपाए हुए हैं। महानिद्रा-मग्न शिव शक्ति से युक्त होने पर ही सक्रिय होते हैं।

शिव चिरन्तन रूप में निष्क्रिय होते हैं। चरम निष्क्रियता ही शिव का मूलभूत स्वभाव है। इसलिए वामाचार-सूत्रों में शक्ति-रूपा नारी को शिव-रूप पर रमण करते हुए प्रदर्शित किया गया है। शिवा शिव-रूप शव पर नृत्य करती और मुक्ति प्रदान करती हैं।

ईश्वर को माता या नारी के रूप में कल्पित करने की धारणा वेदों में नहीं मिलती। किन्तु प्रागैतिहासिक तथा आदिम जातियों के धर्मों में ईश्वर की

कल्पना मातृ-रूप में की गई है। पुराण-युग शक्ति की धारणा के बहुमुखी विकास का युग है। इसी युग में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की विशिष्ट शक्तियों के रूप का वर्णन आरम्भ होता है। विष्णु की शक्ति के रूप में वे जगद्धात्री के रूप में लीला करती हैं। शिव के साथ वे ज्ञान की शक्ति के रूप में संयुक्त हैं। देवीभागवत-पुराण में देवी के दो रूपों का आख्यान दिया गया है। ऋषि 'देवी' के निर्गुण और सगुण रूपों की चर्चा करते हैं। सगुण के भी दो भेद हैं—(१) निराकार और (२) साकार। ऋषि बताते हैं कि आसक्त जनों को देवी के सगुण-साकार स्वरूप की भक्ति करनी चाहिए और अनासक्त लोगों को उनके निर्गुण-निराकार रूप की उपासना करनी चाहिए।

भारतीय चिन्तनधारा वैदिक एवं पौराणिक सम्प्रदायों (मत-धर्म) में नाम-भेद के अतिरिक्त एक-से ही रंग में प्रवाहित होते दृष्टिगोचर होती है। तथ्य यह है कि शक्ति का जहाँ प्राधान्य उभर पाया, वहाँ शाक्त धर्म या शाक्त शास्त्र प्रकाश में आ गया है और जहाँ समाज में शिव या विष्णु को प्रधानता दी गई, वहाँ शैव अथवा वैष्णव मत प्रचलित हो गया। यदि नाम-भेद के चक्कर में न पड़ा जाय तो मूल में सभी देव-रूपों और धर्मशास्त्रों का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य एकमेव दिखाई देता है। कहा भी है—

एकैव शक्तिः परमेश्वरस्य भिन्ना चतुर्धा व्यवहारकाले।
पुरुषेषु विष्णुर्भोगे भवानी समरे च दुर्गा प्रलये च काली।।

मातेश्वरी शक्ति परमेश्वर की उन प्रधान शक्तियों में से एक है, जिसका रूप आवश्यकतानुसार समय-समय पर विभिन्न रूपों में प्रकट होता रहा है। वही पुरुषों में पुरुषोत्तम विष्णु हैं, भोग में भवानी, युद्ध में दुर्गा और प्रलय में रूपकाली हैं।

ऋग्वेद (मण्डल १०, अध्याय १०, सूक्त १२५।१) में भगवती कहती हैं—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोमा बिभर्म्यहमिद्राग्नि अहमश्विनोभा।।

अर्थात् मैं वाग्देवी रुद्रगण और वसुगण के साथ विचरण करती हूँ। मैं आदित्यगण तथा अन्य देवताओं के साथ निवास करती हूँ। मैं मित्रावरुण को धारण करनेवाली और इन्द्र, अग्नि, अश्विद्वय का आश्रय करनेवाली हूँ।

ऋग्वेद में सरस्वती को वाक्-शक्ति एवं लक्ष्मी को सौभाग्य देवी एवं पूजनीय माना गया है।

उपासना के लिए ईश्वर को एक निश्चित रूप और भाव से देखना आवश्यक है, परन्तु इतने से ही उपासना पूरी नहीं हो जाती, वरन् भाव स्थिर करने करने पर ही उपासना का आरम्भ होता है। उसकी समाप्ति तो तब होती है जब भाव की परिपक्वता में वह संबंध प्रत्यक्ष हो जाता है और उपास्य और उपासक के बीच में जो माया का आवरण है, वह दूर हो जाता है।

उपासक को तो ईश्वर को अपने भावनानुकूल साँचे में ढालना ही पड़ता है, उसे स्वयं भी नवीन आदर्श में ढलकर चौबीस घंटे व्यवहार करना पड़ता है। उदाहरणार्थ स्वामी-भाव को लीजिए। ईश्वर जब स्वामी हुआ तब उपासक को सेवक बनना पड़ेगा। आदर्श सेवकों में हनूमान, भरत, लक्ष्मण आदि के नाम गिनाए जाते हैं। उपासक को बराबर यह ध्यान रखने की जरूरत है कि उसका जीवन अपने लिए नहीं; स्त्री, पुत्र, धन, जन, शरीर—कुछ भी उसके लिए नहीं है। संक्षेप में उसे सभी सांसारिक मोह-ममताओं से विगत होना पड़ता है। इसके बिना दास का भाव सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसा यह भव्य, किन्तु दुर्गम-दुरूह सेवा-मार्ग है।

उपासना के लिए ईश्वर को पिता के रूप में देखने में अधिक तरलता और कोमलता है। किन्तु, यहाँ भी कर्त्तव्य-भार बड़ा ही दुर्वह है। पुत्र में सेवक की कर्त्तव्यपरायणता तो होनी ही चाहिए, साथ-साथ उसमें प्रेम का विशेष पुट भी होना चाहिए।

ईश्वर को सखा समझना क्षुद्र मनुष्य के लिए बड़ा ही दुस्तर है। यदि हृदय पूर्णरूपेण उसे नहीं दिया जा सके तो सखा-भाव होगा ही नहीं।

और मधुरभाव ? एक किशोरी के शैशव का पवित्र हृदय नवीन स्फुरण से फड़कता हुआ जिस प्रकार एक योग्य पात्र को पाकर उसको चिरकाल के लिए वरण करता है और वह अपना रस-रिस, सुख-दुःख, मान-अपमान सब उसके हाथों में सौंप देती है, उसी प्रकार भगवान को अपना सर्वस्व, जीवनधन तथा प्रियतम जान और मानकर उसके साथ लगन लगा लेना जिन भावुक भक्त शिरोमणियों के लिए संभव हो वे इस पंथ पर पैर रख सकते हैं, दूसरे नहीं। पहले दर्जे की

हृदयासक्ति, प्रियतम (भगवान) के चरणों में निवेदन और आत्मविस्मृति में ही यह भाव पैदा होता है और इसी में परिपूर्णता पाता है।

परन्तु संसार में एक ऐसा भी संबंध है, जो किसी प्रकार का जोड़ना-तोड़ना, जानना-मानना नहीं जानता। वह स्वतः प्रमाण है। वह है माता और संतान का संबंध। यह संबंध इस बात की अपेक्षा नहीं रखता कि संतान अपनी माता को जाने और माने। किस शिशु को इस बात का ज्ञान रहता है कि माता-जैसी कोई वस्तु है। माता क्या इस बात की राह देखती है कि बच्चा मुझे माता समझे और माँ-माँ कहकर संबोधन करे तो मैं उसे स्तन-पान कराऊँ? मातृ संबंध के आगे संसार के सभी संबंध गौण हैं; उनमें कृत्रिमता है। मातृभाव से बढ़कर सहज, सुलभ एवं मौलिक दूसरा भाव मानव-हृदय में असंभव है।

माता के रूप में उपासना करनेवाले उपासक का जगज्जननी, माता की तरह सब प्रकार से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं का नित्य योग-क्षेम करती रहती है। संसार-सागर में पड़ा उसका पुत्र जिस समय अज्ञान और मोह के वशीभूत होकर हिताहित नहीं जान पाता और मृगतृष्णा के पीछे दौड़ने में ही अपना पुरुषार्थ मानता है, जिस समय विषय-वारुणी पीकर वह उन्मत्त होकर वेद-पुराण, आगम-निगम, ऋषि-देवता किसी की ओर आँख उठाकर देखना नहीं चाहता और केवल क्षणिक सुख-चैन के लिए व्यग्र हो मारा-मारा फिरता है. उस समय उसके हृदय में धीरे-धीरे मोक्ष, परम शान्ति एवं ऐकान्तिक सुख की खोज का बीज वह बो देती है और उसे सोते-जागते, रोते-हँसते, खाते-खेलते—सभी समयों में धीरे-धीरे, किन्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध भी, परम कल्याण-पथ पर ऊँगली पकड़-पकड़कर चलाने का अभ्यास करा देती है। इस अज्ञानावस्था में भी वह माता हैं और हम उनकी संतान हैं, वह स्वयं इस संबंध का ज्ञान करा देती हैं। हम उनकी संतान हैं और वह हमारी माता हैं, इस ज्ञान के हो जाने पर इस संबंध में, उसके व्यवहार में कोई भेद नहीं होता; भेद होता है हमारे लिए। हमारी माँ हमारे पास खड़ी स्वयं हमको परम पद पर ले जाने को तैयार है—इस ज्ञान से एक अपूर्व आनन्द, अत्यन्त निर्भरता एवं अनुपम प्रेम-प्रवाह का संचार भक्त के मन में होने लगता है। संसार-सागर में नाना विषय जब उसे पीड़ित करते हैं, तब वह रो उठता

है, किन्तु अब वह माता की ओर आँखें उठाकर रोता है और करुणामयी जगद्धात्री माता तत्काल उसे गोद में ले उसको सांत्वना देकर शान्त कर देती हैं। भक्ति की आत्म-निवेदनवाली अन्तिम दशा यहाँ आप-ही-आप उत्पन्न हो जाती है; क्योंकि यहाँ तो यह भाव है—

न मन्त्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथा।
न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनम्
परं जाने मातस्त्वदनुसरणं क्लेशहरणम्।

सृष्टि की उत्पत्ति-पालन-विनाश-कर्त्री शक्ति की मातृरूप में कल्पना मानव-हृदय की भावुकता एवं उसके मस्तिष्क की भावना का सबसे सुन्दर और मधुर नमूना है, इसमें संदेह नहीं। जिसके गर्भ से हम पैदा होते हैं, जिसके दिए हुए अमृत-रस का आस्वादन कर आनन्द और जीवन-लाभ करते हैं और चौबीसो घंटे जिसकी गोद में क्रीड़ा करते हैं, कभी उतरने का नाम नहीं लेते, उसको 'माँ' कहकर पुकारने से बढ़कर और क्या सहज एवं मर्मस्पर्शी हो सकता है। वह आदिशक्ति माता है और हम उसके बच्चे हैं। वह जगज्जननी हैं, जगन्मयी हैं, जगदानन्दकारिणी हैं। शाक्त इसी भाव का, इसी रूप का, इसी रंग का भूखा है और यह शाक्त धर्म की विशेषता और असाधारणता है।

"हमारी समस्त शक्ति माँ का आत्म-प्रकाश है। अपनी शक्ति के पृथक् अस्तित्व को भूलकर माँ के निकट पूर्ण आत्म-निवेदन कर, हमें अपने पृथक् अस्तित्व का लोप कर देना होगा। माँ शरणागत संतान के समस्त अभाव को दूर कर, उसके भीतर अपनी शक्ति का संचार कर अर्थात् संतान को संपूर्णतया मातृमय कर पुरुषोत्तम की पूजा करने की योग्यता प्रदान करती है। साधक यहाँ पर तत्त्व का आस्वादन करने में समर्थ होता है।

शक्ति-तत्त्व परमात्म-भाव का, सगुण ब्रह्म का द्योतक है। परमात्मा किस प्रकार शून्य तत्त्व भेदकर जीव को पूर्णता-लाभ कराने में सहायक होते हैं, वे किस प्रकार सब प्रयोजन सिद्ध कर जीव को पूर्णता दान करने में व्यस्त हैं, शाक्त तत्त्व द्वारा, मातृभाव द्वारा साधक को इस रहस्य का आस्वादन करने का सुयोग मिलता है।"[1] साधक की कामना रहती है—

1. पूजातत्त्व : म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपं देहि मे दिव्यदर्शनम् ।
कर्तुमिच्छामि ते प्रियं भूतानां हितसाधनम् ।।

अतः "व्यापकता, प्रभाव एवं सुगमता के कारण देवों की अपेक्षा शक्ति की उपासना लोक में विशेष फलवती मानी गई है। शक्तिमान देव भी स्व-स्व शक्ति से संचालित तथा सामर्थ्य-युक्त होते हैं। अंकुर में बीज, अग्नि में ज्वाला, तरलत्व में जल, आकाश में अवकाश, धृति, कीर्ति, बुद्धि, श्री, स्मृति, श्रद्धा, मेधा, दया, लज्जा, क्षुधा, तृष्णा, क्षमा, कान्ति, ह्री, वाक्—सभी नारियाँ हैं तथा प्रकारान्तर से चराचर में सर्वत्र शक्ति व्याप्त है। उस शक्ति को जानकर उसकी उपासना से उसे सर्वत्र प्राप्त किया जा सकता है। मातृदेवी-भाव के प्रथम संकेत 'न मातुः परं दैवतम्' में मातृशक्ति तथा देवी के सर्वश्रेष्ठ देवता होने का निर्देश भी किया गया है। इसी धारणा के कारण सच्चिदानन्द परब्रह्म की स्वाभाविक पराशक्ति को शाक्त संप्रदाय में उपास्य परम देवता माना जाता है। परम तत्त्व का पुंल्लिग, नपुंसक लिंग साथ ही स्त्रीलिंग में भी निर्देश प्राप्त है। यथा—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपा। (श्वेत० उपनिषद् ४।५)

अर्थात् आदिशक्ति अजा एक है। उसके लोहित, शुक्ल और कृष्ण रूप से ही विविध प्रकार की सृष्टि हुई है।

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ति या भूतेभिर्व्यजायता एतद्वै तत् ।।
(कठ उप० २।१।७)

जो देवतामयी अदिति प्राणरूप से प्रकट होती हैं तथा जो बुद्धिरूप गुहा में प्रविष्ट होकर रहनेवाली और भूतों के साथ प्रकट हुई हैं, उन्हें देखो। निश्चय वही यह तत्त्व है।"[1]

ऐश्वर्य, पराक्रम तथा ज्ञान प्रदान करने के साथ ही महाशक्ति अपने भक्तों के बाहरी तथा भीतरी शत्रुओं का नाश कर उन्हें आपत्तियों से विमुक्त कर देती हैं। इसीलिए भारत में सर्वत्र देवी की उपासना की जाती है। इस भौतिक एवं अर्थ-लोलुप युग के कारण उत्पन्न अनास्था में भी भारत के प्रत्येक

1. **शाक्त संप्रदाय** : पं० रामप्यारे जी मिश्र
('कल्याण', उपासना-अंक, १९६८)

भाग में बिखरे हुए प्रख्यात एक सौ आठ 'देवीधाम' तथा इक्यावन 'शक्ति-पीठ' ऐसे हैं, जहाँ शाक्तगण नित्य देवी की उपासना करते हैं।

सती के शरीर के कटिभाग से ऊपर के भाग जहाँ गिरे, वे स्थान दक्षिण-मार्ग की उपासना के लिए और जहाँ कटि के निम्न भाग गिरे, वे स्थान वाम-मार्ग की उपासना के लिए विशेष फलप्रद माने जाते हैं।

भारत के धार्मिक इतिवृत्त से यह बात स्पष्ट है कि शाक्तमत का संगठित रूप देवीभागवत-महापुराण की छाया में ही प्रगति कर पाया था। शक्ति की महिमा १८ महापुराणों में प्रकारान्तर से आई है, पर शैव और शाक्त पुराणों ने इस संप्रदाय के विकास-प्रचार में अद्भुत सहयोग दिया था।

देवीभागवत-पुराण में उस परब्रह्म परमात्मा का देवी के नाम से ही उल्लेख किया गया है। विज्ञानानन्दघन ब्रह्म का तत्त्व अति सूक्ष्म और गुह्य होने के कारण शास्त्रों में उसे नाना प्रकार से समझाया गया है। अतः देवी के नाम से परब्रह्म परमात्मा की उपासना करने से भी परमपद की प्राप्ति होती है। उसी एक ही परम तत्त्व की निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, देव, देवी, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, राम, कृष्ण आदि अनेक नाम रूपों से भक्त लोग उपासना करते हैं। जो मनुष्य तत्त्व-रहस्य को जानकर शास्त्रों और महापुरुषों के बतलाए हुए मार्ग के अनुसार निष्काम भाव से उपासना करते हैं, उन सभी साधकों को उस परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति होती है।

पुराण-मर्मज्ञों की यह भी मान्यता रही है कि देवीभागवत-पुराण तंत्रा-नुसारी है, अर्थात् इसमें तंत्र का प्रचुर भाव सन्निहित है। शाक्तों ने देवी-भागवत के आधार पर अपने तंत्रात्मक साहित्य का इतना विस्तार किया है कि उनकी कृतियाँ भी शास्त्र बन गई हैं। देवीभागवत में प्रकृति या शक्ति की प्रधानता दर्शाई गई है, और यह मान्यता प्रकट की गई है कि एतद भुवन की नियंत्रण-अधिष्ठात्री विश्वमोहिनी महाशक्ति चैतन्यमयी ब्रह्मरूपा हैं। भारतीय वाङ्मय के तत्त्व-विज्ञान के अनुसार साधक, महाशक्ति को मानव-देह में भी अपने शरीर के अन्तर्वर्ती ब्रह्मरन्ध्र में साधन कर प्राप्त कर सकता है।

शक्ति को ही संपूर्ण जगत की आत्मा और चेतन एवं अचेतन जगत का कारण कहा गया है—

एदेकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदेवमयस्य च।
योऽसौ सोऽह योऽसौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्॥
अनयोरन्तरं सूक्ष्मं यो वेद मतिमान् हि सः।
विमुक्तः स तु संसारान्मुच्यते नात्र संशयः॥
एकमेव द्वितीयं वै ब्रह्म नित्यं सनातनम्। (देवीभागवत, ३।६)

अर्थात् (देवी ने कहा—) ब्रह्म एक ही है। मुझमें और इन ब्रह्म में कभी किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है, जो वे हैं वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही वे हैं। बुद्धि के भ्रम से भेद प्रतीत हो रहा है। हमलोगों के सूक्ष्म भेद को जो जानता है, वही बुद्धिमान पुरुष है। उसके संसार-सागर से मुक्त होने में कुछ भी संदेह नहीं है। ब्रह्म नित्य, सनातन और एक ही है।

शास्त्रकारों ने अपने-अपने ढंग से नाना नामों की उपाधि देकर शक्ति की महिमा को प्रकाशित किया है। देवीभागवत में निर्गुण शक्ति का आद्या-शक्ति से स्मरण किया गया है। यथा—

सगुणा निर्गुणा चेति द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः।
सगुणाः रागिभि सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः॥

अर्थात् पराशक्ति देवी को मनीषिगण साकार-निराकार-भेद से दो स्वरूपों में पाते हैं। संसार में आसक्त साधक जन देवी के सगुण-भाव को और निर्मल ज्ञान एवं विवेकी जन देवी के निर्गुण-भाव को अपनाकर आराधना करते हैं। इस भावना का ही दर्शन कूर्मपुराण के १२वें अध्याय में मिला है। यथा—

अनन्तं प्रकृतौ लीनं देव्यास्तत्परमं पदम्।
शुभ्रं निरञ्जनं शुद्धं निर्गुणं दैव्यवर्जितम्॥
आत्मोपलब्धिविषयं देव्यास्तत्परमं पदम्।

अर्थात् प्रकृति में लीन अनन्त शक्ति के उस मंगल-रूप के परम तत्त्व को, देवी के अतीव निर्मल, दीनता-दोष-रहित निर्गुण, निरंजन स्वरूप को शुद्ध, पवित्र विमल चित्तवाले ही प्राप्त करते हैं।

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

इस प्रकार शक्ति की मातृ-उपासना का रूप भी अत्यन्त प्राचीन है। आरम्भ में यह उपासना अर्द्धनारीश्वर के रूप में होती थी। इसके अतिरिक्त

शवर एवं पुलिन्द भी शक्ति के उपासक थे। कतिपय विद्वानों का तो यह भी मत है कि शक्ति-पूजा का विकास बौद्धधर्म के माध्यम से ही संपन्न हुआ था। बौद्धधर्म के अन्तर्गत धर्म की पूजा स्त्री-देवता के रूप में होती थी। बौद्धों के द्वारा आदिमाता एवं बुद्ध-माता के रूप म स्त्री-देवता की पूजा की जाती थी। आदिमाता समस्त तथागतों की माता समझी जाती थीं। इसके अलावा नेपाली बौद्धधर्म के अन्तर्गत हमें शाक्ततंत्र की तरह देवी के कुमारी, माता आदि अनेक रूप मिलते हैं। हमारे शक्ति-उपासक वैदिक विद्वान तो मानते हैं कि भगवान का यह 'शक्ति-रूप' भी अनादि है और अनादिकाल से ही शक्ति की उपासना प्रचलित है।

शाक्त, द्वैत आदि स्वतंत्र संप्रदायों में तो महाशक्ति की पूजा प्रचलित रही ही है। शांकर वेदान्त जैसे विरक्त संप्रदाय में भी षोडशी-त्रिपुराधन की पद्धति है। गायत्री के रूप में ये ही उपास्य हैं। इनकी उपासना-पद्धति के प्रदर्शन के लिए संस्कृत-वाङ्मय में बड़ी भारी साहित्य-राशि, पद्धति, कथा-निरूपक आदि अनेक प्रकार हैं। पर देवीभागवत में ये एक साथ उपलब्ध हैं। साथ ही कालिका-पुराण, त्रिपुरारहस्य आदि कथा-ग्रन्थों में यही सर्वोत्तम है। इसकी कथाएँ बड़ी ललित हैं और भाषा बड़ी ही सरल है। गायत्री पर जितना विशद विचार तथा पञ्चाङ्गादि का सविधि निरूपण एवं अनुष्ठान-प्रकार इसमें वर्णित हैं, उतना अन्यत्र नहीं।

शाक्तमत के पौराणिक साहित्य में देवीभागवत पर नीलकण्ठ की टीका एवं प्रस्तावना और इसी महापुराण का देवीगीता-प्रकरण, मार्कण्डेय-पुराण की देवी-सप्तशती या देवी-माहात्म्य, ब्रह्माण्ड-पुराण के द्वितीय भाग का ललित-रहस्य (३२० श्लोकों का प्रकरण) और उपपुराणों में कालिका एवं सूत-संहिता के यज्ञ-वैभव खण्ड के ४७वें अध्याय का शक्ति-स्तोत्र महत्त्वपूर्ण श्रेष्ठ वाङ्मय हैं। देवी-शक्ति के मत पर यंत्र-तंत्र-साहित्य में काश्मीर के पण्डितों की कृतियाँ, दाक्षिणात्य विद्वानों के अद्भुत ग्रन्थ एवं बड़ौदा-बंगाल की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

शिवपुराण के आधार पर कुछ लोगों का विचार है कि जो लोग वैदिक मार्ग-भ्रष्ट हैं, जिनको वैदिक मार्ग में अधिकार नहीं है, वे ही तंत्रोक्त धर्म का आचरण करें, तंत्रोक्त पूजादि करें। श्रुतिपथ-निरत मनुष्य के लिए वेदोदित पूजा ही कर्त्तव्य है।

अग्निपुराण में कहा गया है कि विष्णु की तीन प्रकार की उपासना-पद्धति—वैदिक, तांत्रिक तथा मिश्र—है। यथा—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रो विष्णोर्वै त्रिविधो मखः।

श्रीमद्भागवत (११।२७।७) में भी भगवान श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्॥

अर्थात् मेरे मख (यज्ञ, पूजा, उपासना-पद्धति) वैदिक, तांत्रिक और मिश्र—तीन प्रकार के हैं। इनमें से यथाभिलषित विधि के द्वारा मनुष्य अपने अधिकार और श्रद्धा के अनुसार मेरी पूजा करे।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि तांत्रिक पूजा वैदिक पूजा नहीं है; या तो शुद्ध तांत्रिक है या कोई-कोई मिश्रित है।

देवीभागवत (७।३९।२६-२७; ३१-३२) का ही हवाला देते हुए **शुद्ध** वेदज्ञों का कथन है कि श्रुति और स्मृति के विरुद्ध जो अन्यान्य विविध शास्त्र हैं, वे सभी तामस शास्त्र हैं।

अन्यानि यानि शास्त्राणि लोकेऽस्मिन् विविधानि च।
श्रुतिस्मृतिविरुद्धानि तामसान्येव सर्वशः॥
वामं कापालकं चैव कौलकं भैरवागमः।
शिवेन मोहनार्थाय प्रणीतो नान्यहेतुकः॥

× × ×

तत्र वेदा विरुद्धोंऽशोऽव्यक्त एव क्वचित् क्वचित्।
वैदिकैस्तद् ग्रहे दोषो न भवत्येव कर्हिचित्॥
सर्वथा वेदभिन्नार्थे नाधिकारी द्विजो भवेत्।
वेदाधिकारहीनस्तु भवेत् तन्त्राधिकारवान्॥

अर्थात् यहाँ पर श्रुति और स्मृति के विरुद्ध अन्यान्य शास्त्रों को तामस बतलाते हुए कहा है गया कि शिव ने वामाचार-तंत्र, कपाल-तंत्र, कौल-तंत्र, भैरव-तंत्र आदि तंत्र-ग्रन्थों को मोहित करने के लिए हो रचे।

अतः तंत्रशास्त्र में जहाँ-जहाँ वेद से अविरुद्ध अंश हैं, वेदमार्गानुसारी लोगों के लिए उन अंशों का ग्रहण किसी प्रकार दोषयुक्त नहीं होता, किन्तु द्विजगण वेद-विरुद्ध अंश ग्रहण करने के सर्वथा अनधिकारी हैं। यह जानना चाहिए कि जिनका वेदों में अधिकार नहीं है, वे ही केवल तंत्र के अधिकारी हैं।

देवीभागवत-पुराण से ही (११।१।२५-२६) स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि नारद के प्रश्न पर विष्णु ने कहा कि वेद-विरुद्ध तंत्र किसी भाव से ग्राह्य नहीं है। एकमात्र वेद ही धर्म के मुख्य प्रमाण हैं। देवीभागवत में कहा भी है—

वेदाविरोधी चेत् तन्त्रं तत् प्रमाणं न संशय ।
प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धं यत् तत् प्रमाणं भवेन्न च ॥
सर्वथा वेद एवासौ धर्ममार्गप्रमाणकः ।
तेनाविरुद्धं यत् किञ्चित् तत् प्रमाणं न चान्यथा ॥

सूत-संहिता में बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की पूजा का वर्णन है। पुनः वैदिकी और तांत्रिकी भेद से बाह्य पूजा भी विविध कही गई है। सूत-संहिता में वैदिकी पूजा से वेद और वेदमूलक स्मृति पुराणादि के द्वारा प्रतिपादित पूजा का और तांत्रिकी पूजा से वेद निरपेक्ष (स्वतंत्र) शिवोक्त आगम प्रतिपादित पूजा लक्ष्य है।

"सूत-संहिता और उसकी माधवाचार्य-कृत तात्पर्यदीपिका नाम्नी व्याख्या पढ़ने से ज्ञात होता है कि जो लोग तंत्रोक्त दीक्षा द्वारा संस्कृत हैं, वे वैदिकी पूजा के अधिकारी हैं। केवल शक्ति-पूजादि का ही नहीं, अपितु शिव, विष्णु, विनायक आदि की पूजा के भी वैदिक और तांत्रिक द्विविध विभाग के अनुसार प्रकार-भेद हैं। जो व्यक्ति जिस मार्ग का अधिकारी है, उसके लिए उसी मार्ग के अनुसार पूजा करना उचित है; स्वमार्ग के अतिक्रमण की श्रुति और बाद में श्रीमद्भगवद्गीता ने निन्दा की है।"[1]

किन्तु अनेक शास्त्रों का कथन है कि "आस्तिक हिन्दुओं को इस बात की खबर ही नहीं है कि वे जिस धर्म के अनुयायी हैं, उसकी रचना आगमशास्त्र (शाक्त धर्म) के पुनीत सिद्धान्तों पर ही हुई है। इसी अज्ञान के कारण वह पवित्र शास्त्र (धर्म) इस पुण्यभूमि से धीरे-धीरे तिरोहित होता गया। भूतकाल में अहिंसावादी जैनों और बौद्धों के प्रबल पड़ जाने पर वेदों के साथ-साथ इसके भी विनाश का उपक्रम दिन-दिन बढ़ता ही गया, यहाँ तक कि हिन्दुओं की एक विशाल संख्या ने उक्त दोनों वेद-विरोधी धर्मों के प्रभाव में पड़कर अहिंसा-धर्म को ग्रहण किया। इस प्रकार स्वयं हिन्दू ही वेद के साथ-साथ अपने इस युग विशेष के वेद के भी विनाश के कारण हुए।"[2]

---

1. श्री शंकरतीर्थ जी
2. वंशीधर शुक्ल : वाममार्ग, पृ० ३-४

किन्तु शुक्ल जी के इस विचार से कि शाक्तमत वेद-प्रतिपादित रहा है और अहिंसा के मूलभूत जो वैष्णव-मार्ग का प्रचार हुआ, वह अवैदिक है, मैं असहमत हूँ। शुक्ल जी का यह भी कथन कि याज्ञिक बलि-प्रथा वेद-विहित थी और वैष्णव-धर्म, जो पूर्णतया अहिंसक और बलि-प्रथा का विरोधी है, वैदिक प्रणाली का अन्त करने का साधन हुआ, सर्वथा निराधार है। वैदिक यज्ञ-प्रथा मूलतः अहिंसक थी और कालान्तर में वेद-मंत्र के अर्थ का मनमाने ढंग से प्रचार कर बलि-प्रथा को प्रश्रय दिया गया। पाञ्चरात्र-धर्म की प्रतिष्ठा तक श्रीकृष्ण ने स्वयं अहिंसा को परम धर्म कहा। यथा—

प्राणिनांहि वधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम।
अमृतां च वदेत् वाचं न च हिंस्यात् कथञ्चन ॥

(महा० कर्ण-पर्व २३।६६)

कुछ विद्वानों का मत है कि भारतवर्ष में अहिंसा की उत्पत्ति जैनों तथा बौद्धों से मानना एक भयंकर ऐतिहासिक भूल है; क्योंकि इस सिद्धान्त का उदय ब्राह्मण-धर्म के भीतर ही हुआ। प्रो० बलदेव उपाध्याय का यह भी विचार है कि "नितान्त वैदिक भागवत-धर्म ने ही सर्वप्रथम अहिंसा-सिद्धान्त का आरम्भ तथा प्रचार किया।"[1] जो हो, यह अत्यन्त विवादग्रस्त विषय है कि अहिंसा-धर्म का आरम्भ बौद्ध और जैन सिद्धान्तों के प्रचार से हुआ या इन दोनों धर्मों ने अहिंसा-सिद्धान्त को विशेष रूप से प्रगति दी।

तंत्रग्रन्थ, जो शाक्त-संप्रदाय के आधार हैं, संवाद-रूप में हैं। जिनमें वक्ता का स्थान शिव ने और श्रोता का पार्वती ने ग्रहण किया है, वे आगम कहलाते हैं और जिनमें वक्ता का स्थान पार्वती ने और श्रोता का शिव ने ग्रहण किया है, वे निगम कहलाते हैं। डामरों, यामलों के वक्ता अकेले शिव हैं; और उपतंत्र तपोवन ऋषियों की रचनाएँ हैं।

तंत्रधर्मानुयायी आगम, निगम और डामर-यामल की श्रेणी के ग्रन्थों को ईश-वाक्य मानते हैं और वेदों के समान ही उन्हें पूज्य समझते हैं। इन पूज्य ग्रन्थों में युग-विशेष के धर्म का उपदेश किया गया है। लिखा है—"कलिदोष के कारण द्विज लोग पवित्रापवित्र का विचार नहीं करेंगे। अतएव वैदिक कृत्यों द्वारा मुक्ति-लाभ करने में समर्थ नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में स्मृतियाँ और संहिताएँ मनुष्य-जाति को कल्याण की ओर नहीं ले जा सकेंगी। हे प्रिये! मैं तुमसे

1. प्रो० उपाध्याय : **वैष्णव धर्म**, प्रथम परिच्छेद

सत्य कहता हूँ कि कलिकाल में आगम-सम्मत धर्म को छोड़कर दूसरा मार्ग नहीं है।....अब वैदिक निर्विष सर्प के सदृश शक्तिहीन हो गए हैं।........जो व्यक्ति कलिकाल में दूसरे धर्म-ग्रन्थों के अनुसार अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहता है, वह मूर्ख है। प्यास से पीड़ित होकर वह गंगा की बालू में कुँआ खोदना चाहता है। इस युग में तंत्रोक्त मंत्र ही शीघ्र फलप्रद है।

"किन्तु अज्ञानवश एवं अन्य कारणों से साधारण आस्तिक हिन्दू तंत्रशास्त्र के महत्त्व को नहीं स्वीकार करते। यही नहीं, कोई-कोई तो उनका विरोध तथा निन्दा करते हैं। परन्तु उनका ऐसा करना उचित नहीं है; क्योंकि आस्तिक हिन्दू किसी-न-किसी देवता का उपासक होता ही है। यदि वह शैव, वैष्णव या शाक्त आदि है तो अपने इष्टदेवों की यथाशक्ति षोडशोपचार से पूजा करता ही होगा। ऐसी दशा में वह तंत्रशास्त्र की कैसे उपेक्षा कर सकता है ?

"वस्तुतः तंत्रशास्त्र सार्वजनिक और सार्वदेशिक शास्त्र है। इसमें शैवों, शाक्तों, वैष्णवों आदि सभी भिन्न-भिन्न संप्रदायों की उपासना-विधियों का वर्णन है और यह अपौरुषेय शास्त्र संपूर्ण आस्तिक हिन्दू-समाज पर आज भी अपना प्रभाव डाले हुए है। वाममार्ग ऐसे ही शास्त्र का एक आचार है। यही नहीं, यह उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग है; क्योंकि उस शास्त्र में उपासना की सिद्धि का केन्द्र माना गया है।"[1]

शाक्त, वाम (वाममार्गी) और कौल तो जगज्जननी के उपासक, माता के पुजारी होते हैं। वह माता ऐसी-वैसी नहीं है। वह है त्रैलोक्य-जननी, विश्वम्भरी, कृपा-सागरा और सच्चिदानन्द-रूपिणी। वह है भक्त-वत्सला और पुत्ररूपी वत्स के लिए अमृतरस-दायिनी कामदूहा। वह एक ओर अपने संसार-सागर में डूबते हुए पुत्रों को अमोघ वाणी से उत्साहित करती है, तो दूसरी ओर वर-प्रदान के लिए सर्वदा उन्मुक्तहस्त खड़ी रहती हैं, इसीलिए उनका नाम है जगत्तारिणी।

"आदिशक्ति महामाया के जितने रूप शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, वे दो कोटियों में रखे जा सकते हैं। यहाँ उन्हें अभी मधुर और उग्र के नाम से कहा जाएगा। मधुर रूप में जैसे लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, सीता एवं राधा आदि तथा उग्र रूप में प्रायः काली, तारा, भैरवी, भुवनेश्वरी, दुर्गा आदि प्रसिद्ध हैं। त्रिपुरासुन्दरी

1. **वाममार्ग : पं० वंशीधर शुक्ल**

और षोडशी का रूप दिव्य सौन्दर्य और माधुर्य की परिसीमा होने पर भी, उग्रतायुक्त है। उसमें कोमलता और लावण्य का प्राधान्य नहीं हो सकता है। मातृ-उपासना के मस्तानों ने मधुर रूप को गौण स्थान दिया है और उग्र रूपों की भक्ति-भावना में अपने को मिटा दिया है—यह बड़ा विचित्र है। पर उसमें एक रहस्य है।

"परन्तु इस रहस्य की चर्चा करने के पहले इस प्रकार के रूपों के अवतार-क्रम पर दृष्टि डालनी होगी। दोनों प्रकार के रूप उसी आदिशक्ति सच्चिदानन्द-रूपा महामाया के हैं। दोनों ही उसकी विभूतियों के उत्कृष्टतम प्रकाश हैं। दोनों ही उसी अनादि आद्या के निज इच्छा-निर्मित तनु हैं। किन्तु दोनों के आविर्भाव-क्रम में भेद है। लक्ष्मी, सरस्वती एवं पार्वती त्रिदेवों की शक्तियाँ हैं। उनका आविर्भाव उन त्रिदेवों को कर्तृत्व-प्रदानार्थ हुआ है। यही बात सीता और राधा के अवतारों के लिए भी ठीक है। भगवान राम और श्रीकृष्ण की लीला को सर्वांगीणता देने के लिए ही उनका आविर्भाव हुआ था। सांख्य के शब्दों में यदि कहना चाहें तो इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रकृति पुरुष के आनन्द के लिए, अपनी लीला करने का अवसर देने के लिए, अपना भाण्डार खोल-कर उसके सहायतार्थ आप भी आ खड़ी हुई थी। इसे अधिक सीधी निरलं-कारिक भाषा में इस प्रकार कहा जाएगा—पुरुष, महापुरुष या पुरुषोत्तम की इच्छा हुई संसार में आने की। यहाँ आकर संसारानुकूल लीला या आनन्द बढ़ाने की। अतएव उसने सर्वशक्तियों की अधिष्ठात्री महामाया का स्मरण किया, उसकी सहायता के लिए आह्वान किया। इस आह्वान को सुनकर उसको पूरा करने के लिए उसने यथावत् अपनी लीला का विस्तार किया।

"परन्तु इधर की बात दूसरी है। अत्रिपुत्रों ने पुकारा माँ! दौड़ो, रक्षा करो; और उसके आगे तत्काल आ खड़ी हुईं। किस हेतु? अपने इच्छानुसार लीला करने के लिए? नहीं, पुत्रों की इच्छा के लिए, उनका पालन-पोषण करने के लिए। यह कार्य संपन्न कर पुत्रों को फिर अभय-मंत्र सुनाती हुई चली गईं।

"अतः पहले में महामाया के अवतार का कारण हुआ है सृष्टि-लीला-विस्तार हेतु पुरुषोतम की इच्छा। दूसरे का कारण है सृष्टि-जाल के कठोर बंधन से उत्पीड़ित निस्सहाय आत्माओं की निस्तार-कामना। फलतः भव-व्याधि से छूटने की इच्छा रखनेवाले उपासकों ने दूसरी श्रेणी के रूपों में ही अपनी इच्छा को फलवती करनेवाली नख-शिख सर्वांगीण मातृमूर्ति का दर्शन

पाया। यह सहज ही देखा जा सकता है कि इन मधुर और उग्र रूपों का क्या भेद है। मधुर रूप पुरुष की लीलाप्रियता-जनित है। उग्र रूप पुरुष की भवभय से विमुक्ति होने की आकांक्षाजनित है। पहला पुरुष की **"एकोहं बहु स्याम्"** भावना का फल है; दूसरा, **"नेह नानास्ति किञ्चन"** की भावना में पुनः आत्मस्थ होने की इच्छा का। एक संसार-लीला-विस्तारार्थ है; दूसरा संसार-लीला-संवरणार्थ।"[1]

"महाभारत-युद्ध के बाद से बौद्धधर्म के प्रारम्भ होने के पहले तक अर्थात् कोई दो हजार वर्ष तक भारतवर्ष में तंत्रधर्म का प्राबल्य रहा। तंत्र-ग्रन्थों के वचनों से प्रकट होता है कि किसी समय भारत तीन क्रान्तों में विभक्त था। ये तीन क्रान्त—विष्णुक्रान्त, रथक्रान्त और अश्वक्रान्त के नाम से प्रसिद्ध थे। पूर्वोत्तरीय भाग विष्णुक्रान्त, पश्चिमोत्तरीय रथक्रान्त और अवशिष्ट तथा दक्षिणी भाग अश्वक्रान्त था। इन क्रान्तों की सीमा में आज के ईरान, अफगानिस्तान, तिब्बत, ब्रह्मदेश, जावा आदि देश आ जाते हैं। मतलब यह है कि समस्त पूर्वी एवं दक्षिणी एशिया में तांत्रिक साधना का बहुत अधिक प्रचार था। इस भौगोलिक देश-विभाजन का केन्द्र विन्ध्याचल का पूर्वी सिरा—करतीया नदी—माना गया था। तंत्र ऐसा ही महत्वपूर्ण शास्त्र है।

"ब्रह्मोपासना से लेकर क्षुद्रदेवोपासना तक की साधना-विधि तंत्रशास्त्र में बताई गई है। हठयोग से लेकर नाम-स्तवन तक की उसमें व्याख्या दी गई है। उसमें पूजा-विधि, भूतों का वर्गीकरण, खगोल, लोकों, नरकों तथा स्त्रियों का वर्णन, युगधर्म, आश्रमधर्म, संस्कार, देव-मूर्ति-प्रतिष्ठा, मंत्र यंत्र, मुद्रा-क्रिया, साधनक्रम, आन्तर एवं बाह्य उपासना-विधि, गृह-वापी तथा कूप की प्रतिष्ठा, वृक्षारोपण, तीर्थ-कथन, पुरश्चरण-विधि, जप-विधि, व्रत, षट्कर्म-उत्सव, ध्यान-योग, राजधर्म, धर्मशास्त्र, औषधि-क्रिया, साधारण विज्ञान आदि नाना प्रकार के विषयों का समावेश है। अतएव तंत्रशास्त्र सार्वदेशिक शास्त्र है। उसका उपदेश मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए किया गया है।"[2]

शाक्तमत का ध्येय परमात्मा के साथ जीवात्मा की अभेद-सिद्धि है। तांत्रिक उपासना का प्रथम सिद्धान्त है कि उपासक अपने उपास्य देव के साथ तादात्म्य स्थापित करे। इस प्रकार शाक्तमत अद्वैतवाद का साधन-मार्ग है। शाक्तों की

1. श्री रमाचरण : मातृ-उपासना
2. वंशीधर शुक्ल : वाममार्ग

प्रत्येक साधना में अद्वैतवाद अनुस्यूत रहता है। सच्चे साधक की यह धारणा रहती है—

अहं देवी न चान्योस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥

अर्थात् मैं ही देवी हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ और मैं ही सच्चिदानन्द-रूप हूँ।

तांत्रिक आचार अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। गुरु से दीक्षा ग्रहण करने के समय शिष्य को इसका रहस्य समझाया जाता है। तांत्रिक पूजा केवल चुने हुए कतिपय अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही है। अतः यह गुप्त रखी जाती है।

शाक्तमत के तीन भाव—पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव—तथा सात आचार बनाए गए हैं। शाक्तमत के मान्य ग्रन्थ 'कुलार्णव' में सात आचारों के नाम श्रेणी के साथ दिए गए हैं। ये हैं—(१) वेदाचार, (२) वैष्णवाचार, (३) शैवाचार, (४) दक्षिणाचार, (५) वामाचार, (६) सिद्धान्ताचार और (७) कौलाचार। एक मत के अनुसार इनके अतिरिक्त अघोराचार तथा योगाचार भी हैं। भाव मानसिक अवस्था है और आचार बाह्याचरण। जिसमें अविद्या के कारण अद्वैत-ज्ञान लेशमात्र भी नहीं है, उस भाव को पशुभाव कहा है; क्योंकि ऐसे लोग पशु के सदृश अज्ञान में पड़े हुए हैं। जो साधक अज्ञान-रज्जु को काटने में कुछ भी कृतकार्य हो चुके हैं, उनका भाव वीरभाव हो जाता है। वीरभाव उद्योग का द्योतक है, किन्तु अद्वैतानन्द का आस्वादन करनेवालों का दिव्य भाव हो जाता है। आचारों में प्रथम चार पशुभाव के साधक के लिए हैं। वामाचर तथा सिद्धान्ताचार केवल वीरभाव के साधक के लिए हैं। सवश्रेष्ठ आचार कौलाचार है, जो पूर्ण अद्वैतवाद से विभूषित दिव्य साधक के लिएहै। प्रत्येक साधक को भिन्न-भिन्न श्रेणियों को पार करके अंत में कौल की स्थिति प्राप्त करनी होती है।

१. वेदाचार के साधक को वैदिक नित्य-कर्म करने पड़ते हैं। इसके सिवा सभी दूसरे आचार सम्मिलित रहते हैं। धर्म की दृढ़ता के इस आचार में बाह्य और कर्मपरक पूजा करनी पड़ती है। यह आचार कर्मकाण्ड-प्रधान है।

२. वैष्णवाचार का साधक अंधविश्वास से निकलकर ब्रह्म की इच्छा-शक्ति का ज्ञान प्राप्त करता है। यह भक्ति-प्रधान है।

३. शैवाचार में धर्म की रक्षा और अधर्म के विनाश के भाव से साधक प्रवेश करता है। उसमें भक्ति और अन्तर्लक्ष्य का मेल होता है। यह ज्ञान-प्रधान है।

४. दक्षिणाचार में ब्रह्म की क्रिया, इच्छा और ज्ञान-शक्तियों की ध्यान-धारणा की जाती है। साधक गुणत्रय के संबंध का अनुभव करता है और पूर्णाभिषेक की स्थिति प्राप्त करता है। इसी स्थिति में साधक दीक्षा ग्रहण कर वामाचार का अधिकारी होता है। उपर्युक्त चार आचारों को पार करने पर ही साधक इस स्थिति को प्राप्त करता है, किन्तु यदि किसी साधक का जन्म वामाचारी वंश में हुआ है, तो वह पूर्ण रूप से वाम-मार्ग का अधिकारी समझा जाता है; क्योंकि वह अपने पहले के जन्मों में प्रारम्भिक आचारों को पूर्ण कर चुका है।

५. वामाचार में प्रवेश करने पर निवृत्ति-मार्ग ग्रहण होता है। इस मार्ग में प्रवृत्ति की शक्ति का ऐसे ढंग से उपयोग किया जाता है कि वह अपने-आप विनष्ट हो जाय। इसमें केवल खाने-पीने और भोग की इच्छाओं का ही दमन नहीं किया जाता, बल्कि साधक को आठ पाश तोड़ने पड़ते हैं। इस प्रकार वह शिवत्व को प्राप्त करता है।

परन्तु साधक को देवता की पूजा करने का तभी अधिकार प्राप्त होता है, जब वह पञ्चशुद्धियाँ—(१) भूत-शुद्धि, (२) आत्म-शुद्धि, (३) स्थान-शुद्धि, (४) मंत्र-शुद्धि और (५) देवता-शुद्धि—करता है। स्नान भूत-शुद्धि है। प्राणायाम, षडंगादिन्यास करना आत्म-शुद्धि है। पूजागृह को स्वच्छ रखना और उसे फूल-मालाओं से अलंकृत रखना तथा सुवासित करना स्थान-शुद्धि है। मूलमंत्र को मिलाकर मातृका-मंत्र का अनुलोम-विलोम जप करना मंत्रशुद्धि है। मूलमंत्र और अस्त्रमंत्र से अभिमंत्रित जल को पूजा-द्रव्यों पर छिड़ककर और उनको धेनु-मुद्रा दिखलाकर उन्हें अमृतमय बनाना द्रव्यशुद्धि है। देवताओं को उपयुक्त पीठ पर स्थापित कर प्राणमंत्र से उनकी शक्ति का आह्वान कर उन्हें मूलमंत्र से तीन बार स्नान कराकर वस्त्राभूषण पहनाकर धूप-दीप से पूजन करना देवता-शुद्धि है।

ऐसे ही साधक वाममार्गी होते हैं और उनकी अर्चना में प्रसिद्ध पञ्चमकार—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन—का उपयोग होता है। इन पञ्चमकारों का उपयोग एकमात्र चक्राचिन् में ही माना गया है, अन्यत्र नहीं। इसका अधिकारी केवल पूर्णाभिषिक्त साधक ही होता है। इतर साधक इनका संग्रह करने के अधिकारी नहीं माने गए हैं। इस दृष्टि से पञ्चमकार का उपयोग एकमात्र ज्ञान-प्राप्त साधकों के लिए ही विहित है।

ऊपर के पञ्चमकार का विधान साधारण लोगों को भले ही भयंकर प्रतीत हो, पर तांत्रिक दृष्टि से इसका उद्देश्य रहस्यपूर्ण है। वास्तव में मद्य, मांस

आदि पाँचों वस्तुएँ प्रलोभन की वस्तुएँ हैं। यदि साधक इनके प्रलोभन में नहीं पड़ता तो उसका मार्ग सुगम होता है और वह परमानन्द को प्राप्त करता है। किसी साधक के लिए यह कोई हँसी-खेल का काम नहीं है कि सम्मुख एक नवयौवना सुन्दरी बैठी हो और वह उसकी भगवती के रूप में अचल भाव से पूजा करे। भगवती को अर्पण करने के बाद वह मद्यपान भी करता है, पर मदोन्मत्त होने के लिए नहीं, बल्कि एकाग्रचित्त होकर अपने इष्ट पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए। वह मांस, मत्स्य तथा अन्य सुस्वादु भोजन-सामग्री (मुद्रा) भी खाता है; पर इसलिए नहीं कि ये स्वादिष्ट पदार्थ हैं, बल्कि धर्म-कार्यार्थ अपना शरीर पुष्ट बनाए रखने के लिए। पञ्चमकार के संग्रह का वस्तुतः यही उद्देश्य है। तांत्रिक साधक इन आनन्ददायक पदार्थों के द्वारा ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने को यत्नवान् होता है। ऐसी दशा में अपने मनोभावों को दबाना पड़ता है और उन भोगों को इष्ट-सिद्धि का साधन बनाना पड़ता है। कितना दुर्धर्ष कार्य है, कितनी विकट साधना है। यह अपने-आप स्पष्ट है।[1]

अतः तंत्र का महत्त्व उसकी साधना-विधि में है। यह विधि न तो केवल उपासना या पूजा है, न प्रार्थना, न इष्ट के आगे अपना दुखड़ा रोना है और न अपने कर्मों के लिए पश्चात्ताप करना है। यह साधना पुरुष और प्रकृति को एक करने की क्रिया है। यह साधना शरीर के भीतर पुरुष-तत्त्व तथा मातृ-तत्त्व का संयोग कराती है—सगुण को निर्गुण करने का प्रयत्न करती है। तांत्रिक साधना का उद्देश्य है अपने-आप को विराट् में मिलाना। तांत्रिक उपासना की चरम सीमा कौलाचार अवस्था है। इसमें कर्दम (कीच) और चंदन, मित्र और शत्रु, गृह और श्मशान, स्वर्ण और मिट्टी में भेद नहीं रह जाता है। यही गीता की गुणातीत अवस्था प्राप्त करने पर ही साधक उस विराट् में मिलने में समर्थ होता है। भावचूडामणि-तंत्र में कहा है—

कर्दमे चन्दनेऽभिन्ने पुत्रे शत्रौ यथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवी तथैव काञ्चने तृणे॥
न भेदो यस्य देवेभिः स कौलः परिकीर्त्तितः।

इस प्रकार तंत्रशास्त्र का साधन तलवार की धार के सदृश है। साधक तनिक भी फिसला कि अधोगति को प्राप्त हुआ।

---

1. **वाम मार्ग : वंशीधर शुक्ल**

प्रायः सभी वाममार्गी साधनाओं में कार्य-साधना को आधार माना गया है। अपने से बाहर किसी प्रकार की सिद्धि अथवा परमार्थ को ढूंढ़ना अनावश्यक है। शरीर ही सबसे बड़ा तीर्थ है। इसी में गंगा, यमुना और गंगा-सागर हैं। इसी में प्रयाग, वाराणसी, सूर्य और चन्द्रमा हैं। सभी कुछ इसी में है। कहीं बाहर भटकना व्यर्थ है। इसी शरीर में सारा विश्व समाया हुआ है। इस आधार पर हिन्दू तन्त्रवादियों ने शिव और शक्ति का निवास शरीर के अंदर माना है। शिव का वास सहस्रार-चक्र में है और शक्ति मूलाधार में अवस्थित है। शक्ति कुंडलिनी (सर्पिणी) के आकार में कुंडली मारे बैठी रहती है। साधना के द्वारा इस कुंडलिनी-शक्ति को चेतन कर ऊपर सहस्रार-चक्र की ओर प्रेरित किया जाता है। साधना की सफलता इसी शिव और शक्ति, पुरुष और स्त्री-तत्व के संयोग पर निर्भर करती है। मूलाधार और सहस्रार-चक्र क्रमशः शक्ति और शिव के प्रतीक मान लिए गए है। सभी गुह्य साधनाओं में यह स्वीकार कर लिया गया है कि विश्व के सभी प्राणियों का विभाजन पुरुष और स्त्री-रूप में प्रायः मनुष्य-शरीर में इसी विशेषता का प्रतिफल है। साधना की पूर्णता का सच्चा अनुभव करने के लिए यह आवश्यक है कि पुरुष और नारी का पूर्ण सम्मिलन हो। अन्तर्जगत की नारी और पुरुष-शक्तियों के मिलन से जिस पूर्णता और महासुख की कल्पना की गई है, उसी का बहिर्जगत में भी व्यवहार करने के कारण पञ्चमकार वाले वाममार्ग की स्थापना हुई।[1]

किन्तु आज शाक्तधर्म पञ्चमकार के दुरुपयोग से बदनाम हो गया है। अनेक कामुक पुरुष शाक्तधर्म की आड़ में अपनी कामवृत्ति की साधना कर अपने को धर्माचारी प्रदर्शित करते हैं। 'कुलार्णव' में स्पष्ट कह दिया गया है कि "अनेक लोगों की यह मिथ्या धारणा है कि मद्यपान आदि से आत्मा पवित्र हो जाती है। ऐसा समझना सरासर भूल है। यदि ऐसा होता तो सारे मद्यपान करनेवाले ब्रह्मज्ञानी हो जाते। यदि मैथुन-मात्र से मोक्ष सुलभ हो सकता तो उसकी उपलब्धि सभी के लिए एक साधारण बात हो गई होती। व्यर्थ का मद्यपान घोर पाप है, यहाँ तक कि उसकी गंध आ जाने से द्विजों को पाप लगता है। अतएव द्विजों को सभी प्रकार के मद्यों से दूर रहना चाहिए। यदि कभी धोखे से मद्य पर निगाह पड़ जाए तो सूर्य का दर्शन कर लेना चाहिए; और

1. डॉ० मोती सिंह : **निर्गुण-साहित्य और संस्कृति की पृष्ठभूमि, पृ० ३९।**

यदि धोखे से उसकी गंध तक पहुँच जाए तो प्राणायाम करके उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए।''

'कुलार्णव' के निम्न अवतरण से और भी स्पष्ट हो जाता है कि मद्यपान स्वयं तंत्रों में वर्जित है। उसमें उसका विधान केवल चक्रार्थ में ही है और वह भी पूर्ण अभिषिक्त (कौलाचार) के लिए ही है।

कौलज्ञाने ह्यसिद्धो यस्तद् द्रव्यं भोक्तुमिच्छति।
स महापातकी ज्ञेयः सर्वधर्मबहिष्कृतः॥
मद्यासक्तो न पूजार्थी मांसाशी स्त्रीनिषेवकः।
कौलोपदेशहीनो यः सोऽक्षयं नरकं व्रजेत्॥
स्वेच्छया रमणो यो वै दीक्षासंस्कारवर्जितः।
न तस्य सद्गतिः कापि तपस्तीर्थव्रतादिभिः॥
असंस्कृतं पिबेद् द्रव्यं बलात्कारेण मैथुनम्।
स्वतृप्त्यै साधयेन्मांसं रौरवं नरकं व्रजेत्॥

अर्थात् जो व्यक्ति कौल-ज्ञान से रहित है और कौलों के लिए निर्दिष्ट पदार्थों के उपभोग की इच्छा करता है, उसे महापापी समझना और धार्मिक कामों से दूर रखना चाहिए। जो व्यक्ति पूजा करने की इच्छा नहीं करता है, किन्तु मद्यपान, मांस-भक्षण और स्त्री-भोग में आसक्त है, ऐसा कौल-दीक्षा से रहित व्यक्ति नरक को गमन करता है। जो अदीक्षित व्यक्ति मनमाने ढंग से मद्यादि के भोगों में लिप्त है, वह लाख तप, तीर्थ, यात्रा, व्रतादि करने से भी सद्गति को नहीं प्राप्त होगा। जो व्यक्ति असंस्कृत मद्य का पान करता है, बलपूर्वक स्त्री-संभोग करता है और अपनी तृप्ति के लिए पशुवध करता है, वह रौरव नरक को प्राप्त होता है।

आगे चलकर 'कुलार्णव' में और स्पष्ट रूप से वर्णन है—

मातृरूपां परित्यज्य स्त्रीरूपां शक्तिमाचरेत्।
स याति नरकं घोरं जन्मकोटिशतानि च॥
मन्त्रमाता च पुत्री च भगिनी च कुलाङ्गना।
न रमेत् कौलिको नित्यमेताः सम्यक् समर्चयेत्॥

अर्थात् जो साधक शक्ति को मातृ-रूप में ग्रहण कर स्त्री-रूप में ग्रहण करता है और तदनुसार उसके साथ व्यवहार करता है, वह सैकड़ों जन्मों तक घोर नरक को प्राप्त होता है।

मंत्र देनेवाली माता, पुत्री, बहन और कुलांगना के साथ कौल-साधक कभी रमण न करे, उसे उनकी तो अच्छी तरह पूजा करनी चाहिए।

किन्तु तांत्रिक साधना में, जो शाक्तधर्म का आधार है, विकृति यहाँ तक आई कि तंत्रमात्र की सात्विक समाज ने भर्त्सना की। शाक्तमत की अनेक बीभत्स क्रिया-साधनाओं को समाज ने ग्रहण नहीं किया। इसका कारण यही है कि छद्म साधकों ने ही पञ्चमकारों को विशेषता दी, जिसके परिणाम-स्वरूप तंत्र के विषय में अनेक भ्रम फैल गए और आज तंत्र का नाम सुनते ही कितने ही लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। तंत्र के दार्शनिक विचार उदात्त तथा प्राञ्जल हैं, जिन्हें छद्म साधकों ने अपने कलुषित व्यवहार से बदनाम कर दिया है। तंत्र-मंत्र के आचार्य आदि का कथन है कि उनकी साधना का ध्येय जीवात्मा की परमात्मा के साथ, व्यष्टि की समष्टि के साथ अभेद-सिद्धि ही है। पर शाक्तों और वाममार्गियों के पञ्चमकार, स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य तथा शव आदि के षड्-विधि-अभिचार प्रयोगों के सिद्धान्तों की मान्यता के कारण उनकी पवित्रता को भारतीय एवं विदेशी विद्वान् स्वीकार नहीं करते।

शाक्त संप्रदाय में वाममार्ग एवं तंत्रों के प्रयोग से एक विचित्र परिवर्त्तन हो गया। शैवों की काली-उपासना रहस्यपूर्ण हो गई। शिव से पार्वती को विशेष महत्त्व मिल गया। बंगाल तथा असम की उपासना एवं नित्य के आचार सभी तंत्रानुगामी हो गए। तांत्रिक उपासना से प्रभावित होने के कारण ही शैव तथा वैष्णव संप्रदाय भी दक्षिण तथा वाम-मार्गों में विभक्त हो गए। पौराणिक आधार पर दक्षिण-पंथ तथा कौलिकों के तंत्रशास्त्र के आधार को लेकर वाममार्ग की उपासना चल पड़ी। शाक्तों की अभिवृद्धि के कारण देवों की पूजा गौण हो गई। शक्तियों में काली, दुर्गा और जगदम्बिका की उपासना का महत्व बढ़ गया। मोह-ममता से विरक्त होकर महर्षि मेधा के उपदेश से समाधि ने देवी की आराधना कर, ज्ञान प्राप्त कर, मुक्ति प्राप्त की थी। साधारण जन इस मार्ग को भूल गए। राजा सुरथ की भाँति सभी लोग राज्य पाने तथा सावर्णि मनु जैसे ऐश्वर्य-विशिष्ट बनने के लिए शक्ति-उपासना विशेष रूप से करने लगे।

शिव के शुक्ल वर्ण के अनुरूप उमा, गौरी, सरस्वती तथा लक्ष्मी जैसी गौर वर्ण की देवियाँ पूजा पाने लगीं। प्रायः सात्विक प्रवृत्ति के लोगों द्वारा इन देवियों का पूजन किया जाता है। शिव के कालरूप के कारण, जो कृष्णवर्णका

है, काली, चण्डी, दुर्गा तथा चामुण्डा कृष्णा या श्यामलाकृति की पूजा प्रचलित हुई। शिव के १००८ नामों के सदृश, रूप-गुणों में सदृश देवी के भी १००८ नाम ख्यात हो गए।

शक्ति-उपासना में (१) काली, (२) तारा, (३) त्रिपुरा या षोडशी, (४) भुवनेश्वरी, (५) भैरवी, (६) छिन्नमस्ता, (७) धूमावती, (८) मातंगी, (९) कमला या कमलात्मिका और (१०) बगलामुखी—इन दस महाविद्याओं का अत्यन्त महत्त्व है। वैष्णव-धर्म के दशावतारों की भाँति इनमें से प्रत्येक के उपासक पृथक-पृथक हैं। इनकी भी पूजा गोपनीय मानी गई है। कहा है—

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा॥
मातङ्गी सिद्धविद्या च कथिता बगलामुखी।
एता दश महाविद्याः सर्वतन्त्रेषु गोपिताः॥

इनमें कुछ के नाम भिन्न हैं, किन्तु संख्या सर्वत्र दस ही है।

"काली की उपासना अवश्य ही शव, पञ्चमुण्डोपासना, रक्त-पान एवं बलि, विशेषतः सिंह-नर-बलि के कारण अत्यन्त भयानक हो गई है। असम एवं बंगाल मातृ-प्रधान प्रदेश हैं। वहाँ आज भी काली की उपासना में कुछ ऐसी विधियाँ चलती हैं, पर अति अमानवीय होने के कारण इन्हें सर्वस्वीकृति प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार पीड़ादायक शक्तियों—डाकिनी-शंखिनी—की उपासना भी निम्नस्तर तक ही सीमित रह गई।"[1]

शाक्त संप्रदाय में आश्विन, चैत्र, पौष और आषाढ़ के नवरात्रों, श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी (कालरात्रि), आश्विन-शुक्ल-चतुर्दशी (मोहरात्रि) और शिवरात्रि के पावन अवसरों पर देवी की विशेष पूजा की जाती है। वंगीय सरस्वती-पूजा तथा दुर्गा-पूजा विशेष आकर्षक होती हैं।

तंत्र के तीन प्रधान विभाग हैं—(१) ब्राह्मण-तंत्र, (२) बौद्ध-तंत्र और (३) जैन-तंत्र।

ब्राह्मण-तंत्र उपास्य देव की भिन्नता के कारण अनेक प्रकार का है—(१) सौरतंत्र, (२) गाणपततंत्र, (३) वैष्णवतंत्र, (४) शैवतंत्र, (५) शाक्ततंत्र। इनमें प्रथम दो का प्रचार नगण्य है। वैष्णव और शैवतंत्र का प्रचार कुछ है। वास्तव में शाक्ततंत्र ही सर्वव्यापी है।

---

1. **शाक्त संप्रदाय : पं० श्री रामप्यारे जी ('कल्याण' : उपासना-अंक, १९६८)**

वैष्णवतंत्र—आजकल पाञ्चरात्र ही वैष्णव आगमों का प्रतिनिधि माना जाता है। पाञ्चरात्र का संबंध वेद की एकायन शाखा से है।

पाञ्चरात्र-तंत्र-विषयक साहित्य नितान्त विशाल, प्राचीन एवं विस्तृत है, परन्तु उसका प्रकाशित अंश अत्यन्त स्वल्प है।

पाञ्चरात्र-संहिताओं के विषय चार हैं—(१) ज्ञान-ब्रह्म = जीव-तत्त्व तथा जगत के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन और सृष्टि-तत्त्व का विशेष निरूपण; (२) योगमुक्ति के साधन भूतयोग तथा योग-संबंधी प्रक्रियाओं का वर्णन; (३) क्रिया = देवालय का निर्माण, मूर्ति का स्थापन, मूर्ति के विविध आकार-प्रकार का सांगोपांग वर्णन; (४) चर्या = आह्निक क्रिया, मूर्तियों तथा यंत्रों के पूजन का विस्तृत विवरण। वैष्णवतंत्र पूर्णतया वैदिक है।

शैवतंत्र—शैवतंत्र की वैदिकता के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में बड़ा विवेचन है। कुछ विद्वान शिवागम को वैदिक तथा अवैदिक दो प्रकार का मानते हैं। वैदिकतंत्र वेदाधिकारियों के लिए माना गया है।

शैव-सिद्धान्त का विशेष रूप से प्रचार दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश में है। तमिल-संतों ने जिन शैवतंत्रों के तत्त्वों का प्रचार किया, वे शैव-सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हैं।

काश्मीर में प्रचलित शैवागम को त्रिक्दर्शन के नाम से पुकारते हैं। इस अद्वैतवादी त्रिक्दर्शन का साहित्य बड़ा विशाल है।

इस प्रकार यद्यपि वैष्णव और शैव तंत्रों का भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रचार हुआ है, तथापि केवल शाक्त तांत्रिकों में ही पञ्च-मकार की प्रधानता है। अतएव साधारण बोलचाल में तांत्रिक से शाक्त तांत्रिकों का ही बोध होता है।

शाक्तमत का प्रचार सारे भारत में है, किन्तु इसके पीठ उड्डीयान (उड़ीसा), जालंधर (पंजाब), श्रीशैल (आंध्र), कामाख्या (असम), कलकत्ता (प० बंगाल) आदि में मान्य हैं। काठमाण्डू (नेपाल) की गुह्येश्वरी देवी की गणना मुख्य पीठों में की जाती है।

छठा परिच्छेद

अवतारवाद और मूर्तिपूजा

अवतारवाद भागवत-धर्म की ही देन है। श्रीकृष्ण ने गीता में जितने निरावरण शब्दों में अवतारवाद का प्रतिपादन किया है, उतना अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। पुराणों में जहाँ जहाँ अवतारवाद का उल्लेख है, वहाँ वहाँ गीता के शब्दों को ही दुहरा दिया गया है।

मत्स्य, कच्छ, वराह और वामन अवतारों का बीज हमें सर्वप्रथम शतपथ-ब्राह्मण में मिलता है, किन्तु वामन को छोड़कर और किसी का संबंध विष्णु से प्रदर्शित नहीं किया गया है। किन्तु वास्तव में वे कथाएँ अवतारवाद की पुष्टि नहीं करती हैं। वे आलकारिक भाषा में सृष्टि-तत्त्व और उसके विकास का वर्णन करती हैं। मत्स्य-संबंधी कथा शतपथ-ब्राह्मण के प्रथम काण्ड, अष्टम अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में आई है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है—

एक दिन प्रातःकाल जब मनु पानी में हाथ-पैर धो रहे थे, उस समय एक मछली उनके हाथ आ गई और बोली—"मेरा पोषण करो, मैं तुम्हें पार लगाऊँगी।" मनु ने पूछा कि वह किससे पार लगाएगी। मछली ने कहा—"यह जल-प्रवाह जब समस्त प्रजा को अन्यत्र बहाकर ले जाएगा, उस समय मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी।" इसपर मनु ने पूछा—"तुम्हारा भरण-पोषण कैसे होगा ?" मछली बोली—"जबतक जीव छोटा रहता है, उसको भय रहता है। अतः आप मुझे पहले एक बरतन में पानी भरकर उसमें डाल दें। जब मैं बड़ी हो जाऊँ, तब गड्ढा खोदकर और उसे पानी से भरकर मुझे उसमें छोड़ दें और जब उससे भी बड़ी हो जाऊँ तब समुद्र में छोड़ दें। वहाँ पहुँचकर मैं नाश करनेवालों से बच जाऊँगी। जब कालान्तर में प्रलय होगा तब आप नाव बनाकर मेरा ध्यान करें और नाव में चढ़ जायँ।" मनु ने मछली द्वारा बताई गई तरकीब का अक्षरशः पालन किया और नाव बनाकर प्रलय के आने तक मछली के ध्यान में मग्न रहे। जल-प्रवाह उठने पर वह नाव में चढ़ गए और एक विशाल मछली नाव के पास पहुँच गई। मछली के अग्रभाग में नाव का

पाश अटक गया और मछली ने नाव को सुरक्षित उत्तरगिरि हिमालय से लगा दिया। जल-प्रलय में मनु को छोड़ सारे प्रजाजन का विनाश हो गया। तत्पश्चात् मनु ने तपस्या की और पुनः प्रजा की उत्पत्ति की।

मत्स्य-विषयक यह कथा वास्तव में ऐतिहासिक क्रम में घटित जल-प्रवाह की घटना से संबंध रखती है। इससे मिलती-जुलती कथा कुरान में (सुर ११ में) निम्न लिखित रूप में आई है :[1]

"नूह की ओर वह्य[2] की गई कि जो लोग ईमान ला चुके हैं, उनके सिवा तुम्हारी जाति में अब कोई ईमान नहीं लाएगा, तो जो कुछ ये कर रहे हैं, उसके लिए तुम दुःखी न हो, और हमारी निगाहों के सामने और हमारी वह्य के अनुसार एक नाव बनाओ और उन लोगों के बारे में, जिन्होंने जुल्म किया, मुझसे कुछ न कहना। निश्चय ही वे सब-के-सब डूबनेवाले हैं। नूह नाव बनाने लगा और जब कभी उसकी जाति के सरदार उसके पास से गुजरते, वे उसकी हँसी उड़ाते। इसपर नूह ने कहा—यदि तुम मुझपर हँसते हो तो हम भी तुमपर हँस रहे हैं। जल्दी तुम जान लोगे वह कौन है, जिसपर अजाब आता है। जब हुक्म आ गया और तनूर उबल पड़ा[3] तब नाव में हर किस्म का (जानवरों में से नर और मादा) एक-एक जोड़ा चढ़ा लिया गया। जितने इंसान ईमानवाले थे, उन्हें भी नाव में जगह मिल गई। नूह ने कहा कि अल्लाह के नाम से नाव को चलना भी है और ठहरना भी है। निस्संदेह रब्ब (पालनकर्त्ता) बड़ा क्षमाशील और दयावान है। और नाव उन्हें लिए

---

1. यह सुर हजरत नूह से संबंध रखता है। बाइबल और कुरान में ईश्वर के अनेक दूतों (हजरत—prophets) का जिक्र आया है। इनमें हजरत आदम पहले थे और हजरत नूह दूसरे। हजरत नूह का वर्णन कुरान के सुर ७,१०,११,२३,२५,२६,२९,३७,५४ और ७१ में आया है। इस प्रलय का जिक्र सुर ११ की आयत १२३ में आया है।
2. वह्य का अर्थ है आकाशवाणी, ईश्वरीय संदेश।
3. अर्थात् जब अल्लाह ने तुम्हारी हठधर्मी को देखकर तुम्हारे बारे में यही फैसला किया है कि तुम जिस डगर पर चलना चाहते हो, उसी पर तुम्हें भटकने के लिए छोड़ दिया जाएगा।

पहाड़-जैसी ऊँची लहरों के बीच चलने लगी। नूह ने अपने बेटे को पुकारा—'हे मेरे प्यारे बेटे! हमारे साथ सवार हो जा, तुम काफिरों के साथ मत रह।' बेटे ने कहा—'मैं किसी पहाड़ की शरण ले लेता हूँ, वह मुझे डूबने से बचा लेगा।' नूह ने कहा—'आज अल्लाह के हुक्म से कोई बचनेवाला नहीं है, सिवाय उनके, जिनपर उसकी दया है।' इतने में लहर दोनों के बीच आ गई और वह भी डूबनेवालों में हो गया। और फिर कहा गया (अल्लाह की ओर से)—'हे भूमि! अपना पानी निगल जा और हे आकाश! थम जा।' तो पानी जमीन में बैठ गया और फैसला चुका दिया गया और वह नाव अल-जुदी (नामक पर्वत) पर टिक गई।"[1]

अतः यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि मत्स्य-संबंधी कथा, जो शतपथ-ब्राह्मण में उल्लिखित है, वह जल-प्लावन की ऐतिहासिक घटना से संबंद्ध है। इसी प्रकार कूर्म-संबंधी कथा शतपथ-ब्राह्मण, काण्ड ७, अध्याय ५ के प्रथम ब्राह्मण में आई है। कुछ रूपान्तर के साथ यह कथा जैमिनी-ब्राह्मण ३।२७२ में भी आई है। वराहवाली कथा शतपथ-ब्राह्मण १४।१।२।११, तैत्तिरीय संहिता ७।१।५।१ तथा वामनवाली कथा शतपथ के पंचम ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के द्वितीय अध्याय में और तैत्तिरीय संहिता २।१।३।१ में आई है। इस संबंध में डॉ० मुंशीराम शर्मा के इस विचार से हम सहमत हैं कि ये कथाएँ अवतारवाद के पोषक नहीं हैं। इन कथाओं में अवतारवाद की गंध भी नहीं मिलती और शतपथ-ब्राह्मण की मत्स्य, कूर्म, वराह और वामन संबंधी आख्यायिकाएँ अवतारवाद के समर्थक नहीं हैं। विष्णु के अवतार का उल्लेख तो इन कथाओं में कहीं पर भी नहीं है। प्रजापति परमात्मा जब सृष्टि की रचना करता है, तब इस सृष्टि का रूप क्या होता है, इसे कूर्म और वराह की कथाओं द्वारा समझाया गया है।

डॉ० मुंशीराम शर्मा ने बड़ी ललित भाषा में अवतारवाद का समन्वय विकासवाद के सिद्धान्त से किया है। "ब्राह्मण-ग्रन्थों की आख्यायिकाओं को भागवत-धर्म की मान्यताओं के अनुकूल इस युग में विकासवाद की दृष्टि से भी समझाने का प्रयास किया गया है। विकास में मानव की सृष्टि अन्य सभी

---

1. **कुरान मजीद : हिन्दी-अनुवाद अरबी मूल ग्रन्थ के साथ**, पृ० २३१-३२; मकतबा अल-हसनात रामपुर, उ० प्र० द्वारा प्रकाशित।

प्राणियों के पश्चात् हुई है। जल के बाद पृथ्वी निकली, तो प्राणत्व भी प्रथम जल के साथ ही संबंधित रहा होगा। प्राणियों में मत्स्य जल का जीव है। वह स्थल पर नहीं रह सकता। जल में ही उसका जीवन निहित है। अतः पुरुष-रूप ब्रह्माण्ड के अवतार के पश्चात् प्राणी-जगत् का प्रथम जीव मत्स्य, प्राणत्व की दृष्टि से, सर्वप्रथम अवतार माना गया। मत्स्य के पश्चात् कूर्म आता है, जो जल और थल दोनों का जीव है। वह पानी में भी रहता है और पृथ्वी पर भी। अतः विकास की दृष्टि से यह अवतार की दूसरी कोटि में रखा गया। बराह विशुद्ध रूप से स्थल का प्राणी है, परन्तु कीचड़ से भी प्रेम रखता है। विकास के प्रथम स्तर का स्नेह कुछ-न-कुछ इसके साथ भी चिपटा हुआ है। अतः इसे अवतारवाद की तीसरी कोटि में रखा गया। नरसिंह एक ओर पशुत्व का द्योतक है, तो दूसरी ओर मनुष्यत्व का। सिंह पशुओं का राजा है। पशुत्व का सर्वश्रेष्ठ अंश उसके अन्दर है और साथ-साथ नरसिंह-रूप में वह नरत्व की ओर झुका हुआ है। पाशव कोटि के ऊपर तथा नर-कोटि से संयुक्त नरसिंह का रूप विकास की दृष्टि से उत्तम माना जाना चाहिए। अतएव यह भी अवतारवाद की कोटि में सम्मिलित किया गया और इतिहास में कल्पना के आधार पर नरसिंह-अवतार की कहानी गढ़ ली गई, जो चमत्कारपूर्ण और कौतूहलवर्द्धक होने के साथ-साथ भगवद्भक्ति का उन्नयन करती है। इसके पश्चात् मानव के स्वरूप वामन जी आते हैं। वह अन्दर लघु एवं विशाल दोनों रूपों को छिपाए हुए हैं।

अवतार के स्वरूप के संबंध में भागवत-पुराण (११।४।३) में लिखा है :

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः॥

अर्थात् भगवान ने ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—इन पाँच भूतों की अपने-आप में सृष्टि की है। जब वे इनके द्वारा विराट शरीर, ब्रह्माण्ड का निर्माण करके उसमें लीला से अपने अंश अन्तर्यामी रूप से प्रवेश करते हैं (भोक्ता-रूप से नहीं; क्योंकि भोक्ता तो अपने पुण्य के फलस्वरूप जीव ही होता है) तब उन आदिदेव नारायण को पुरुष नाम से संबोधित करते हैं। यही उनका पहला अवतार है। इसी पुरुष से अन्य अवतारों का भी जन्म होता है।

अवतारों की चर्चा सभी पुराणों में तथा महाभारत में आई है; किन्तु अवतारों के नाम और संख्या संबंधी विभिन्नता है। यहाँ तक कि श्रीमद्भागवत-

पुराण में ही स्थल-स्थल पर विभिन्नता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। इसके प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में २२ अवतारों का वर्णन है। द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय में २३ और एकादश स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में १६ अवतारों का उल्लेख है। किन्तु दशावतार की भावना सर्वमान्य रही है। महाभारत (शान्तिपर्व ३३९।७७-७८) से ज्ञात होता है कि नारद के यह पूछने पर कि महाप्रभो ! किन किन स्वरूपों में आपका दर्शन (और स्मरण) करना चाहिए, भगवान ने कहा—

> **शृणु नारद तत्वेन प्रादुर्भावान् महामुने।**
> **मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहश्च वामनः॥**
> **रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्की च ते दश।**

अर्थात् महामुनि नारद ! तुम मेरे अवतारों के नाम सुनो। मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, कृष्ण तथा कल्कि—ये दस अवतार हैं।

किन्तु इसी अध्याय के १०३-४ श्लोकों से ज्ञात होता है कि स्वयं नारायण ने दशावतारों की कोटि से बलराम को हटाकर 'हंस' का उल्लेख किया है। यथा—

> **हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावा द्विजोत्तमः॥ १०३॥**
> **वराहो नरसिंहश्च वामन राम एव च।**
> **रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च॥ १०४॥**

अर्थात् द्विजश्रेष्ठ ! हंस, कूर्म, मत्स्य, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण तथा कल्कि—ये सब मेरे अवतार हैं।

किन्तु आज मत्स्यपुराण के अनुसार जो दशावतार सर्वमान्य हैं, उनमें न हंस है और न बलराम और उनके स्थान पर बुद्ध की गणना अवतारों में की गई है। यथा—

> **कर्त्तुं धर्मव्यवस्थानं सुराणां च प्रणाशनम्।**
> **बुद्धो नवमको जज्ञे तपसा पुष्करेक्षणः॥**
> **देवसुन्दररूपेण द्वैपायनपुरःसर ॥ ४८।२४२**

अर्थात् धर्म की रक्षा तथा असुरों के विनाशार्थ नवीं बार भगवान बुद्ध, कमल के समान नेत्रवाले, देव-स्वरूप, द्वैपायन के पौरोहित्य-काल में उत्पन्न हुए।

श्रीमद्भागवत पुराण में २० अवतारों का उल्लेख करने के बाद बुद्धावतार का उल्लेख आया है, जिसमें कहा गया है कि "उसके बाद कलियुग के आ जाने पर मगध-देश (बिहार) में देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिए अजन के पुत्र-रूप में आपका बुद्धावतार होगा।

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाजनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥

इस प्रकार आदिदेव नारायण के अवतारों की संख्या सब पुराणों में एक समान नहीं है। अवतारों का वर्णन भी विशेषतः उन्हीं पुराणों में है, जो भागवत-धर्म से विशेष रूप से प्रभावित हैं।

बुद्ध को अवतार-रूप में मान्यता बहुत बाद की ज्ञात होती है और मत्स्य तथा भागवत-पुराण के अतिरिक्त बुद्ध का उल्लेख केवल अग्निपुराण (१६।४९) और पद्मपुराण (५।७३, ६।२५०) में आया है।

अवतारवाद की भावना भागवत-धर्म की ही विशेषता है। अवतारवाद की मोहिनी शक्ति ने भागवत के अतिरिक्त कतिपय अन्य संप्रदायों को भी आकर्षित कर लिया है, जिसके परिणाम-स्वरूप बौद्धों ने महात्मा बुद्ध के अनेक अवतारों का वर्णन किया। गोरख संप्रदायवाले गोरखनाथ को, कबीरपंथी कबीर को और सिक्ख गुरु नानक को अवतार मानते हैं।

श्रीमद्भागवत-पुराण की यह विशेषता रही है कि महात्मा बुद्ध तथा जैन तीर्थङ्कर ऋषभदेव अवतार की कोटि में सम्मिलित हो गए हैं।

समस्त विश्व को भी प्रभु का अवतार माना जा सकता है, पर अवतार वस्तुतः दिव्य जन्म एवं कर्म से संबंध रखता है। अतः विशिष्ट गुण-संपन्न व्यक्ति को अवतार-रूप में आदृत करने की प्रणाली प्रचलित हो चली और इस विचार की पुष्टि स्पष्ट रूप से श्रीमद्भागवत-पुराण में और गीता में आई हुई भगवद्वाणी से होती है। यथा—

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाऽविदासिनः कुल्याः सरसाः स्युः सहस्रशः ॥२६॥
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ॥२७॥
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति हि युगे युगे ॥२८॥

अर्थात् भगवान विष्णु ने शौनकादि ऋषियों से कहा—जैसे अगाध सरोवर से हजारों छोटे-छोटे नाले निकलते हैं, वैसे ही सत्त्वनिधि भगवान श्रीहरि के असंख्य अवतार हुआ करते हैं।

ऋषि, मुनि, मनु, देवता, प्रजापति, मनुपुत्र और जितने भी महान् शक्तिशाली हैं, वे सब-के-सब भगवान के ही अंश हैं।

ये सब अवतार तो भगवान के अंशावतार अथवा कलावतार हैं, परन्तु भगवान श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान (अवतारी) ही हैं। जब लोग दैत्यों के अत्याचारों से व्याकुल हो उठते हैं, तब युग-युग में अनेक रूप धारण करके भगवान उनकी रक्षा करते हैं।

इस अवतारवाद की धारणा की पुष्टि स्पष्ट रूप से हमें गीता (४।७-८) से होती है। जब भगवान स्पष्ट शब्दों में अर्जुन से कहते हैं कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की प्रबलता बढ़ती है, तब (-तब) मैं स्वयं ही जन्म (अवतार) लिया करता हूँ। साधुओं की संरक्षा के निमित्त और दुष्टों का नाश करने के लिए तथा युग-युग में धर्म-संस्थापना के लिए मैं जन्म लिया करता हूँ।

भागवत-पुराण में अवतारों की मान्यता की कुछ भावना दीख पड़ती है। अवतारों में पूर्णावतार श्रीकृष्ण को ही माना जाता है और उन्हें साक्षात् विष्णु कहा जाता है। श्रीकृष्ण को सोलह कलाओं से युक्त अवतार माना गया है। अतः अवतारवाद, भागवत-धर्म के अभिन्न रूप के साथ प्रारम्भ हुआ, जिसके प्रतिष्ठाता श्रीकृष्ण हुए और इसी कारण श्रीकृष्ण की मूर्ति-रूप में पूजा सर्वप्रथम प्रचलित हुई। डॉ० शर्मा का विचार है कि "जब योगाचार्य भगवान श्रीकृष्ण ने पाञ्चरात्र अथवा भागवत-धर्म को अभिनव रूप प्रदान किया, तब उनके अनुयायियों ने नारायण, विष्णु और कृष्ण में एक ही विभूति के दर्शन किए। अवतारवाद की नींव यहीं से पड़ी।"

ऐसे तो मूर्ति के रूप में विभिन्न अवतारों की पूजा प्रचलित हो गई और आज प्रायः सभी अवतारों के मन्दिर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में पाए जाते हैं, किन्तु राम और कृष्ण—दो के व्यक्तित्व सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए। यद्यपि श्रीकृष्ण की पूजा भारत में भगवान के रूप में राम की पूजा से बहुत पहले आरम्भ हुई और अनेक मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण और प्रतिष्ठापन हुआ, किन्तु राम संबंधी, पुण्यश्लोक राम की, पावन जीवनगाथा कितनी

लोकप्रिय और आकर्षक रही है, इसका प्रमाण जावा, सुमात्रा तथा कम्बोज के मन्दिरों एवं प्रस्तर-खण्डों पर खुदी हुई राम-जीवन की घटनाएँ और मेक्सिको का राम-सीतोत्सव हैं।

विद्वानों का विचार है कि अवतार-रूप में राम की उपासना कृष्ण की उपासना के बाद प्रचलित हुई। ज्ञात होता है कि वाल्मीकीय रामायण ने अपना प्रचलित रूप ईसा की दूसरी शताब्दी तक प्राप्त कर लिया था; क्योंकि इसके बाल और उत्तर-काण्डों में राम को स्पष्ट रूप से ईश्वर का अवतार माना गया है और अन्य काण्डों में जहाँ-जहाँ भी राम के अवतारी होने के संबंध में श्लोक आए हैं, उन्हें विद्वान प्रक्षिप्त मानते हैं। कृष्ण की भक्ति और उसके फलस्वरूप मूर्ति की स्थापना को प्रश्रय सर्वप्रथम निम्बार्काचार्य और बाद में वल्लभाचार्य आदि से मिला। किन्तु राम की भक्तिभावपूर्वक पूजा का प्रचार भारत में दसवीं शताब्दी के अनन्तर ही हो पाया। भण्डारकर महोदय के मतानुसार आचार्य मध्व (स्वामी आनन्द तीर्थ) बदरिकाश्रम से राम की प्रतिमा लाए और सन् १२६४ ई० के लगभग उन्होंने नरहरि तीर्थ को राम और सीता की प्रतिमाएँ लाने के लिए जगन्नाथपुरी भेजा। अतः डॉ० शर्मा का विचार है कि ग्यारहवीं सदी के आसपास राम-संप्रदाय का प्रवर्तन हुआ होगा। फिर डॉ० शर्मा आगे कहते हैं कि "स्वामी रामानन्द के साथ राम-भक्ति गंगा-देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रवाहित होने लगी और पूर्णावतार का जो पद भगवान श्रीकृष्ण को प्राप्त था, वही पद-मर्यादा पुरुषोत्तम राम को भी प्राप्त हो गई। जनता की अभिरुचि तथा आचार्यों की विश्लेषण-बुद्धि में कितना अन्तर है! वासुदेव कृष्ण, जिन्हें साक्षात् भगवान घोषित किया गया था, एक प्रदेश तक सीमित रह गए थे, परन्तु राम, जो केवल स्वरूपावेश अवतार के अपेक्षाकृत हीन कोटि में रखे गए थे, जन-जन के मानस में प्रतिष्ठित हो गए।" उत्तर भारत में राम के अवतार-रूप में प्रतिष्ठा पाने और अनेक मन्दिरों में राम-मूर्ति की स्थापना का श्रेय विशेषतः संत तुलसीदास को है, जिनके 'रामचरितमानस' ने रामावतार की कथा को हिन्दी-भाषाभाषी क्षेत्र में घर-घर फैला दिया और राम-कथा जनजीवन का विशिष्ट अंग बन गई।

सातवाँ परिच्छेद

जैन-धर्म और मूर्ति-पूजा

जैन-धर्म में मूर्ति-पूजा कब से चली, इसका इतिहास लुप्त है। फिर भी यह अर्वाचीन भी नहीं है। अंतिम तीर्थंकर के बाद ही यह चल पड़ी। मूर्ति और मूर्ति-गृह के जो चैत्य और चैत्यालय हैं, वे इस बात के सूचक हैं कि मूर्ति चिता-परक स्मारक है।

मूर्ति पूजा का विधान महावीर स्वामी ने नहीं किया, इसलिए मूर्ति-पूजा अनुचित नहीं कही जा सकती। कोई महात्मा अपने स्वागत की बात नहीं कहता तो उसका स्वागत करना पाप नहीं कहा जा सकता। सच पूछा जाय तो यह संप्रदाय का प्रश्न नहीं है, बल्कि योग्यता का प्रश्न है। जिसकी आत्मा विकसित है, उसे मूर्ति-पूजा को जरूरत नहीं है। जिसकी आत्मा विकसित नहीं है. उसे मूर्ति पूजा सहारा दे सकती है।

अपने-अपने पक्ष के समर्थन में दोनों पक्ष मिथ्या युक्ति का सहारा लेते हैं। मूर्ति-पूजक लोग उसे जैन-धर्म के प्रारम्भ से सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं और मूर्ति-विरोधी लोग मूर्ति-पूजा को, अर्हत की कही हुई नहीं होने के कारण अनुचित बताते हैं। मूर्ति-पूजकों को समझना चाहिए कि साधारण लोगों के लिए मूर्ति आवश्यक होने से वह उपादेय अवश्य है; किन्तु इसीलिए वह जिनोक्त नहीं कही जा सकती। और, मूर्ति-विरोधियों को समझना चाहिए कि मूर्ति पूजा जिनोक्त नहीं है, इसलिए अनुचित नहीं कही जा सकती। इन दोनों विचारों पर कक्षाएँ बनानी चाहिए, न कि संप्रदाय।

मूर्ति पूजा का विरोध मुसलमानों के आक्रमण का फल है। उस समय मूर्ति को हटाने से धर्म सुरक्षित रह सकता था तथा अप्रभावना से भी पिण्ड छूटता था। सिक्ख-संप्रदाय ने इसीलिए मूर्ति पूजा को स्थान नहीं दिया। वहाँ ग्रन्थ-पूजा का प्रचार हुआ। जैनियों के दोनों संप्रदायों (श्वेताम्बर और दिगम्बर) में मूर्ति-विरोधी उप-संप्रदाय खड़े हुए। श्वेताम्बरों में

'स्थानकवासी' संप्रदाय हुआ और दिगम्बरों में 'तारण-पंथ' । स्थानकवासी संप्रदाय ने अच्छी उन्नति की। आज यह संप्रदाय जन-संख्या तथा धन-वल आदि में मूर्ति-पूजक श्वेताम्बरों के बराबर है। दिगम्बर संप्रदाय का तारण-पंथ उतनी उन्नति नहीं कर पाया। इस संप्रदाय ने मूर्ति को हटाकर मूर्ति के स्थान पर शास्त्र को बिठलाया। एक तरह की मूर्ति-पूजा हट गई और दूसरी तरह की मूर्ति पूजा चल पड़ी या रह गई।

एक समय था कि जैन-धर्म में यापनीय संप्रदाय पनप उठा। दिगम्बर संप्रदाय ने मूर्ति को हटाकर शास्त्र (ज्ञान) पर जोर दिया और श्वेताम्बरों ने महावीर के चरित्र पर। किन्तु यापनीय ने दोनों पर जोर दिया। आज श्वेताम्बरों के साथ-साथ अनेक दिगम्बर भी मूर्ति के पूजक हैं और उनके भी विशाल मन्दिर हैं। राजगृह (बिहार-राज्य) के मन्दिरों और उनमें स्थित मूर्तियों के अधिकार एवं पूजा के संबंध में इन दोनों संप्रदायों—श्वेताम्बर और दिगम्बर—के बीच का मुकदमा लन्दन में प्रिवी-कौंसिल तक चला। मुकदमे के निर्णय के अनुसार दोनों संप्रदायों का समान अधिकार हुआ।

भारत में जैन-मन्दिरों की संख्या काफी है। सन् १९५३ ई० में अहमदाबाद से सेठ आनन्दजी कल्याणजी के द्वारा प्रकाशित 'जैनतीर्थ सर्वसंग्रह' नामक ग्रन्थ से—जो तीन जिल्दों में छपा है—ज्ञात होता है कि सिर्फ श्वेताम्बर जैन-मन्दिरों की संख्या ४,४०० है। इनमें लगभग दो हजार मन्दिर गुजरात राज्य और कच्छ में और १,१०० केवल राजस्थान राज्य में तथा १,३०० भारत के विभिन्न अंचलों में हैं।

सम्मेद-शिखर (पार्श्वनाथ पहाड़ी) सबसे महान तीर्थ है। यहाँ चौबीस तीर्थंकरों में बीस ने कैवल्य प्राप्त किया था। यहाँ मन्दिरों की संख्या भी काफी है। यह स्थान दोनों संप्रदायों को समान रूप से मान्य है।

मूर्तियों की संख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान पालीताना का है। यह नगर तो मन्दिरों का ही नगर है। किन्तु, यह केवल श्वेताम्बर जैन-तीर्थ है।

इसी प्रकार भारत की सबसे विशाल जैन-मूर्ति (गोम्मटेश्वर की मूर्ति) श्रवण-बेल गोला में है, जो ५७ फुट ऊँची है। यह केवल दिगम्बर जैन-तीर्थ है।

जैन-धर्मावलंबी विशेषतः धनी हैं। अतः संभवतः सभी जैन-मन्दिर भव्य और कलापूर्ण हैं। दिलवारा (आबू पर्वत) का जैन-मन्दिर तो विश्व-प्रसिद्ध है। यहाँ के सिर्फ दो मन्दिरों—ऋषभनाथ और नेमिनाथ—के निर्माण में क्रमशः १२ और १८ करोड़ रुपये सन् १०८८ और १२८७ ई० में लगे थे। इन अत्यन्त कलापूर्ण मन्दिरों में संगमरमर के कड़े पत्थर को कुशल कारीगरों ने मोम की भाँति नरम बनाकर जो बारीक और सुन्दर कोरनी की है, उसे देखते ही बनता है। यह आश्चर्य होता है कि उन दिनों जयपुर से संगमरमर-पत्थर की विशाल शिलाएँ किस प्रकार पहाड़ के उच्चतम शिखर पर पहुँचाई गईं।

आठवाँ परिच्छेद

बौद्धधर्म-और प्रतीक-पूजा

भगवान बुद्ध की मृत्यु पर उनकी अस्थि और भस्म को आठ भागों में बाँटकर चैत्यों का निर्माण हुआ। इनमें वैशाली के लिच्छवि, अल्लकाप के बुल्ली और मगध के सम्राट् अजातशत्रु प्रमुख थे। चम्पारन (बिहार) के मोरियों ने भी बुद्ध के भस्मावशेषों पर चैत्य तैयार करवाए थे। इन चैत्यों में कैसी कारीगरी शिल्पियों ने की; कितना व्यय हुआ और इनकी क्या महत्ता थी, इन सबका पता राजगृह के चैत्य-निर्माण से चलता है। इस चैत्य के निर्माण का वर्णन दीर्घनिकाय के परिनिव्वानसुत्त की अट्ठ-कथा में बुद्धघोषने किया है।

सम्राट् अशोक ने भगवान बुद्ध की मूर्ति बनवाकर स्थापित नहीं कराई, इसका मुख्य कारण यह था कि अशोक हीनयान संप्रदाय को माननेवाला था। हीनयान में बुद्ध-मूर्ति का निर्माण वर्जित है। इस संप्रदाय के अनुसार बुद्ध के प्रतीकों (चैत्यों) की ही पूजा की जा सकती है, जैसे वज्रासन, वृक्ष, उष्णीष, चक्र, स्तूप, पदचिह्न, चक्रमस्थान आदि। भगवान बुद्ध ने परिनिर्वाण-काल में प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था कि मेरे निर्वाणोपरान्त मेरी धातुओं की पूजा हो, मेरी मूर्ति की नहीं।[1] अतः आरम्भ में इन्हीं वस्तुओं का आदर हुआ करता था। ईसवी सन् के प्रारम्भ में महायान-मत का प्रचलन होने पर गौतम बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की उपासना आरम्भ हुई। कलकत्ता के अजायबघर में बुद्ध की सबसे पुरानी मूर्ति सुरक्षित है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि वह ईसवी सन् १४२ की बनी हुई है।

कनिष्क के समय (पहली सदी ई० पूर्व) के कुछ पूर्व ही बौद्धधर्म के एक नवीन सप्रदाय का सूत्रपात हो चुका था, जो आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध हुआ। इस संप्रदाय का नाम महायान था। 'महायान' ने जीवन का एक ऊँचा आदर्श जनता के सम्मुख रखा, जिसके अनुसार कोई भी चीज ऐसी नहीं हो सकती,

1- परिनिर्वाण-सूत्र

जिसे प्राणिमात्र के हित के लिए अदेय समझा जा सके। इस चरम साधना के लिए महायान ने बोधिसत्त्व-जीवन का उपदेश दिया। बोधिसत्त्व का तात्पर्य है—दूसरों के कल्याण के लिए अपने देश, घर तथा सुख का परित्याग। अन्धे को दृष्टिदान करने के लिए अपनी आँखें निकालकर देना, भूखे बाघ को अपना शरीर देकर उसकी क्षुधा को शान्त करना-इस संप्रदाय के माननेवाले अपना परम धर्म समझते हैं। दूसरों के हित के लिए अपनी स्त्री और बच्चों का उत्सर्ग कर देना और परोपकार के लिए कष्ट को कष्ट नहीं समझना, यह उनका उद्देश्य है। बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व सिद्धार्थ गौतम ने बोधिसत्त्व के रूप में अनेक जन्म लिए थे। मनुष्य-जीवन का आदर्श यही है कि वह दुःखतप्त प्राणियों के कष्ट को नाश करने के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करे, बोधिसत्त्व के रूप में जीवन व्यतीत करे, और अन्त में बुद्धत्व प्राप्त कर अपना निर्वाण कर ले। बोधिसत्त्व का जीवन भिक्षु और गृहस्थ दोनों ही अपना सकते हैं। इसके लिए भिक्षु-व्रत ग्रहण करना अनिवार्य नहीं है। बोधिसत्त्व का पद पाने के लिए मनुष्य को दस गुण—जिन्हें महायान संप्रदाय के अनुयायी 'पारमिता' कहते हैं—अपने में विकसित करने चाहिए। ये दस पारमिताएँ (१) दान, (२) शील, (३) शान्ति, (४) वीर्य, (५) ध्यान, (६) प्रज्ञा, (७) उपाय, (८) कौशल्य-प्रणिधान, (९) बल और (१०) ज्ञान हैं। इन गुणों को विकसित करके ही मनुष्य बोधिसत्त्व बन सकता है और अनेक जन्मों में बोधिसत्त्व का जीवन व्यतीत करते हुए अन्त में बुद्धत्व प्राप्त करने में समर्थ होता है।

महायान संप्रदाय ने बुद्ध को लोकोत्तर प्रतिपादित करना आरम्भ कर दिया था। जनता में किसी लोकोत्तर शक्ति की भक्ति करने की भावना बहुत प्रबल होती है। उस समय भारत में अनेक संप्रदाय प्रचलित थे। उनमें से भागवत और वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी भक्ति को बहुत महत्त्व देते थे। सर्वसाधारण लोग किसी सत्ता की भक्ति करना चाहते हैं, जो लोकोत्तर हो और जिसको देखकर उच्च भावनाएँ उदित हों। महायान के प्रतिपादकों ने बुद्ध के स्वरूप को ही जनता के सम्मुख उपस्थित किया। उन लोगों ने बुद्ध की मूर्तियाँ बनवानी आरम्भ कीं और वे उन्हें चैत्यों में प्रतिष्ठित करना बहुत महत्त्व की बात समझते थे। महासांघिक संप्रदाय की ऐसी प्रवृत्ति पहले विद्यमान थी और महायान से इसे नया बल मिला और यह विकसति हुआ।

बोधिसत्त्व की कल्पना महायान संप्रदाय की विशेषता है। बुद्ध ने अनेक जन्म ग्रहण कर बोधिसत्त्व का जीवन बिताया और पारमिताओं को प्राप्त किया। अतः यह प्रत्येक मनुष्य के लिए आदर्श है। बुद्ध के इन पूर्व-जन्मों का वृतान्त जातक-कथाओं में वर्णित है। हीनयान संप्रदाय में बोधिसत्त्व को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। उसने भिक्षु-जीवन को ही महत्त्व दिया है। महायान के अनुसार अनेक व्यक्ति बोधिसत्त्व बनकर परोपकार में प्रवृत्त रहें, ऐसा विधान है और ऐसे व्यक्ति अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं और उनकी प्रायः वही स्थिति होती है, जो पौराणिक हिन्दू-धर्म में देवताओं की है। वे चैत्यों में इनकी मूर्तियाँ भी स्थापित करने लगे और बुद्ध के समान इनकी पूजा करने लगे। बोधिसत्त्वों में अवलोकितेश्वर, मंजुश्री, वज्रपाणि, सामन्त भद्र, आकाशगर्भ, महास्थानप्राप्त, भैष्यराज और मैत्रेय प्रमुख हैं।

श्री निखिलेश शास्त्री का कथन है कि उपासना के क्षेत्र में देवताओं की अपेक्षा देवियों को हिन्दू-धर्म में कहीं अधिक उच्च स्थान दिया गया है। इसी आस्था पर बौद्ध-धर्म में देवियों को उच्च मान्यता मिली है। इनमें देवी तारा का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। ८वीं और १२वीं शताब्दी तक यह देवी बौद्ध-धर्म में अत्यन्त लोकप्रिय हो गई। तभी से तारा के सम्मान में जगह-जगह मन्दिर बनवाए गए और घर-घर प्रतिमाएँ पूजी जाने लगीं।[1]

भारत के तांत्रिक बौद्धों ने देवी तारा को अतिशय सुन्दर और उदार माना है। यह उनका शान्त रूप है। इस रूप में तारा हिन्दुओं की देवी लक्ष्मी जैसी प्रतीत होती हैं। जब तारा रौद्र रूप धारण करती हैं तब वे दुर्गा के सदृश लगती हैं। तारा के शान्त एवं रौद्र रूपों के आधार पर बाद में तांत्रिक बौद्धों ने २१ रूपों की कल्पना की और विभिन्न वर्ण और नाम लेकर विवेचन किया। तारा के विभिन्न वर्णों में श्याम, सित, पीत, नील एवं रक्त वर्ण भक्तों को बहुत प्रिय हैं।

इन विभिन्न वर्णों की ताराओं में श्याम तारा प्रमुख है। बौद्ध तांत्रिकों ने श्याम तारा को शान्त रूप में प्रकट किया है। प्रतिमाओं में श्याम तारा को अभिनव यौवन से युक्त तथा नाना अलंकारों से विभूषित दिखाया गया है। उनकी

1. श्री निखिलेश शास्त्री : विविधरूपा बौद्ध-देवी (कादम्बिनी मई, १९६९)

उपासना स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य की रक्षा के लिए करती हैं। तांत्रिक बौद्धों ने उन्हें धनदायिनी देवी के रूप में माना है और 'ऊँ तारे तुत्तारे तुरे धनं ददे स्वाहा' मंत्र भी कहा है। कहा जाता है कि इस मंत्रोच्चारण से तुष्ट होकर देवी भक्तों को अतुल द्रव्य प्रदान करती हैं। इसलिए उन्हें धनदा तारा कहा गया है।

वर्ण के आधार पर तारा का दूसरा रूप है, सिततारा। बौद्धधर्म में सिततारा पतिव्रता की देवी मानी गई हैं। प्रतिमाओं में ये अपने अर्धांग बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के साथ उपस्थित की गई हैं। विचित्र रंगों के वस्त्र एवं अलंकार पहने हुए यह देवी स्वरूप से अति आकर्षक हैं।

बौद्ध-तंत्र में सिततारा के अनेक रूप हैं। इनमें महाचीन तारा बहुत विख्यात हैं। बौद्धों ने इस देवी को रौद्र रूप प्रदान किया है और उग्रतारा की संज्ञा दी है। इस देवी की अनेक प्रतिमाएँ नेपाल में भी हैं।

वर्ण के अनुक्रम में तारा का तीसरा वर्ण पीत है, जिसमें वज्रतारा प्रमुख है। तांत्रिकों को यह देवी बहुत ही प्रिय है; क्योंकि उनके अनुसार इसकी किसी भी रूप में उपासना की जाने पर यह अवश्य सिद्धि प्रदान करती है। कहा जाता है कि यदि एक वस्त्र के छोर पर गाँठ बाँधकर कोई व्यक्ति 'ॐ तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा' मंत्र का सात बार उच्चारण करे तो वह व्यक्ति निर्भय होकर किसी भी दुर्गम स्थान में जा सकता है।

पीततारा का एक और रूप प्रसन्न-तारा है। आकृति से सौम्य होने के कारण इन्हें अमृतमुखी और अमृतलोचना भी कहा गया है। इनके चेहरे पर हल्की-सी मुसकान है। देवी का चतुर्थ वर्ण नील वर्ण है। इनका सौन्दर्य अनुपम है, पर जब ये रौद्र रूप धारण करती हैं, तब इन्हें एकजटा-तारा या विद्युज्ज्वाला-कराली कहा जाता है।

देवी के पाँच वर्णों में अंतिम रक्त वर्ण है। बौद्ध-तंत्र में इस वर्ण में देवी तारा केवल एक रूप में मिलती है और वह कुरुकल्ला कही गई है। बौद्धों का विश्वास है कि इस देवी का मनुष्य के हृदय से घनिष्ठ संबंध है। यह देवी विरही प्रेमियों को उनके प्रियजनों से मिलाकर प्रसन्न करती है। बौद्धों की धारणा है कि प्रत्येक नवयुवक को इस देवी की आराधना करनी चाहिए।

वस्तुतः तारा बौद्ध-तांत्रिकों की शक्तिरूपिणी देवी हैं, जिन्हें इन तांत्रिकों ने निर्वाण की प्राप्ति के लिए इष्ट माना है।

बौद्ध-मूर्तिकला के विकास के लिए शुंगकाल बहुत प्रसिद्ध है। इस काल की मूर्तियाँ भारतीय कला की मुकुटमणि हैं। किन्तु इस काल में हीनयान संप्रदाय का ही बोलबाला था। तबतक महायान पनप नहीं सका था। अतः बुद्धमूर्ति-निर्माण के नमूने कम मिलते हैं।

कुषाण-काल तो बौद्ध-शिल्पकला के उत्थान का स्वर्णयुग है। इस काल में महायान-संप्रदाय पूर्ण विकसित हो गया था। बुद्ध की पूजा के लिए प्रतिमाएँ बनने लगी थीं। मूर्तिकला-विशारदों का कहना है कि भगवान बुद्ध की शुद्ध प्रतिमा का निर्माण मथुरा और अमरावती में साथ-साथ हुआ। मथुरा की बुद्ध-मूर्ति भारतीय कला का उत्कृष्ट एवं विशुद्ध रूप है, जिसमें मगध की यक्ष-यक्षिणी मूर्ति का साम्य, मृदुलता और पौष्टिकता का अनुपम निखार हुआ है। बिहार-राज्य में बुद्ध की जो पहली मूर्ति बनी, वह बोधगया में मिली है। श्रावस्ती की मूर्ति की तरह यह भी मथुरा के लाल पत्थर की बनी है। इस मूर्ति के निर्माता का नाम विक्रम था। कनिंघम ने इस मूर्ति का निर्माण-काल दूसरी शताब्दी माना है। किन्तु मूर्ति पर जो प्राकृत भाषा का अभिलेख मिला है, उसके आधार पर श्री वेणीमाधव बरुआ ने इसे दूसरी और तीसरी शताब्दी के बीच की कहा है। किन्तु इसी लेख के आधार पर श्री रामप्रसाद चन्दा ने इसे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय की बतलाया है। जो भी हो, पर इस मूर्ति की आकृति की शान्ति एवं कान्ति गुप्तकालीन ही जान पड़ती है।[1]

गुप्तकाल में निर्मित बौद्ध-विहार, संघाराम और बुद्ध तथा अन्य बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ प्रचुर और प्रसिद्ध हैं। बोधगया का मन्दिर इस काल की भास्कर्य-कला की अनुपम देन है। इसका वर्णन फाहियान और ह्यु्एनसाँग ने भी किया है। मन्दिर के प्रांगण में स्थित अनेक मूर्तियों की चर्चा वे करते हैं, जिनमें अनेक आज भी देखी जा सकती हैं। इनके कथनानुसार चूने और बालू-मिट्टी की बनी अनेक मूर्तियाँ बोधगया के मन्दिर के ताखों पर प्रतिष्ठित थीं। उसने बोधिवृक्ष के पश्चिम एक बुद्ध-मूर्ति देखी थी, जो काँसे की बनी थी और उसमें कीमती नगीने जड़े हुए थे। गया के कपोत-विहार के समीप ही एक पहाड़ी पर भी बौद्ध-मन्दिर देखा था, जिसमें शान्त, गम्भीर मुद्रा में अवलोकितेश्वर की एक प्रभावशालिनी मूर्ति स्थापित थी।

1. श्री हवलदार त्रिपाठी : बौद्धधर्म और बिहार, पृ० २०५

सारनाथ के धम्मेक-स्तूप और चक्र-प्रवर्तन की मुद्रावाली बुद्ध-मूर्ति भी गुप्त-काल की ही कृति है। सारनाथ संग्रहालय में रखी ३०० बुद्ध-मूर्तियाँ भी गुप्त-काल की मानी गई हैं। गुप्तकाल में मूर्ति-निर्माण के तीन केन्द्र—पाटलिपुत्र, मथुरा और सारनाथ थे। ये कला के अनुपम आदर्श स्थल थे।

पाल-युग में बौद्ध-मातृदेवियों की भी प्रचुर परिमाण में मूर्तियाँ बनीं और भगवान बुद्ध की करुणामय मुखाकृति एवं सुडौल अंगों का कलात्मक प्रदर्शन हुआ। पाल-काल में इस वंश के राजाओं की राजधानी ओदन्तपुरी (विहार-शरीफ) थी, जो आज नालंदा जिले का मुख्यालय और समृद्ध नगर है। पाल-काल में यहाँ मूर्तियों की भरमार थी। यहाँ भी एक मूर्ति प्राप्त हुई है, जो ललितासन में है और वह लोकनाथ की मूर्ति है। पाल-काल में निर्मित नालन्दा में अवलोकितेश्वर की जो एक मूर्ति मिली है, वह विष्णु-मूर्ति की तरह चतुर्भुजी है। बौद्ध-देवताओं की मूर्तियों की एक यह भी विशेषता है कि हिन्दुओं के सभी संप्रदायों के देवताओं के विभिन्न रूप उनमें दर्शाए गए हैं।

सुतरां, अशोक के बाद बड़ी शीघ्रता से मन्दिरों का निर्माण और मूर्तियों की स्थापना होने लगी। अशोक-काल तक बुद्ध को मान्यता गुरु, पूज्य, संस्थापक और महात्मा के रूप में थी, पर वे उपास्य देव नहीं थे। निर्वाण की प्राप्ति तबतक धर्म-पालन से समझी जाती थी। अलबत्ता उनकी अस्थियों आदि पर स्तूप स्थान-स्थान पर बने थे। परन्तु पीछे चलकर बुद्ध की ही नहीं, बल्कि बोधिसत्त्वों, देवी तारा आदि की भी मूर्तियाँ बनने लगीं और परिणाम-स्वरूप चीन, बर्मा, जापान, कोरिया, तिब्बत, तुर्किस्तान, खोतान, स्याम, अनाम, कम्बोडिया, जावा, लंका आदि दूर-दूर के देशों में भी बुद्ध, बोधिसत्त्वों, तारा, आदि की स्वर्ण, रजत, ताम्र, काँसा, प्रस्तर आदि से निर्मित प्रतिमाएँ पूंजी जाने लगीं।



तीसरा खण्ड

पहला परिच्छेद

संतमत और गुरु-पूजा

संतमत की परिभाषा :

भारत के धार्मिक इतिहास में संतमत का एक विशिष्ट स्थान है। 'संत' शब्द का मतलब है—'आत्मज्ञान' अथवा उच्चतम श्रेणी के आत्मतत्ववेत्ता एवं अनुभवी महापुरुषों का बताया हुआ साधन या मार्ग।

सभी महापुरुष जो आज दिन तक आए या जो आज मौजूद हैं, यह सवाल हमारे सामने लाते हैं—"वह कौन-सी विद्या या ज्ञान है, जिसके जानने से सब कुछ जाना हुआ-सा हो जाता है ?" और साथ ही इस सवाल का जवाब भी देते हैं कि वह अपने-आप का, मानव-देह के निवासी, अविनाशी आत्मा का ज्ञान है, जिसके जानने से सब कुछ जाना हुआ-सा हो जाता है। संतमत अंधविश्वास नहीं सिखाता। वह व्यक्तिगत अनुभव की, हरएक के करने की विद्या है। जो मान्यता या धारणा व्यक्तिगत अनुभव से सिद्ध-प्रमाणित न हो सके, उसका मूल्य नहीं। इसलिए संत कहते हैं कि अपनी आँखों से देखो, अपने कानों से सुनो, दूसरों की देखी-सुनी पर न जाओ।

संतमत का सिद्धान्त :

संतमत पिण्ड (मानव-देह) को खोजने की, जड़-चेतन की ग्रन्थि को खोलने की, चेतन (आत्मा) को जड़ (शरीर) से अलग करके उसको अनुभव करने की विद्या है। किन्तु संतमत कहता है कि परमात्मा को जानने से पहले अपने-आप को, अपनी आत्मा को जानना होगा। वह प्रभु महाचेतनता का समुद्र है, और यह आत्मा उसका अंग है—यह भी चेतन-स्वरूप है। चेतन को चेतन ही जान सकता है।

संतमत का सिद्धान्त है कि गुरु के बिना बाहरी ज्ञान भले ही हो जाए, किन्तु गूढ़ार्थ का प्रकाश संभव नहीं है। अतः संतमत की साधना के क्षेत्र में दो ऐसे तत्त्व हैं, जिनका बहुत महत्त्व है। वे हैं गुह्यतत्व और गुरुतत्व। इसका सिद्धान्त है कि सभी व्यक्ति ब्रह्मज्ञान के अधिकारी नहीं हैं, और योगादि का

अभ्यास बिना गुरु के निर्देशन के संभव नहीं है। यही कारण है कि अनेकानेक संतमतों का साहित्य अभी अप्रकाशित पड़ा हुआ है।

संतों का एकेश्वरवाद अद्वैतवाद को आधार मानकर चलता है; चाहे शांकर अद्वैत हो, या शैव अद्वैत हो; चाहे सगुणवादी वैष्णवों का अद्वैत हो, या निर्गुणवादी संतों का अद्वैत हो—सबके मूल में मुख्यत: उपनिषदें हैं। अद्वैत ही नहीं, संतमत की प्राय: सभी मान्यताएँ उपनिषद्-युग में मूर्त्त रूप धारण कर चुकी थीं। कर्म, पुनर्जन्म, पुण्य-पाप, न्यायकृत कर्मनाश आदि संतों के सिद्धान्त अति विस्तृत रूप में उपनिषदों में विद्यमान हैं।

संतों ने ब्रह्म को निर्गुण माना है और इसलिए हम जब कभी निर्गुण-भक्ति की चर्चा करते हैं, उसके द्वारा संतमत की ओर संकेत करते हैं। यद्यपि सगुण राम अथवा कृष्ण के उपासक सूर, तुलसी, मीरा आदि भी संत थे, तथापि 'संत' शब्द धीरे-धीरे निर्गुणवादी साधकों तथा महात्माओं के अर्थ में रूढ़ होता चला आया है। संतों ने वैष्णव-भक्ति से प्रभावित होकर निर्गुण-भावना के क्षेत्र में 'राम' का व्यापक रूप से अंगीकरण किया है। किन्तु उन्होंने 'राम' को सगुण न मानकर निर्गुण माना है। उन लोगों ने अवतार-वाद के प्रति अनास्था प्रकट की है; क्योंकि अवतार ग्रहण करने का अर्थ है निर्गुण का सगुण रूप धारण करना।

संतमत में गुरु का स्थान :

संतमत में गुरु का प्रमुख स्थान है। योगियों की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आती है। इसमें भी गुरु का विशिष्ट स्थान है। अपने शरीर के विभिन्न अंगों पर प्रभुत्व जमाकर उनपर प्राप्त विजय द्वारा प्राकृतिक शक्तियों को भी वश में लाना संभव हो जाता था। तदनुसार हम उस काल के साधकों में से बहुतों को भिन्न-भिन्न प्रकार की तपश्चर्या में निरत पाते हैं। तप के द्वारा उस समय एक अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव होना समझा जाता था। परन्तु यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि हठयोग का वास्तविक प्रचार नाथयोगी संप्रदाय द्वारा हुआ। नाथयोगी संप्रदाय के प्रारम्भिक इतिहास का कुछ पता नहीं चलता। बहुतों की धारणा है कि इसके मूल प्रवर्त्तक गुरु गोरखनाथ थे, जिन्होंने सर्वप्रथम कनफटा योगियों की परम्परा चलाई थी और हठयोग की साधना का प्रचलन किया था। इसमें संदेह नहीं कि गुरु गोरख-

नाथ योगी-संप्रदाय के सर्वप्रथम नेता थे। वास्तव में इसे सुसंगठित करने एवं सुव्यवस्थित रूप देने में सबसे अधिक हाथ इन्हीं का था। इसके लिए इन्होंने कई स्थानों पर केन्द्र स्थापित किए और वहाँ योग्य शिष्यों को प्रचार के लिए नियुक्त किया। तदनुसार प्रसिद्ध है कि इनके यत्नों के प्रभाव के कारण इसकी अनेक भिन्न-भिन्न शाखाएँ चल निकलीं, जिनमें (१) भुवनेश्वर का सत्यनाथ-पंथ, (२) कच्छ का धर्मनाथ-पंथ, (३) गंगा सागर का कपिलानी पंथ, (४) गोरखपुर का रामनाथ-पंथ, (५) झेलम (पाकिस्तान) का लक्ष्मणनाथ-पंथ, (६) राथाडूंगा (पुष्कर-क्षेत्र) का वैराग्य पंथ, (७) जोधपुर का भीमनाथी उर्फ पावनाथ-पंथ, (८) दिनाजपुर का आई पंथ, (९) गुरदासपुर (पंजाब) का गंगानाथ-पंथ, (१०) अंबाला का ध्वजनाथ-पंथ, (११) वोहर (प्राचीन इन्द्र-प्रस्थ) का पागल-पंथ और (१२) रावलपिण्डी (पाकिस्तान) का रावल या नागनाथ-पंथ अधिक प्रसिद्ध हैं। रावल-पंथ में अधिकतर मुसलमान योगी थे। गोरखनाथ जी के मन्दिर विभिन्न स्थानों में हैं, जिनमें उनकी मूर्तियाँ स्थापित हैं। इनमें गोरखपुर और हरिद्वार के गोरखनाथ-मन्दिर प्रसिद्ध और दर्शनीय हैं।

इस प्रकार यद्यपि शाक्तमत तथा नाथ-संप्रदाय में गुरु की महत्ता और उपादेयता कबीर साहब के जीवन-काल के पूर्व से ही भारत में प्रचलित थी, तथापि संतमत की जो धारा प्रवाहित हो रही है, उसका वेग संत कबीर से आरम्भ होकर अबाध रूप से लगभग ५०० वर्षों से जारी रहा है और गुरुपूजा संतमत का प्रधान अंग हो गई है। समस्त परवर्त्ती संत कबीर साहब के सिद्धान्त से प्रभावित हुए हैं। नानक, दादू, रैदास, रज्जब, सुन्दरदास, धरणी-दास, चरणदास, सहजोबाई, गरीबदास, पलटूदास, मलूकदास आदि के अतिरिक्त सरभंग (अघोर-मत) के संत किनाराम, भिनकराम, भीसमराम, टेकमनराम, सदानन्द बाबा आदि ने अपने-अपने समय में इस धारा को पुष्ट किया।

सरभंग या अघोरमत में भक्ष्याभक्ष्य का प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता और मद्य मांस आदि गर्हित नहीं माने जाते। यह वाममार्ग का एक रूप है। वाम-मार्ग को कौलमार्ग भी कहा जाता है; क्योंकि 'कुल' नाम है कुण्डलिनी का और कुण्डलिनी को जाग्रत करना तत्रविहित योग की मुख्य साधना है।

संतमत और निर्गुण उपासना :

इन संतों ने एक ईश्वर की ही उपासना का उपदेश दिया। छुआछूत और जात-पाँत की निन्दा की। भूत-प्रेत की पूजा, कुर्बानी, बलिदान आदि का निषेध

किया। पीर, औलिया, कब्र आदि की वन्दना से लोगों को रोका। सदाचार की महिमा बताई। हिन्दू-मुसलमान को मिल-जुलकर रहना सिखाया। इनमें से कई अब्राह्मण थे और कुछ जन्मना हिन्दू भी नहीं थे। संस्कृत तो इनमें से शायद ही कोई जानता था। इस कारण पण्डित-वर्ग अप्रसन्न हुए, पर जनता में इस मत का खूब प्रचार हुआ।

अतः निर्गुण-संप्रदाय की उत्पत्ति रूढ़िवाद और अंधविश्वास की प्रतिक्रिया के रूप में हुई। मनुष्य-मात्र की एकता और समता तथा जातिवाद का खण्डन, मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का विरोध—संत-संप्रदाय का मौलिक आधार था।

इन संतों ने सगुण-साकार की उपासना के स्थान पर निर्गुण-उपासना, योग और ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया। यह बात ठीक है कि भक्ति-मार्ग में भी ऊँच-नीच का भेद नहीं है, किन्तु सबको मन्दिर, पूजा की सामग्री आदि प्राप्य नहीं होते। अछूतों का तो मन्दिर-प्रवेश भी वर्जित था। किन्तु निर्गुण-उपासना और योगाभ्यास के लिए तो कोई बाहरी साधन नहीं चाहिए। पूजा की सामग्री के लिए पैसे भी नहीं चाहिए। इसलिए यह मार्ग सबके लिए सुलभ और सुगम है, यद्यपि है कठिन। पर सच्ची भक्ति कोई हँसी-खेल की चीज नहीं है। इसलिए विशेषकर निम्नस्तर की जनता का इस ओर अधिक व्यापक आकर्षण हुआ। नाई, धोबी, जुलाहे, मोची, जन्म से मुसलमान आदि भी ऊँची जातिवालों के समकक्ष इसमें आए। इस प्रकार भारत पर मुसलमानों के आक्रमण और शासन के आपातकाल में भक्ति-मार्ग ने मुमूर्षु हिन्दू-जाति में जान डाली और संतमत ने उसे सक्रियता प्रदान की। योगी में बल होता है, आत्म-विश्वास होता है। उसकी वाणी में अपूर्व शक्ति होती है। इससे जनता में आत्म-निर्भरता आई। उसी आत्म-निर्भरता की कली मुगल-साम्राज्य के अवसान-काल में मुगलों के अत्याचार से पीड़ित, मूलतः शान्ति-पथ के पथिक, सिक्ख-संप्रदाय के रूप में खिली।

किन्तु भक्ति-मार्ग और उसके परिणाम-स्वरूप मूर्तिपूजा संतमत से पहले चल चुकी थी। उसने जो वैष्णव वातावरण पैदा कर दिया था, उसका प्रभाव संतों पर पड़ा, जिसके परिणाम-स्वरूप संतमत के आचार्यों की रचनाओं में भक्ति-भावना से ओतप्रोत वाक्य मिलते हैं। साथ-ही साथ भक्ति-मार्ग भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रहा, और भक्ति-मार्ग के ग्रन्थों में योग के अनुभव की झलक मिलने लगी।

एकाध को छोड़कर संतों ने निश्चित रूप से पुस्तकें नहीं लिखीं। उनकी कुछ स्फुट रचनाएँ मिलती हैं, जिनको समय-समय पर उनके शिष्यों ने लिख लिया था। इनमें से जो गाने लायक हैं, उनको 'शब्द' तथा शेष को, जो प्रायः दोहा, सोरठा आदि छन्दों में हैं, 'साखी' कहते हैं।

संत-वाणियों में गुरु की महिमा भरी-पड़ी है। गुरु-वंदना और गुरु-महिमा के प्रसंग बहुत हैं और सभी संतों की वाणियों में हैं। एक बात है कि यहाँ जितने भी निराकारवादी हैं, उनकी साधना गुरु का आश्रय लिए बिना चल नहीं सकती।

"जीव के स्वरूप का ज्ञान बिना गुरु के हो सकता है। ईश्वर के स्वरूप का दर्शन भी बिना गुरु के हो सकता है, किन्तु जीव तथा ईश्वर के तत् तथा त्वं के अभेद का ज्ञान महावाक्य के उपदेश के बिना नहीं हो सकता। यह अभेद-ज्ञान, जो वास्तविक ज्ञान है, गुरु जब महावाक्य का उपदेश करेंगे तभी होगा। महावाक्य का तात्पर्य सूचित करनेवाला किसी भी भाषा का कोई भी वाक्य महावाक्य है।"[1]

ज्ञान के मार्ग में तत्त्व-जिज्ञासा के लिए गुरु की आवश्यकता दो क्षण के लिए है, यदि जिज्ञासु उत्तम अधिकारी है। महावाक्य के श्रवण-मात्र से उसे ज्ञान हो सकता है; किन्तु योग के साधक के लिए तो पूरे साधन-काल में गुरु का प्रत्यक्ष संरक्षण एवं नियंत्रण आवश्यक है। पुस्तकें पढ़कर या किसी की देखादेखी जो लोग योग-साधन प्रारम्भ करते हैं, उनको प्रायः असाध्य रोगों का शिकार बनना पड़ता है।

संतमत की परम्परा वैदिक तांत्रिक मतों से कुछ भिन्न है; किन्तु जहाँतक गुरु के स्वरूप की बात है, इन मतों में भी गुरु साधन-निदेशक तथा साध्य-स्वरूप है। संतमत में धुरधम अथवा सहस्रार में गुरुमूर्ति का ध्यान किया जाता है। इन संतमतों में से कई में तो अपने गुरुदेव की मूर्ति का ही ध्यान और उसके नाम का जप करने की प्रणाली है।

संतमत में गुरु की महिमा :

तंत्र में श्रीगुरु का सर्वोच्च पद स्वीकार किया गया है। अतएव तंत्र-मतानुयायी साधकों के लिए गुरु-पूजा अत्यावश्यक मानी गई है। गुरु-पूजा के बिना साधक की सब साधना निष्फल है। कलिविलास-तंत्र (१।१३) में कहा भी है—

---

1. परमार्थ : गुरु-महिमा-अंक, पृ० ४२।

गुरुपूजा विना देवी स्वेष्ट पूजां करोति यः ।
मंत्रस्य तस्य तेजांसि हरते भैरवः स्वयम् ॥

संतों ने तो सद्गुरु-महिमा के बखान में सचमुच कलम तोड़ दी है । यथा—

१. बिनु सद्गुरु कोई भेद न पावा ।
धरती से आकाश ले धावा ॥ (वजहन)

२. दादू काढ़े कालमुख, अंधे लोचन देई ।
दादू ऐसा गुरु मिला, जीव ब्रह्म करि लेई ॥ (दादू)

३. गुरु चरनन पर तन मन वारूँ ।
गुरु न तजूँ, हरि को तजि डारूँ ॥ (सहजोबाई)

४. सद्गुरु आदि अनादि है, सद्गुरु मध्य अरु मूल ।
सद्गुरु की सिजदा करूँ, एक पलक नहीं भूल ॥ (गरीबदास)

श्रद्धा और उल्लास का भाव प्रायः गुरु के प्रति आदर और भक्ति निवेदित करते हुए अथवा योग की चरम स्थिति के आत्मानन्द की अनुभूति और प्रेम-मिलन का वर्णन करते हुए व्यक्त हुआ है । गुरु के प्रति भक्ति का जो उत्कर्ष निर्गुण-संप्रदाय में मिलता है, वह अन्यत्र सुलभ नहीं । कबीर की प्रसिद्ध उक्ति, जिसमें गुरु को गोविन्द से भी ऊँचा बताया गया है और गुरु को मनुष्य समझनेवालों को अंधा कहा गया है, लोक-प्रसिद्ध है :

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काको लागूँ पाँय ।
बलिहारी गुरु आपनो जिन गोविन्द दिया दिखाय ॥ १ ॥
गुरु को मानुष जानते, सो नर कहिए अंध ।
होए दुःखी संसार में, आगे जम को फंद ॥ २ ॥

साधक के उपदेश तथा संरक्षण के लिए योग के सभी मार्गों में गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है और आराध्य रूप से भी वहाँ गुरु का ही ध्यान-चिन्तन किया जाता है ।

तंत्र-साधना भी योग का ही एक रूप है । इस पंथ में तो गुरु ही शिव है । गुरु के बिना वहाँ साधन का श्रीगणेश भी संभव नहीं है ।

इस प्रकार ज्ञान तथा योग में मंत्रानुष्ठानों एवं तंत्र की साधनाओं में गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है ।

तीन प्रकार के गुरु :

एक पक्के संत का कथन है कि गुरु तीन प्रकार के होते हैं—(१) पत्थर, (२) लक्कड़ और (३) फक्कड़।

जो स्वयं भी डूबे और शिष्य को भी साथ लेता जाए, वह पत्थर गुरु है। जिसके मंत्र और उपदेश का सहारा लेकर शिष्य अपनी श्रद्धा-साधना के बल से पार हो सकता है, वह लक्कड़ गुरु है।

एक संत ने चुटकी बजाकर बताया कि जो यों पार कर दें, वे फक्कड़ गुरु हैं।

फक्कड़ गुरु ही समर्थ और सच्चे गुरु होते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि एक ही पहचान है सच्चे गुरु की—**पर्दा दूर करे आँख का, निज दर्शन दिखलावे, सतगुरु मोहि भावे।**

किन्तु जिन गुरुओं ने चमत्कार किया, किसी को चुटकी बजाते ही आत्म-साक्षात्कार या भगवत्दर्शन करा दिया, उन्होंने भी अपने समीप आनेवाले सबके साथ ऐसा नहीं किया। इसका कारण यह है कि वे व्यक्ति, जिनके साथ चमत्कार हुए, वे पूर्व जन्म के साधन से सम्पन्न-विशेष थे और सद्गुरु की सहायता से शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर सके।

आज अधिकतर गुरु पत्थर गुरु हैं। फक्कड़ गुरु की शिष्य-परम्परा में रहने के कारण वे भले ही पत्थर गुरु की कोटि में हों, किन्तु जनता उन्हें गुरु-रूप में ही वरण करती है। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण मठाधीश हैं।

सच कहा जाय तो सब लोग गुरु की कोटि में रहने योग्य नहीं हैं। अधिकांशतः वे स्वार्थ-साधक हैं और उस स्वार्थ की पूर्ति वे उसी प्रकार धन द्वारा करना चाहते हैं, जिस प्रकार संसार की दूसरी वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। अधिकांश लोग तो ऐसे ही गुरु करते हैं कि यदि गुरुदेव के यहाँ जाएँ तो वे खूब स्नेह करें, सम्मान करें, ठहरने और भोजन की सुव्यवस्था करें और चलते समय फल या मीठा प्रसाद दें। घर-भर का कुशल-मंगल पूछें। उनके यहाँ रहने की पूरी सुविधा उपलब्ध हो। ऐसे गुरुदेव प्रायः धनी-मानी श्रद्धालुओं को अपेक्षित हैं, और देश में उनका कोई अभाव नहीं है।

गुरुदेव को चमत्कारी और ममताशील होना चाहिए। उनकी पहुँच बड़े लोगों तक भी हो तो सोने में सुगंध। वे बच्चे को नौकरी लगवा दें, किसी से कह-सुनकर लड़की का ब्याह तय कर दें, व्यापार में कुछ सहायता दिलावें, विपत्ति

में अफसरों को प्रेरित करके अनुकूल बना दें; अनुष्ठान बतावें ही नहीं, बल्कि स्वयं कर दें अथवा किसी से करवा दें, जिससे पुत्र-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, सफलता, मुकदमे में जीत आदि निश्चित होती हों; वे ज्योतिष के अच्छे जानकार हों, और कुछ दवा-दारू का भी ज्ञान रखते हों। तात्पर्य यह कि ज्योतिषी, अनुष्ठानों के ज्ञाता, वैद्यकशास्त्र से परिचित तथा उच्चवर्ग तक पहुँचवाले गुरुदेव बहुत बड़े वर्ग को अभीष्ट होते हैं। ऐसे लोगों को भी अपने अनुकूल गुरु पाने में कम ही परिश्रम करना पड़ता है।

किन्तु लक्कड़ या फक्कड़ गुरु ही साधक को अभीष्ट स्थान तक जानेवाले मार्ग से परिचित कराते हैं। केवल वह मार्ग ही नहीं बतलाते हैं, प्रत्युत उस मार्ग में आनेवाली सभी कठिनाइयों और बाधाओं से भी पहले ही सावधान करके और बाधाओं को किस प्रकार दूर किया जा सकता है और कठिनाइयों पर किस प्रकार विजय प्राप्त हो सकती है—इन सब बातों पर भलीभाँति प्रकाश डालते हैं, जिसमें साधक अपना मार्ग निर्विघ्न समाप्त कर सके।

फक्कड़ गुरु पाने के साधन :

वस्तुतः फक्कड़ गुरु की खोज प्रारम्भ होती है वैराग्य से, सत्संग से, सच्छास्त्रों के पठन-श्रवण से अथवा पूर्वजन्म के पुण्य-प्रभाव से। जब चित में भोगों से वैराग्य हो जाता है, जन्म-मरण के चक्कर से छूटने की इच्छा जाग्रत होती है, आनंदघन परमात्मा को प्राप्त करने अथवा अपने-आप को, सत्य को जान लेने की तीव्र इच्छा होती है, तब गुरु की आवश्यकता का ठीक-ठीक अनुभव होता है। आवश्यकता का अनुभव हुए बिना खोज नहीं हुआ करती।

महापुरुषों का मिलना दुर्लभ है, मिल भी जाते हैं तो उन्हें पहचानना कठिन है। नारद-भक्तिसूत्र में लिखा है कि सच्चे महापुरुष जंगल-जंगल भटकने, पूछताछ करने या अपने श्रम से नहीं मिलते, बल्कि भगवत्कृपा से महापुरुष मिलते हैं। साधक जिस स्थिति का अधिकारी अपने को बना लेते हैं, भगवत्कृपा से वह स्थिति उन्हें तत्काल प्राप्त हो जाया करती है। प्रकाश उन्हें मिलता है, जिन्हें प्रकाश की आवश्यकता होती है। भगवत्कृपा का अर्थ है 'अधिकार-संपादन'। परमार्थतत्त्व का कोई जिज्ञासु जिस स्थिति या साधन

का अधिकारी होता है, उस स्थिति या साधन से से एक क्षण के लिए भी वंचित नहीं रखा जाता। एक संत का कथन है—

"तुम्हें गुरु को नहीं ढूँढ़ना है; गुरु स्वयं तुमको ढूँढ़ लेगा।" ऐसी घटना अनेक उत्कृष्ट साधकों के साथ घटती रहती है।

अद्‌भुत प्रतिभा एवं चमत्कार-संपन्न महापुरुष प्रायः हिमालय में दिव्य योगियों की निवास-भूमि बताते हैं। उनके वर्णनानुसार वहाँ युगों से सिद्ध पुरुषों का समुदाय निवास करता है और कभी-कभी उन सिद्ध पुरुषों में से कोई-कोई भारतभूमि में अदृश्य या गुप्त रूप से आ भी जाते हैं। ब्रह्मलीन योगिराज लाहिड़ी महोदय को ऐसे ही एक संत का दर्शन हिमालय पर्वत पर हुआ और बाद में भी वे उन्हें यदा-कदा दर्शन देते रहे। ब्रह्म-विद्या संस्था के सदस्यों का तो विश्वास है कि श्वेत-संघ के संत, जिन्हें 'मास्टर्स' कहा जाता है, हिमालय में निवास करते हैं और देश-विदेश के साधकों को साधना में सहायता प्रदान करते रहते हैं। उन्हीं लोगों की सहायता से सोसाइटी के कुछ साधक अद्‌भुत तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का चयन कर सके। जबतक ऐसे महात्मा स्वयं इच्छा न करें, सामान्य मनुष्य उनके दर्शन नहीं कर सकता। अनेक भाग्यवानों को यदा-कदा ऐसे संतों के दर्शन हो जाते हैं।

संतमत योगाभ्यास को मोक्ष का साधन प्रतिपादित करते हैं। पतञ्जलि के अनुसार **अभ्यास वैराग्यभ्यां तन्निरोधः**, अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्ति का निरोध होता है; दूसरे शब्दों में योग द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। वैराग्य का उपदेश देनेवाले पद संतों की वाणियों में भरे-पड़े हैं।

योगाभ्यास की कई रीतियाँ प्रचलित हैं। इनमें लक्ष्यगत कोई भेद नहीं है। मुख्य भेद धारणा अर्थात् चित्त की वृत्ति को एकाग्र करने के अन्तर्मुख साधन के संबंध में है। प्रायः सभी संतों ने जिस प्रक्रिया का मुख्यतया उपदेश दिया है, उसे 'सुरत शब्दयोग' कहते हैं। यह कोई नूतन आविष्कार नहीं है; परन्तु संतकाल के पहले इसका स्यात् इतने विस्तार से अवलंबन नहीं हुआ था। सूरत, जिसे सुरति भी कहते हैं, स्त्रोत शब्द का अपभ्रंश है। दर्शन-ग्रन्थों में स्त्रोत का अर्थ है—'चित-वृत्ति-प्रवाह'। अतः सुरत शब्दयोग वह पद्धति है, जिसमें शब्द की धारणा की जाती है, अर्थात् चित्त की वृत्ति का प्रवाह शब्द में लय किया जाता है। शब्द का किसी बाह्य मंत्र से तात्पर्य नहीं

है। शरीर के भीतर एवं बाहर एक प्रकार की ध्वनि बराबर होती रहती है, जिसे 'अनाहत' (जो बिना किसी प्रकार का आघात किए हुए उत्पन्न हो) कहते हैं। संतों ने इसे अनहद कहा है। गुरु-प्रदिष्ठ मार्ग द्वारा अभ्यास करने से इस ध्यान की डोर हाथ आ जाती है और फिर उसके सहारे चढ़कर चित की वृत्ति बीच की भूमिकाओं को पार करती हुई असंप्रज्ञात समाधि-पद में सहज ही लीन हो जाती है।

ध्यान-बिन्दु उपनिषद् में बतलाया है—

अनाहतं तु यच्छवदं तस्य शब्दस्य यत्परम् ।
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः ॥

अर्थात् अनाहत शब्द से भी परे जो शब्द है, उसको पाने से योगी के संशय की निवृत्ति होती है।

शिवसंहिता आदि ग्रन्थों में भी अनाहत ध्वनि और उसके द्वारा चित्त-वृत्ति के उपक्रम का वर्णन आया है।

इसी ध्वनि का आश्रय लेकर योगी को अन्तर में आदि-ध्वनि अर्थात् प्रणव का अनुभव होता है। पतञ्जलि कहते हैं कि प्रणव ओंकार ईश्वर का वाचक है। ओंकार के अकार, उकार तथा मकार—इस प्रकार टुकड़े टुकड़े करके अनेक प्रकार के अर्थ किए गए हैं। योगी की दृष्टि में ओंकार आदि शब्द, अर्थात् पाञ्चभौतिक जगत का आदिम रूप, शब्द तन्मात्रा का सूक्ष्माति-सूक्ष्म सार है। इसलिए पाञ्चभौतिक जगत में ईश्वर की पहली अभिव्यक्ति है। इसी कारण ओम् को उसका वाचक या पवित्र नाम कहा गया है।

संतमत में सतनाम की महिमा :

जिस प्रकार वैदिक ग्रन्थों में ओंकार को प्रणव, उद्गीथ आदि अनेक नामों से पुकारा गया है, उसी प्रकार संतों ने उसे प्रायः इन्हीं नामों या सत्नाम (सत्य-नाम) कहकर पुकारा है। सत्यनाम की अपार महिमा का उन लोगों ने बार-बार वर्णन किया है। वे भी कहते हैं कि नाद के परे जो भूमिका है, वह निःशब्द अनामी लोक है। उसके अवतरण इस प्रकार हैं—

१. ओऽमकार पानी अरु पवन। सूर्य, चन्द्र, धनि, महि, भवन ॥
ओऽमकार पूजा अरु मान। ओऽमकार जप संयम ध्यान ॥
ओऽमकार तप तीरथ दान। ओऽमकार राखै सुर ग्यान ॥

ओऽमकार गुरु अरु चेला। ओऽमकार रह रासी मेला ।।
ओऽमकार निरंतर बानी । जिन जानि तिन गुरुमुख जानी ।। (नानक)

२. सतनाम निज सार है, अमर लोक को जाय।
कह दरिया सतगुरु मिले, संसय सकल मिटाय ।। (दरिया)

३. मूल मंत्र निज नाम है, सुरत सिन्धु के तीर।
गैवी बानी अरस में, सुर नर घटै न धीर ।। (गरीबदास)

४. तापर अकहलो कहै भाई, पुरुष अनामी तहाँ रहाई।
जो पहुँचे जानैंगे वाही, कहन सुनन से न्यारा है ।। (कबीर)

संतमत और सुरत-शब्दयोग :

संतों ने सुरत शब्दयोग को ही निदिध्यासन की प्रधान प्रक्रिया माना है। वे इसी का भजन भी करते हैं। अभ्यास करते करते योगी को जो अनुभव होते हैं, उनका वर्णन श्वेताश्वतर-उपनिषद् में (अध्याय २।११।१२) आया है कि योगाभ्यास आरम्भ करने पर पहले अनुभव होनेवाले कुहरे, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत (जुगनू), विद्युत्, स्फटिकमणि और चन्द्रमा इनके रूपब्रह्म की अभिव्यक्ति करानेवाले होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की अभिव्यक्ति होने पर अर्थात् पञ्चभूतमय योग-गुणों का अनुभव होने पर, जिसे योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो गया है, उस योगी को न रोग होता है, न वृद्धावस्था प्राप्त होती है और न उसको असामयिक मृत्यु होती है। शरीर का हलकापन, निरोगता, विषयासक्ति की निवृत्ति, शारीरिक कान्ति की उज्ज्वलता, स्वर की मधुरता, सुगंध और मल-मूत्र की न्यूनता—इन सबको योग की पहली सिद्धि कहते हैं। इसी विषय का नाद, विन्दु आदि उपनिषदों में किञ्चित् अधिक विस्तार से वर्णित हैं।.... ... तंत्रग्रन्थों में भी कहीं-कहीं इसका अच्छा वर्णन है।

संतों ने भी इस अनुभव का वणन किया है। योगी के अभ्यास के प्रसाद से चतुर्दश भुवन में कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं रह जाती। वह अणिमादि सिद्धियों का स्वामी हो जाता है।[1]

सूफी-मत—मुसलमानों में एक फिरका सूफियों का है। इनके सिद्धान्त भी संतमत से लगभग मिलते-जुलते हैं। पीर-परस्ती अर्थात् गुरु उपासना की इनके

1. **श्री संपूर्णानंद : संतमत में साधना** (**'कल्याण', साधनांक**)

यहाँ प्रधानता रहती है। संतमत की तरह गृहस्थ और विरक्त दोनों तरह के मनुष्य इनमें पाए जाते हैं। इनके यहाँ साधन भी संतों के सदृश सरल होते हैं, यद्यपि सूफियों में कुछ लोग तप और वैराग्य का जीवन व्यतीत करते हुए कठिन योग-क्रियाओं के करनेवाले भी देखे जाते हैं। परन्तु श्रेष्ठता भक्ति व प्रेम को ही दी जाती है। ये लोग पुस्तकीय ज्ञान को ज्ञान नहीं मानते। अनुभवी ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करते रहते हैं। ये संतों की तरह उदार हृदयवाले होते हैं। जात-कुजात, ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान सबको प्रेम की निगाह से देखते हैं और बिना भेद-भाव के, जिज्ञासु देखकर सबको अपना इल्म-रुहानी (अध्यात्म-विद्या) देने के लिए तैयार हो जाते हैं।

'सूफी' शब्द का अर्थ है साफ दिलवाला आदमी। जिसने आध्यात्मिक क्रिया द्वारा अपने हृदय को से मलावरण हटाकर उसे शुद्ध कर लिया है, वही सूफी है। हृदय-रूपी दर्पण के निर्मल होने पर ही उसमें प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थ का बिम्ब साफ प्रतिबिम्बित हो सकता है, और इसी से मनुष्य को यथार्थ ज्ञान भी प्राप्त हो सकता है। इस काम के लिए दो साधन उनके यहाँ मुख्य हैं—(१) तजकिया नफ्स और (२) तसफिया कल्ब। 'तजकिया नफ्स' इन्द्रियों के दमन को और 'तसफिया कल्ब' हृदय की शुद्धता को कहते हैं।

कबीर साहब के समय में भी सूफीमत पूरे विकास पर था। ब्रह्मलीन परम संत डॉ० चतुर्भुज सहाय ने अपने ग्रन्थ 'एकनिष्ठा और विश्वास' में सूफी संत मखदूम साहब के कबीर साहेब से मिलने की उपदेशपूर्ण, पर रोचक कथा का वर्णन किया है।

कबीर साहब—जब वैष्णव-धर्म में संकीर्णता आ गई, छुआछूत, ब्राह्मण-अब्राह्मण का विचार उठ खड़ा हुआ तथा परमात्मा की स्थूल मूर्ति की पूजा की प्रधानता ने जोर पकड़ा और गोलोक से आगे जाने की इच्छा त्याग दी गई तथा भौतिक सुख को प्राप्त करना अन्तिम लक्ष्य रह गया, तब काशी में श्री रामानन्द जी प्रकट हुए। ये रामानुज-संप्रदाय के एक उच्चकोटि के त्यागी साधु थे। 'राम-नाम' इनका इष्ट था। परन्तु इनके 'राम' अन्य वैष्णवों की भाँति स्थूल नहीं थे, वरन् सर्वव्यापी, चैतन्य एवं सर्वशक्तिशाली थे। इन्होंने जात-पाँत जैसी विषाक्त विचारधारा का परित्याग कर मनुष्य-मात्र को अपने झंडे के नीचे आमंत्रित किया। भगवत्प्रेम के सभी समान अधिकारी हैं—ऐसा एलान

इन्होंने बुलन्द आवाज में किया। श्री कबीर साहब, श्री रैदास जी, सदन कसाई, गणिका वेश्या, सीना नाई, घना जाट आदि इनके मुख्य शिष्य थे। इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके शिष्यों ने अपनी-अपनी अलग शाखाएँ स्थापित कर इनके सिद्धान्तों का खूब प्रचार किया।

कबीर साहब का दर्जा और सब शिष्यों से ऊँचा था। अन्य शिष्य तो सिद्धान्तों में मतभेद होने पर भी वैष्णव-संप्रदाय को नहीं छोड़ सके; किन्तु कबीर साहब ने (१) सत्तनाम, (२) सत्तसंग तथा (३) सत्तगुरु की त्रिपुटी बनाकर एक नए मार्ग की नींव डाली, जिसे 'संतमत' कहते हैं। गुरु के आश्रय में रहकर सत्संग के द्वारा सत्तनाम का सुरति से समागम करा देना और उसी के सहारे ध्रुवपद तक चढ़ाई करके पहुँच जाना संतमत है। इस मत में द्वैत-अद्वैत दोनों के परे जो अलख-अगोचर ब्रह्म है, वहाँ तक पहुँचने की कोशिश की जाती है। वही ध्रुवपद और अन्तिम लक्ष्य है। कबीर-पंथी वैष्णवों की भाँति पत्थर आदि की मूर्ति न बनाकर जिन्दा और मौजूद गुरु को ही ईश्वर का रूप मानते हैं। गुरु में और परमात्मा में वे भेद नहीं समझते और गुरु का ही आश्रय लेकर उन्नति करते हैं। वे राम और कृष्ण को अवतार मानते हैं, पर उन्हें इष्ट नहीं समझते। वे माया से परे की वस्तु हैं, जिनका कोई भी नाम रख लिया जाए। कहा भी है—

एक राम दशरथ घर डोलै, एक राम घर घर में बोलै।
एक राम का सकल पसारा, एक राम त्रिगुण से न्यारा॥

× × × ×

इका राम दशरथ घर डोले, निराकार घर-घर में बोले।
बिन्दु राम का सकल पसारा, निरालम्ब सबसे ही न्यारा॥[1]

कबीर साहब की मुख्य शिक्षा यह थी कि ईश्वर के दर्शन के लिए उसके भक्त का हृदय टटोलना चाहिए, उससे प्रेम का संबंध दृढ़ करना चाहिए। ईश्वर सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है, उसको पकड़ना या उसके यहाँ तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। इसलिए सबसे सुलभ उपाय यह है कि भक्त किसी संत को बीच में डाल ले, उसके ख्याल से अपना ख्याल मिला दे, यानी दोनों के ख्यालों का तादात्म्य

1. 'समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी की जीवनी और उपदेश'
—डॉ० चतुर्भुज सहाय

हो जाए। इस तरह जिज्ञासु अथवा भक्त को ईश्वर तक पहुँचने में देर नहीं लगती, उसका सीधा संबंध ईश्वर तक उसी समय हो जाता है। इससे एक-निष्ठा जल्दी प्राप्त हो जाती है; क्योंकि 'दो' का झमेला जाता रहता है। ईश्वर और गुरु अलग-अलग मानने पर ध्यान में कभी ईश्वर आता है और कभी गुरु। साधक की यह अड़चन भी जाती रहती है। वह एक पर ही निष्ठा रखने से अति शीघ्र शान्त हो जाता है। बताया गया है कि विश्व-प्रेम प्राप्त करो, भेद-दृष्टि दूर करो, सबमें ईश्वर का ही वास समझो। ये सब बातें इस प्रकार के साधन करनेवालों को बहुत जल्द मिलती हैं। इसका सबसे सरल उपाय यही है कि प्रथम एक मनुष्य के लिए मन के भाव को बदलो। जब उसमें त्रुटि न रहे तब धीरे-धीरे उसका विस्तार करते चलो और अन्त में उसे बढ़ाकर विश्व में फैला दो। इससे भेद-दृष्टि मिट जाती है और आत्म-दृष्टि प्राप्त हो जाता है। आत्म-दृष्टि के खुलने पर प्राणिमात्र ईश्वर का रूप दिखाई देता है, सारे संसार मे उसी का वास नजर आता है। प्रत्येक वस्तु उसके दिव्य तेज से छलकती हुई नजर आती है। यही ईश्वर-प्राप्ति है। इसका प्रमाण उनकी साखियों में मिल रहा है। वे कहते हैं :[1]

मन तेरा पंछी भया, उड़कर चला अकास।
स्वर्गलोक खाली पड़ा, साहिब संतन पास॥
गुढकी मानुस जानते, सो न कहिए अंध।
होए दुखी संसार में, आगे जम को फंद॥
पूरा सों परचय भया, दुख-सुख-मेला दूर।
जमसौं बाकी कट गई, साईं मिला हजूर॥
प्रेम-प्याला भर दिया, राच रहा गुरु-ज्ञान।
दिया नगाड़ा प्रेम का, लाल खड़े मैदान॥

आज संतमत की जो धारा प्रवाहित हो रही है, वह संत कबीर से आरम्भ होकर अबाध रूप से लगभग ५०० वर्षों से बहती आ रही है। कबीर-कालीन संतमतों के अतिरिक्त भारत में गत दो सौ वर्षों के भीतर कतिपय संतमत स्थापित होकर आज जन-कल्याण में संलग्न हैं। इनमें (१) साहिब-पंथ,

1. डॉ० चतुर्भुज सहाय : एकनिष्ठा और विश्वास, पृ० १५-१६

(२) नागी संप्रदाय, (३) संतमत-सत्संग, (४) राधास्वामी मत, (५) रामाश्रम-सत्संग, (६) रुहानी सत्संग और (७) सिक्ख-संप्रदाय प्रमुख हैं।

१. साहिब-पंथ—साहिब-पंथ के प्रवर्तक तुलसी साहेब थे। इनका दूसरा नाम साहेब जी था। इनके जन्म और मरण की तिथियों को जानकारी नहीं है। ज्ञात होता है कि ये सुदूर दक्षिण के थे। कहा जाता है कि ये बाजीराव पेशवा के बड़े भाई थे। इनके पिता जब इन्हे राजगद्दी पर बैठाना चाहते थे, तब ये निश्चित तिथि के एक दिन पूर्व किसी तुर्की घाड़े पर सवार होकर भाग गए। कहते हैं कि तुलसी साहेब ने किसी को अपना गुरु नहीं बनाया। ये सदा सत्संग में ही रहकर संतमत के रहस्यों से पूर्णतः परिचित हो गए थे और इन्होंने अपनी साधना अपने-आप कर ली थी।

संत तुलसी साहेब के जीवन की अधिकांश घटनाओं का हाल विदित नहीं है। आपने हाथरस (उत्तर प्रदेश) से एक मील पर जोगिया नामक ग्राम में अपना सत्संग जारी किया और बहुतों को सन्मार्ग पर ला दिया था। अक्सर ये गहरे विचार में डूबे रहते थे और आवेश की दशा में इनके मुख से जो धारा-प्रवाह वाणी निकलती थी, वह उत्कृष्ट भावनाओं से ओत-प्रोत रहा करती थी। उस समय इनके निकटवर्ती सेवक इनके भाषणों या प्रवचनों को शब्दों में अंकित कर लेते थे। इस प्रकार अनेक शब्दों से मिलकर इनकी शब्दावली बन गई।[1]

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'शब्दावली' से ज्ञात होता है कि साहेब जी का देहावसान ८० वर्ष की आयु में संवत् १८९९ या १९०० में ज्येष्ठ सुदी द्वितीया को हुआ।

तुलसी साहेब की रचनाओं में 'घटरामायण', 'शब्दावली' तथा 'रत्नसागर' नाम की तीन पुस्तकें उपलब्ध हैं, जो उक्त प्रेस से प्रकाशित हो चुकी हैं। शब्दावली भाग २ के अंत में 'पंचसागर' नाम का एक छोटा-सा ग्रन्थ भी छपा मिलता है। घटरामायण बड़ा ग्रन्थ है, जिसमें पिण्ड और ब्रह्माण्ड का रहस्य देने के अनन्तर वैराग्य, योग, भक्ति तथा ज्ञान का वर्णन आया है। संत मेंहीदास के अनुसार इसमें तुलसी साहेब की निर्मित अछूती-वाणी स्वल्प-मात्र है, अधिकांश क्षेपक ही है।

---

1. **घटरामायण, भाग १ (जीवन-चरित्र)** : बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

संत तुलसी साहेब अपने मत को संतमत की संज्ञा से अभिहित करते थे। इनके कथनानुसार वास्तविक रहस्य को ब्रह्मा, विराट आदि तक नहीं जानते। इस मत का कोई अन्त नहीं है, किन्तु इसी के अनुसरण द्वारा प्राप्त घट में सभी संत निरन्तर निवास करते हैं। ये कहते हैं कि सत्संग तथा सतगुरु ने मुझे संतपथ की ओर उन्मुख कर दिया। मैंने उससे परिचित हो जाने पर किसी भिन्न मत के प्रचार की आवश्यकता नहीं समझी, और न नया पंथ ही चलाया। इन्होंने कबीर, नानक, दादू, दरिया, रैदास, मीरा तथा नाभा का आदर्श संत के रूप में वर्णन किया है; किन्तु इसके साथ ही इन्होंने अपने आलोचनात्मक उपदेशों के द्वारा उनके विविध अनुयायियों को पथ-भ्रष्ट भी सिद्ध करने की चेष्टा की है। नानक-पंथ अथवा सिक्ख-धर्म के वाहगुरु, कड़ा, प्रसाद तथा ग्रन्थ जैसे शब्दों से भी भिन्न-भिन्न तात्पर्य निकालने का यत्न किया है।[1]

संत-परम्परा के इतिहास में इनके व्यक्तित्व का बहुत महत्त्व है। इनके द्वारा प्रचलित किया गया पंथ 'साहिब-पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हो चला। इनके सहस्रों अनुयायी भारत के विभिन्न नगरों में पाए जाते हैं।

संत तुलसी साहेब की समाधि हाथरस में उसी स्थान पर आज भी वर्त्तमान है, जहाँ बैठकर वे नित्य उपदेश दिया करते थे। यह साहिब-पंथियों का प्रधान तीर्थस्थान समझा जाता है। इसे तुलसी साहेब का मन्दिर (किला दरवाजा) कहते हैं। यहाँ पर प्रतिवर्ष ज्येष्ठ शुक्ल द्वितीया को भण्डारा होता है।

२. नागी संप्रदाय—नागी संप्रदाय के मूल प्रवर्त्तक संत डेढराज का जन्म संवत् १८२८ वि० में पंजाब के नारौल तहसील के अन्तर्गत थारुस ग्राम में हुआ था। इनका सक्रिय कार्यक्षेत्र अधिकतर नारौल से लेकर गुरगाँव जिले तक रहा।

कहा जाता है कि डेढराज ने तीन ग्रन्थों की रचना की; किन्तु आज इनमें से किसी का पता नहीं चलता। कहा जाता है कि इनके भजन और उपदेश इनके अनुयायियों के पास सुरक्षित हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी का विचार है कि इस पंथ के अनुयायियों के साथ सत्संग करनेवालों का कहना है कि ये लोग राम नामधारी परमात्मा को मानते हैं, जो निराकार, अद्वितीय, अतुलनीय,

1. श्री परशुराम चतुर्वेदी : **उत्तर भारत में संत-परम्परा** पृ० ७८४,

शाश्वत तथा सर्वव्यापक है। वही एकमात्र सत्य है और उसी का पसारा (प्रसार) सर्वत्र लक्षित होता है। उसके सिवा ये किसी भी देवी या देवता का अस्तित्व नहीं मानते। ये हिन्दू और मुसलमान की साधनाओं का समान रूप से आदर करते हैं। स्त्रियों को इस संप्रदाय में समान अधिकार प्राप्त है। प्रार्थना के अवसर पर सभी अनुयायी एक ही पंक्ति में एकत्र हुआ करते हैं, पद गा-गाकर झूमा करते हैं और कभी-कभी भावावेश में आकर नाचा भी करते हैं।

इनका प्रधान मठ गुरगाँव जिले के भिवाना नामक स्थान में है। खेतड़ी-अंचल के चुरना गाँव में भी एक मन्दिर है, जहाँ संत डेढराज का पूजन नेह-कलंक या कल्कि-अवतार के रूप में होता है। इस पंथ के अनुयायियों की अधिक संख्या वर्त्तमान हरियाना राज्य के गुरगाँव, नारोल आदि में पाई जाती है।

सत्य के प्रति विशेष आस्था और शुद्धाचरण इस पंथ के अनुयायियों की विशेषताएँ हैं। इनका ध्यान सामाजिक सुधारों की ओर भी गया था। समाज के अन्तर्गत सारी कुरीतियों का मूलोच्छेद तथा उसके प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के लिए समान अवसर देना परम कर्त्तव्य है। इसी प्रकार ईश्वर की आराधना के संबंध में सबका समानाधिकार, मूर्ति-पूजा की व्यर्थता तथा ग्रन्थ-विशेष के प्रति आस्था—इस संप्रदाय के अन्य नियम कहे जाते हैं।

३. **संतमत-सत्संग**—संतमत-सत्संग की सर्वप्रथम प्रेरणा प्रदान करनेवाले महापुरुष बाबा देवी साहेब समझे जाते हैं। इनका जन्म सन् १८४१ ई० में हुआ था और मृत्यु सन् १९१९ ई० में हुई। ये मुरादाबाद के सतसई मुहल्ले में रहते थे।

इनके सदुपदेशों का सारांश बतलाते हुए परमहंस मेंहीदास ने कहा है कि सभी संतों के प्रति ये श्रद्धा-भाव रखते थे। इनके मत को संतमत का नाम देते थे तथा 'सत्संग' शब्द से इनका अभिप्राय ईश्वर-भक्ति का उपदेश था। चाहे कोई किसी धर्म या संप्रदाय का हो, उसे बराबर ध्यानाभ्यास में निरत रहना चाहिए। इनका दृष्टिकोण (दृष्टि साधन) तथा इनका शब्दयोग (शब्द-साधन) कबीर साहेब द्वारा अनुमोदित साधनाओं से भिन्न नहीं कहे जा सकते। जिस प्रकार संगीत-मण्डली में सभी साजों को एक समान कस लेने पर उन सबकी ध्वनियों में एकता आ गई प्रतीत होती है, और उन्हें पृथक-पृथक निरूपित करना कठिन है; उसी प्रकार सभी शब्दों तथा ध्वनियों के मूल में हम सूक्ष्मतम

सार शब्द की कल्पना कर सकते हैं। यह सूक्ष्मतम नाद चिरकाल तक रहता है और उसमें आसक्त मनुष्य की मति भी उसी प्रकार स्थिरता प्राप्त कर ले सकती है।[1] तदनुसार बाबा देवी साहेब ऐसी दशा प्राप्त करने के लिए उक्त शब्दयोग का उपदेश देते थे। उसके पूर्व उक्त दृष्टियोग का अभ्यास कर लेने का आग्रह भी करते थे, जिसके बिना इस प्रकार का ध्यान करना अत्यन्त कठिन बन जा सकता है। बाबा साहेब की एक अन्य विशेषता सभी के लिए जीवन में सदाचार तथा स्वावलंबन की आवश्यकता भी कही जाती है।

बाबा देवी साहेब के प्रमुख शिष्यों में बाबा नन्दन साहेब, धीरजलाल गुप्त (गुरुजी साहेब), रामदास चौधरी (ध्यानानन्द), राजेन्द्रनाथ जी तथा महर्षि मेंहीदास जी के नाम लिए जाते हैं। इनमें धीरजलाल गुप्त और रामदास चौधरी पूर्णिया जिले (बिहार) के रहनेवाले थे। इनके द्वारा संतमत का प्रचार इस अंचल में हुआ। इन दोनों से ही प्रेरणा पाकर मेंहीदास जी संतमत की ओर आकृष्ट हुए और राजेन्द्रनाथ ने इनका पथ-प्रदर्शन किया। मेंहीदास जी को इन गुरुभाइयों की ओर से सदा प्रोत्साहन और सहयोग मिलता गया और आज आपने संतमत के संतों में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है तथा आपके लाखों अनुयायी संतमत में सम्मिलित हो चुके हैं।

परमहंस मेंहीदास पूर्णिया जिले के निवासी हैं। आपका जन्म सन् १८८५ ई० में हुआ था। आपकी शिक्षा इन्ट्रेन्स क्लास तक हुई थी, जिसको आपने सन १९०४ ई० में परीक्षा-काल में त्याग दिया था। शैशव-काल से ही आपकी धार्मिक प्रवृत्ति रही। रामचरित-मानस से आपको अत्यधिक प्रेम था। साधु-संतों के सत्संग में रहना पसन्द करते थे। अपने विद्यार्थी-जीवन-काल में ही आपने दरिया-पंथी योगी रामानन्दन से दीक्षा ली थी। आपकी आध्यात्मिक जिज्ञासा बलवती हो चली और आप गुरु की खोज में निकल पड़ें। दूर-दूर का भ्रमण करने के बाद अन्त में बाबा देवीदयाल की शरण में सन् १९०९ ई० में आए। इनके यहाँ से इन्हें 'सुरत-योग' की साधना का रहस्य सन् १९१२ ई० में प्राप्त हुआ। इन्होंने बाबा साहेब के आदेशानुसार अपनी साधना का अभ्यास बड़ी तत्परता के साथ किया, जिसके परिणाम-स्वरूप इनका चित्त स्थिर हो चला और इनको संतमत का पूरा बोध हो गया।

---

1. श्री मेंहीदास-वचनामृत

परमहंस मेंहीदास की रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि इनकी विचारधारा अन्य संतों जैसी है। ये परमतत्त्व का वर्णन उन्हीं शब्दों में करते हैं, जिनका प्रयोग संत कबीर के समय से होता आया है। मुख्य अन्तर केवल इतना ही प्रतीत होता है कि इनके पूर्ववर्ती संत लोग केवल अपनी अनुभूति-मात्र या अपने से पूर्व के संतों के कथनों की ओर संकेत कर देते थे, परन्तु मेंहीदास जी उपनिषद् आदि का भी हवाला दे दिया करते हैं। वास्तव में ये अपने वक्तव्य को पूर्णतः साधार प्रमाणित करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त ये अपने विचार को अधिक-से-अधिक स्पष्ट कर देने का यत्न करते हैं। इसी तरह प्रभुसत्ता का परिचय देते समय एक स्थल पर बताते हैं : "अपरा (जड़) और परा (चेतन) दोनों प्रवृत्तियों के परे अगुण एवं सगुण, परन्तु अनादि-अनन्त-स्वरूपी, अपरंपार, शक्तियुक्त, देश-कालातीत, शब्दातीत, नाम-रूपातीत; अद्वितीय; मन, बुद्धि और इन्द्रियों से ऊपर, जिस परम सत्ता पर यह सारा प्रकृति-मण्डल एक महान यंत्र की नाईं परिचालित होता रहता है, जो न व्यक्ति है न व्यक्त, संतमत में उसी को परम अध्यात्मपद या परम अध्यात्म-स्वरूपी परम प्रभु सर्वेश्वर मानते हैं।" इन्होंने इसी प्रकार उस अव्यक्त से व्यक्त हुए सर्व-व्यापक आदिशब्द के विषय में भी कहा है—"इस शब्द के द्वारा परमप्रभु सर्वेश्वर का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान होता है; इसलिए इस शब्द को परमप्रभु का नाम रामनाम कहते हैं। यह सबके साररूप से है, तथा यह अपरिवर्तनशील है। इसलिए इसको सारशब्द, सत्य शब्द और सत्यनाम हिन्दी-संतवाणियों में और उपनिषद् में ओम् कहा है। इसलिए यह आदिशब्द संसार में ओम् कहकर विख्यात है।" जीवात्मा को इन्होंने उसी प्रकार अंश कहा है और बताया है कि वह उसी प्रकार उससे पृथक जान पड़ती है, जिस प्रकार घटाकाश को महाकाश या नभ से अलग समझ लिया जाता है। दोनों के बीच तम, प्रकाश तथा शब्द के मानों तीन प्रकार के पद के आवरण पड़े हुए हैं, जिन्हें दृष्टि तथा ध्वनि के योग की साधना द्वारा दूर कर देना चाहिए।[1]

बाबा देवी साहेब द्वारा प्रचारित संतमत को स्वीकार कर लेने पर परमहंस मेंहीदास ने अपने जीवन को तदनुसार ढाल लिया। उसकी महत्ता में पूर्ण विश्वास हो जाने के कारण इन्होंने उसका प्रचार-कार्य भी आरम्भ किया।

1. उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृ० १५

ये भ्रमण के साथ-साथ आवश्यक साहित्य के निर्माण द्वारा भी उसे सदा आगे बढ़ाने में यत्नशील रहे हैं। इन्होंने उसके लिए प्राचीन ग्रन्थ वेद, उपनिषद्, गीता आदि से लेकर मध्यकालीन संतों की उपलब्ध वाणियों का भी मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया और (१) रामचरितमानस-सार (सटीक), (२) विनयपत्रिका-सार (सटीक), (३) भावार्थ-संहिता (घट-रामायण), (४) वेद दर्शन-योग, (५) गीतायोग-प्रकाश, (६) सत्संग-योग, (७) संतमत का सिद्धान्त, (८) गुरु-कीर्तन, (९) पदावली, (१०) वचनामृत आदि ग्रन्थों का प्रणयन-संकलन किया, जो सर्वथा पठनीय हैं।

आप ८४ वर्ष की आयु में भी तत्परता के साथ संतमत-सत्संग के प्रचार में संलग्न रहे हैं। समय-समय पर स्थान-स्थान पर सत्संग-समारोह होता है, जिसमें हजारों भक्त तथा साधक योग देते हैं। आरम्भ में आप गंगा-तटवर्ती मनियारी घाट पर अधिकतर निवास करते थे, किन्तु कुछ वर्ष हुए, भागलपुर नगर के कुप्पाघाट पर बड़ा ही सुन्दर और भव्य आश्रम तथा सत्संग-भवन बन गया है। कुछ वर्ष पूर्व इस स्थान पर दो महान संत—परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी तथा परमहंस मेंहीदास जी का अद्भुत मिलन, सत्संग और उपदेश देखने-सुनने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

संतमत-सत्संग का विशेष प्रचार बिहार-राज्य के पूर्णिया, भागलपुर, सहरसा आदि जिलों में तथा उसके पश्चिमी अंचलवाले क्षेत्र में ही दीख पड़ता है। किन्तु इसका प्रभाव अन्यत्र भी बढ़ता जा रहा है।

संतमत-सत्संग की कार्य-प्रणाली अधिकतर मंडनात्मक तथा तर्क-प्रधान ही प्रतीत होती है। इनकी अन्य विशेषताओं में सर्वसाधारण का ध्यान सदाचार तथा स्वावलम्बन की ओर समुचित ढंग से आकृष्ट करना है। इस बात के लिए उन्हें तैयार भी करते रहना है कि वे वास्तविक जीवनादर्श के पालन में कभी ढिलाई न आने दें। सत्संग की अपनी साधना-संबंधी विशेषता दृष्टियोग की उस प्रक्रिया में दीख पड़ती है, जिसे ध्यानयोग का एक प्रारम्भिक प्रयास कहा जा सकता है। इस सत्संग ने संतों द्वारा प्रचारित 'सुरति-शब्दयोग' को परम आवश्यक माना है और इसकी ओर सभी साधकों का ध्यान आकृष्ट किया है। इस मत के अनुसार बिना किसी प्रकार के ध्यानयोग का अभ्यास किए हम कभी कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। इस वर्ग के अनुयायियों को प्रायः प्रत्येक बात की वैसी गोपनीयता बरतते भी हम नहीं पाते, जिससे सांप्रदायिक

संकीर्णता को प्रश्रय मिले। संतमत-सत्संग को हम वस्तुतः संत-परम्परा की एक नवीनतम कड़ी के रूप में देख सकते हैं तथा इसके भविष्य के संबंध में कुछ आशा कर सकते हैं।[1]

४. राधास्वामी-मत—इस मत के आदि आचार्य का नाम श्री शिवदयाल सिंह साहेब था। आपके अनुयायी आपको परमगुरु स्वामी महाराज कहकर पुकारते हैं। आपका जन्म आगरा शहर के पन्नी गली मुहल्ले में भाद्र-कृष्णाष्टमी, संवत् १८७५ वि०, को रात्रिकाल साढ़े बारह बजे एक खत्री-कुल में हुआ था। आपके जन्म-धारण करने के अवसर पर आपके घर 'साहिब-पंथ' के प्रवर्तक हाथरस के सुप्रसिद्ध महात्मा संत तुलसी साहेब भी आ उपस्थित हो गए थे तथा उन्होंने इस नवजात शिशु को चरम आध्यात्मिक शक्ति-संपन्नता तथा उच्च गति का संकेत भी किया था। उन्होंने स्वामी महाराज की माता से कहा था : "महारानी जी ! तुम इनको पुत्र-भाव करके मत समझना, यह कोई परम संत आकर तुम्हारे यहाँ जन्मा है।" आपके पिता का नाम श्री दिलवाली सिंह था। वे नानक-पंथी थे। छह-सात वर्ष की अवस्था में ही आप मुख्य-मुख्य लोगों को परमार्थ की शिक्षा देने लगे थे। आध्यात्मिक क्षेत्र में आपका कोई गुरु नहीं था और न आपने किसी से दीक्षा ही ली थी, अपितु स्वयं ही अपने माता-पिता तथा अन्य आगन्तुक साधु एवं जिज्ञासुओं को आप पारमार्थिक उपदेश दिया करते थे। लगभग पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक आप अपने मकान के एक प्रकोष्ठ में बैठकर 'सुरत-शब्दयोग' का अभ्यास करते रहे और इस बीच कभी कभी दो-दो, तीन-तीन दिनों तक उससे बाहर भी नहीं निकलते थे और न इस अवकाश में आपको मल-मूत्र-त्याग की आवश्यकता ही पड़ती थी। आपने अपने जीवन-निर्वाह के लिए अध्यापन का कार्य किया था। आप गृहस्थाश्रम में ही रहे। स्वामी जी महाराज के कोई सन्तान न थी। राधास्वामी मतावलंबी आपको राधास्वामी (परमात्मा) का अवतार मानते हैं। संवत् १९१७ की वसंत-पंचमी से आपने प्रकट रूप से सत्संग-कार्य आरंभ किया और अपने घर पर ही जिज्ञासुओं से धर्म-चर्चा करने तथा उन्हें उपदेश देने लगे। आपका सत्संग निरन्तर सत्रह वर्षों तक दिन और रात चलता रहा; और इस काल में भिन्न-भिन्न जाति के लगभग तीन हजार व्यक्तियों ने आपकी शरण स्वीकार

1. **उत्तरी भारत की संत-परम्परा**, पृ० ८१७-१८

की। आपकी महिमा और अलौकिकता की बात क्रमशः दूर-दूर तक फैल चली और आपकी आध्यात्मिक शक्ति की परख लोगों को मिलने लगी। सत्संग का कार्य बढ़ने लगा, अतः आपने अध्यापन-कार्य का परित्याग कर दिया। जब आपके भाई को नौकरी लग गई, तब आपने सूद पर रुपए देने का पारिवारिक व्यवसाय भी केवल छोड़ ही नहीं दिया, बल्कि कर्जदारों के दस्तावेज भी फाड़कर (नष्ट कर) बहुत बड़े त्याग का परिचय दिया।

स्वामी जी महाराज अन्य पूर्व संतों की भाँति सत्यनाम का ही उपदेश दिया करते थे। राधास्वामी नाम को आपने अपने पूरे गुरुमुख (उत्तराधिकारी) परम गुरु हुजूर साहेब (राय शालिग्राम साहेब बहादुर) द्वारा प्रकट कराया और तबसे 'राधास्वामी' नाम का ही उपदेश दिया जाने लगा।

राधास्वामी नाम से बहुतों को भ्रम हो जाता है कि इस मत का कृष्ण-वल्लभा गोपी राधा से संबंध है। किन्तु वास्तव में परम संत कबीर साहेब, जो संतमत के आदिगुरु माने जाते हैं, की निम्नांकित गुरुवाणी ही इस नाम का आधार है :

कबीर धारा अगम की, सतगुरु दई लखाय।
ताहि उलटि सुमिरन करि, स्वामी संग लगाय ।।

आपने 'सार-वचन-नजम' (पद्य) तथा 'सार-वचन-नसर' (गद्य) नाम की दो पुस्तकें लिखीं, जो राधास्वामी-मत की मुख्य एवं प्रामाणिक पुस्तकें मानी जाती हैं। आपका समाधि-मन्दिर स्वामी-बाग, आगरा में है, जो अबतक बन ही रहा है। इसमें अबतक अपार धन लग चुका है। सारा मन्दिर संगमरमर के पत्थर से निर्मित हो रहा है। इसकी वास्तुकला अद्भुत है। आशा की जाती है कि संपूर्ण संसार में यह एक अद्वितीय स्मारक तथा आपके प्रति आपके अनुयायियों का एक अपूर्व प्रेम-प्रतीक होगा। इसमें प्रत्येक देश और जाति की वास्तुकला की शैलियों के नमूने पाए जाएँगे।

स्वामी-बाग में ही आपका वार्षिक भंडारा आपके निधन के दिन आयोजित किया जाता है। इस अवसर पर दूर-दूर से सत्संगी लोग एकत्र होते हैं।

'सार-वचन' की भूमिका के अनुसार राधास्वामी-मत में तीन चीजें आवश्यक हैं—(१) गुरु, (२) नाम तथा (३) सत्संग। ये ही तीन चीजें वसीलए (सहायक) निजात (उद्धार) की हैं। अव्वल गुरु पूरा और सच्चा होना चाहिए,

यानी संत सद्‌गुरु। वंशावली के गुरुओं से काम नहीं चल सकता। नाम भी सबसे ऊँचा और सच्चा, पूरा और असली होना चाहिए। तीसरा, सत्संग भी सच्चा चाहिए। उसकी दो किस्में हैं: एक सत्संग है अन्तरीय और दूसरा बाहरी। अन्तरीय सत्संग यह है कि जब अभ्यासी अपनी सुरत यानी जीवात्मा वा रूह को अन्दर में चढ़ाकर सत्पुरुष राधास्वामी (भगवान) के चरणों में लगावे, उस तरफ मुतवज्जह हो। और, दूसरा यह कि जब उसको दर्शन और सत्संग सत्पुरुष का, जो कि सच्चे व पूरे संत या साधु हैं, नसीब होवे और उनके वचन सुने और दर्शन करे और जो सेवा बन सके, करे। इन दोनों किस्मों के सत्संग से कई दिनों में हालत बदलती हुई साफ मालूम होगी।[1]

राधास्वामी मत उन्नति का साधन है। वह बतलाता है कि 'किसी एक स्थान पर न ठहरो, वर्ना काम न बनेगा। चलो, चलो, बढ़ते चलो और बिना ध्रुव तक पहुँचे चैन न लो और तुम्हारी पहुँच इष्ट पद तक हो जाएगी।

सहस कँवलदल डेरा डालो, जोत में जोत मिलाओ।
जोत निरंजन जोती झलके, घंटा, शंख बजाओ।
जोत शब्द की निरख-परख में, गुरु का ध्यान लगाओ।
मेघा बरसे बिजली चमके, अमृतधार बहाओ॥

राधास्वामी-संतमत का मार्ग भक्ति-मार्ग है, यानी सच्चे और पूरे मालिक के चरणों में प्रेम, प्रीति और प्रतीति करना। इसको उपासना भी कहते हैं। इस मार्ग में या तो संत सतगुरु और साधुगुरु की महिमा है या उनके असली शब्द-स्वरूप की महिमा है। संत सतगुरु उनको कहते हैं, जो सत्पुरुष और राधास्वाम मुकाम पर पहुँचे हैं। साधु गुरु उनको कहते हैं, जो ब्रह्म या परब्रह्म के स्थान पर पहुँचे हैं और जो यहाँ तक नहीं पहुचे, उनको साधु या सत्संगी कहा जाता है। इन दोनों, यानी संत और साधु का असली स्वरूप 'शब्द-स्वरूप' है। जाहिरी स्वरूप तो इन्सानी खटका (मानव-देह) है, जो कि लोगों को समझाने और बुझाने तथा उपकार अथवा उद्धार के लिए शरीर धरकर संसार में प्रकट होते हैं। जब यह मालूम हुआ कि वह पूरे संत या पूरे साधु हैं, तब फिर उनमें और सत्पुरुष परब्रह्म में भेद नहीं माना जाता है। इस वास्ते जब-जब पूरे संत या पूरे साधु प्रकट होते हैं, तब उनके चरण-सेवक उनकी महिमा सत्पुरुष या परब्रह्म

1. **राधास्वामी-योग, भाग-१, पृ० ३४—३६**

के बराबर करते हैं, और बाहर से उनकी पूजा, सेवा, आरती वगैरह उसी तौर से बजा लाते हैं जिस तौर से मालिक (भगवान) की करनी चाहिए। इसी जाहिरी स्वरूप की सेवा, दर्शन, वचन-श्रवण व उनके चरण में प्रेम-प्रीति करने से और जो उपाय वे बतलाएँ, उनका अभ्यास करने से 'सुरत' यानी जीवात्मा मन और माया के जाल से अलग होकर आकाश में और उससे भी ऊँचा चढ़ती है। अन्त में जब स्वरूप यानी शब्द में पहुँचती है तब सच्चा और पूरा उद्धार जीव का होता है।

इससे प्रकट है कि राधास्वामी-मत वास्तव में प्रेम-मार्ग और भक्ति-पथ है। उसमें गुरु से प्रेम किया जाता है, मगर यह जरूरी शर्त है कि गुरु या तो संत हो या साधु, तब काम बनेगा। अधिक स्पष्ट शब्दों में यह एकमात्र गुरु-पूजा (मुरशिद-परस्ती) का मार्ग है।[1]

राधास्वामी-मत के प्रथम आचार्य के निधन के पश्चात् आपके प्रमुख शिष्य राय शालिग्राम साहेब बहादुर ने सत्संग का कार्य-भार ग्रहण किया। आपको इस मत के अनुयायी परमगुरु 'हुजूर साहेब' कहकर संबोधित करते हैं। आपका जन्म आगरा में एक माथुर कायस्थ-परिवार में फाल्गुन शुक्ल अष्टमी, सं० १८८५ वि० में हुआ था। शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद आपने भारत-सरकार के डाक-विभाग में काम करना शुरू किया और इस विभाग के पोस्टमास्टर-जेनरल के पद पर पहुँचकर अवकाश ग्रहण किया। उस समय तक इस पद पर पहुँचनेवाले आप सर्वप्रथम भारतीय थे।

आपकी भक्ति बहुत ही उच्च एवं आदर्श कोटि की थी। आप जीवन-भर अधिक-से-अधिक समय अपने प्रीतम हुजूर राधास्वामी दयाल की भक्ति में ही व्यतीत करते थे। आपने कुल ग्यारह पुस्तकें लिखी हैं। इनमें 'राधास्वामी-प्रकाश' अंग्रेजी में और शेष हिन्दी में हैं। हुजूर साहेब लगभग २० वर्षों तक सत्संग का भार ग्रहण कर ६ दिसम्बर, १८९८ ई० को ७० वर्ष की आयु में परलोकवासी हुए। आपमें एक विचित्र आकर्षण था। आपमें दया और शील की मात्रा बहुत थी और बहुत ही उदारचेता थे। आपके 'प्रेम-विलास' नामक मकान में ही आपकी समाधि बनी। यहाँ पर २७ दिसम्बर को आपका वार्षिक भंडारा होता है। आपके नाम से आगरा में एक बाग है, जिसे 'हुजूरीबाग' कहते हैं।

---

1. राधास्वामी-योग, भाग-१, पृ० ६२-६३

इस मत की एक विशेषता है कि इस मत के आचार्य के पुत्र, स्त्री अथवा प्रथम शिष्य के नाते कोई गद्दी का अधिकारी नहीं माना जाता। जब कोई आचार्य अपना शरीर-त्याग करता है, उस समय अथवा उसके पूर्व ही वह अपने उत्तराधिकारी के संबंध में संकेत कर जाता है। हुजूर साहेब ने पं० ब्रह्मशंकर मिश्र जी को, जिन्हें इस मत के अनुयायी परमगुरु 'महाराज साहेब' कहकर संबोधित करते हैं, अपना उत्तराधिकारी होने का उल्लेख अनेक बार आम-सत्संग में ही स्पष्ट रूप से कर दिया था।

राधास्वामी-संतमत की आज कुछ शाखाएँ हो गई हैं, जो मूल शाखा से स्वतंत्र हैं। दूसरे गुरु 'हुजूर साहेब' के जीवन-काल में ही श्री जयमंगल सिंह ने डेराव्यास में स्वतंत्र गद्दी की स्थापना की। आज इस गद्दी का कार्य 'रुहानी सत्संग' के नाम से संत कृपाल सिंह द्वारा संचालित होकर जगत-प्रसिद्ध हो गया है। दूसरे गुरु के दो प्रधान शिष्य पं० ब्रह्मशंकर मिश्र तथा महर्षि शिवब्रत लाल थे। ब्रह्मशंकर मिश्र 'महाराज साहेब' के नाम से तीसरे गुरु हुए और महर्षि शिवब्रत लाल ने गोपीगंज में अलग गद्दी की स्थापना की। महर्षि शिवब्रत लाल बहुत बड़े विद्वान थे। राधास्वामी-सत्संग में कदाचित ही किसी व्यक्ति ने इनके समान ग्रन्थ का निर्माण किया है या इनके समान प्रचार-कार्य में लगे। अवधूत-गीता तथा श्रीमद्‌भगवदगीता आदि ग्रन्थों का संतमत के आधार पर आपने अनुवाद भी किया है।

तीसरे गुरु पं० ब्रह्मशंकर मिश्र ने अंग्रेजी में एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद नवम्बर, १८८५ ई० में हुजूर साहेब की शरण स्वीकार की तथा सन् १९०१ से १९०७ ई० तक आपने सत्संग का भार-वहन किया। बनारस के कबीरचौरा मुहल्ले में आपका समाधि-मन्दिर है, जो स्वामी-बाग के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ प्रतिवर्ष आश्विन शुक्ल पंचमी तथा नवमी को आपका वार्षिक भंडारा हुआ करता है। आपने अंग्रेजी में 'डिस्कोर्सेज ऑन राधास्वामी फेथ' नाम की एक पुस्तक लिखी है।

तीसरे गुरु महाराज साहेब के चार प्रमुख शिष्य—(१) माहेश्वरी देवी उर्फ बुआ साहिबा, (२) मुंशी कामता प्रसाद (सरकार साहेब), (३) श्री आनंद स्वरूपजी (साहेब जी) और (४) श्री अनुकूलचन्द्र चक्रवर्ती थे। बुआजी महाराज साहेब की बहन थीं। आपकी आध्यात्मिक साधना उच्च कोटि की

थी। महाराज साहेब ने राधास्वामी-सत्संग को सुचारु रूप से चलाने के सदुद्देश्य से सन् १९०२ ई० में केन्द्रीय शासन-समिति की स्थापना की। इसके अन्तर्गत छोटी-सी कार्यकारिणी समिति भी बनी। संबंधित नियम और उप-नियम बने। सन् १९०४ ई० में सात सदस्यों का ट्रस्ट बना और उसकी रजिस्ट्री भी हुई। लगभग नौ वर्ष तक संत सद्गुरु का कार्य-संचालन करने के बाद जब महाराज साहेब का निधन अक्टूबर, १९०९ ई० में हुआ, तब उनके उत्तराधिकारी संत सद्गुरु का प्रश्न उपस्थित हुआ। केन्द्रीय शासन-समिति और ट्रस्ट के अधिकांश सदस्यों ने श्रीमती माहेश्वरी देवी उर्फ बुआ साहिबा को संत सद्गुरु माना, यद्यपि कुछ काल पूव प्रसंगवश एक सत्संगी ने महाराज साहेब से पूछा था कि "स्वामी जी महाराज के निधन पर उनकी धर्मपत्नी, जो अध्यात्म-पथ पर बहुत आगे थीं, संत सद्गुरु क्यों नहीं मानी गईं ?" महाराज साहेब ने उत्तर में कहा था कि परम पूज्य स्वामी जी महाराज के पूर्व किसी संत का उत्तराधिकारी संत सद्गुरु कोई महिला न हो सकी थी। महिला में 'निजधारा' (शक्ति) का प्रवेश नहीं होता। अतः राधास्वामी-मत की ११६ शाखाओं में से १११ शाखाओं ने मुरार (भोजपुर जिला, बिहार)-निवासी श्री कामता प्रसाद सिन्हा को ही संत सद्गुरु माना। भिन्न-भिन्न स्थानों के रहनेवाले अनेक सत्संगियों को स्वप्न हुआ कि संत सद्गुरु महाराज की 'निजधारा' कामता बाबू में प्रवेश कर गई। बहुतों ने 'महाराज साहेब' के स्वरूप को 'सरकार साहेब' (कामता बाबू) के स्वरूप में परिवर्तित होते भी देखा। इस प्रकार 'सरकार साहेब' के उपनाम से श्री कामता प्रसाद सिन्हा चौथे संत परम गुरु हुए।

'हुजूर महाराज' ने अपने जीवन-काल में ही अपने प्रमुख शिष्य पं० ब्रह्मशंकर मिश्र को दीक्षा देने का अधिकार दे दिया था। अतः १८९१ ई० में आपने श्री कामता प्रसाद सिन्हा को दीक्षा दी और ध्यान की प्रक्रिया समझा दी। कुछ काल बाद महाराज साहेब ने कामता बाबू को हुजूर साहेब के सम्मुख उपस्थित करते हुए निवेदन किया कि वे एक अप्राप्य उपहार प्रस्तुत कर रहे हैं। तत्पश्चात् जब कामता बाबू आगरा में हुजूर साहेब के सान्निध्य में गए तब उन्होंने 'प्रार्थना' नामक ५२ पद-संग्रह भेंट कर मधुर वाणी में पढ़ा, जिसकी पहली पंक्ति थी :

'हे संतन सिरताज कृपाला, हे गुरु दीनदयाला।'

जब आप 'सरकार साहेब' के उपनाम से चौथे गुरु हुए तब आपने इन पदों को आवश्यक सुधार के बाद 'प्रेम समाचार' में छपने की अनुमति दी। सरकार

साहेब का लिखा हुआ एकमात्र ग्रन्थ 'प्रेम-समाचार' ही है। इसमें राधास्वामी-मत का सार-संग्रह है।

एक समय कबीर साहेब की प्रसिद्ध वाणी 'दुःख में सुमिरन सब करे, सुख में करे न कोय। सुख में सुमिरन जो करे, दुःख काहे को होय ॥' का उल्लेख करते हुए सरकार साहेब ने उपदेश दिया कि राधास्वामी-मत के साधकों को संयमित जीवन व्यतीत करते हुए सब समय पवित्र नाम का उच्चारण करते रहना चाहिए। जो सभी समय पवित्र नाम का उच्चारण करता है, उसे राधा-स्वामी दयाल कभी नहीं छोड़ते।

महाराज साहेब के जीवन-काल में राधास्वामी-मत का केन्द्र-स्थान प्रयाग में था। बाद में वाराणसी में रहा। पर उनके निधन के बाद चौथे गुरु सरकार साहेब के समय सत्संग-केन्द्र गाजीपुर रहा; क्योंकि वहीं सरकार साहेब वकील थे। तत्पश्चात् सरकार साहेब की जन्मभूमि मुरार में उनकी मृत्यु तक सत्संग सक्रिय रूप से चलता रहा।

पाँचवें सद्गुरु सर आनन्द स्वरूप हुए, जो वाराणसी में सरकारी कर्मचारी थे। अतः सुविधापूर्वक रविवार तथा छुट्टियों के दिन सरकार साहेब की सेवा में उपस्थित हो जाया करते थे। सन् १९१२ ई० में आपको बदली आगरा हुई। अतः आगरा से मुरार आना सुविधाजनक नहीं था। इससे आप बहुत दुःखी हुए। जब अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ आप सरकार साहेब के समक्ष उपस्थित हुए, तब सरकार साहेब ने हँसते हुए कहा कि "रोने की क्या बात है? तुम आगे चलो, मैं पीछे-पीछे आ रहा हूँ।" इस कथन के स्पष्टीकरण के लिए निवेदन करने पर सरकार साहेब ने कहा कि राधास्वामी-सत्संग-केन्द्र आगरा निश्चित किया गया है। जहाँ आज राधास्वामी शिक्षा-भवन स्थित है, वह भूमि खरीदी गई। तत्पश्चात् जब २७ दिसम्बर, १९१४ ई० को 'हुजूर साहेब' का भंडारा आगरा में हुआ, उसी अवसर पर राधास्वामी-सभा ने २९ दिसम्बर, १९१४ ई० की अपनी बैठक में केन्द्र-स्थान आगरा निश्चित करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। स्थान का नाम 'दयालबाग' रखा गया। इस निर्णय के अनुसार २० जनवरी, १९१५ ई० को मलबरी (शहतूत) के एक वृक्ष-रोपण-कार्य के साथ 'दयालबाग' की नींव डाली गई।

स्वामीजी महाराज की समाधि स्वामीबाग, आगरा में हुजूर महाराज के जीवन-काल से ही निर्मित हो रही है। दूसरे गुरु हुजूर महाराज की समाधि

आगरा में उनके प्रेम-विलास मकान के अहाते में ही स्थित है। वहाँ नियमित रूप से भंडारा होता है। तीसरे गुरु की समाधि वाराणसी में है, जहाँ प्रतिवर्ष भंडारा होता है। ये तीनों समाधियाँ स्वामीबागवालों के अधिकार में हैं। दयालबागवाले सत्संगियों को उन समाधियों पर उपस्थित होने और ध्यान-पूजा आदि करने में अड़चन डालने लगे। सरकार साहेब तथा उनके बाद के पाँचवें गुरु साहेब जी ने स्वामीबाग के लोगों से समझौता करने का प्रयत्न किया, किन्तु अपने प्रयास में वे न केवल विफल रहे, बल्कि स्वामीबाग वाले दयालबाग के पूज्य गुरुओं के प्रति अपमानजनक शब्दों का भी व्यवहार करने लगे, जिससे क्षुब्ध होकर सरकार साहेब के अनुयायियों ने मार्च, १९१० ई० में 'राधास्वामी सत्संग-सभा' की स्थापना की और स्वामीबागवालों से पूर्णतया संबंध-विच्छेद कर लिया। अन्त में विवश होकर 'राधास्वामी-सत्संग' ने १९४३ ई० में आगरा के सब-जज की अदालत में मुकदमा दायर कर दिया। यह मुकदमा १।१९४३ के रूप में ५ जुलाई, १९६१ को फैसला प्राप्त कर सका। निर्णय दयालबागवालों के पक्ष में हुआ। स्वामीबागवालों ने अपील कर दी, जो अभी विचाराधीन है।

बुआ साहिबा के निधन के पश्चात् स्वामीबागवालों ने रायबहादुर माधो प्रसाद सिन्हा को गुरु माना। सन् १९४९ ई० में जब उनकी मृत्यु हो गई, तबसे इस शाखा का कोई गुरु नहीं हुआ। इस शाखा के अन्तर्गत समस्त चल तथा अचल संपत्ति ट्रस्ट तथा स्वामीबाग-समिति के अधिकार में है।

सरकार साहेब ने चौथे सद्‌गुरु के रूप में राधास्वामी-सत्संग का संचालन लगभग सात वर्ष तक सफलतापूर्वक किया और २३ मार्च, १९१३ को निज धाम सिधारे। आपके कार्य-काल में राधास्वामी सत्संग की शाखा सुदूर तमिलनाडु (मद्रास) राज्य में भी स्थापित हो चुकी थी।

सरकार साहेब का विवाह छपरा (बिहार) के प्रसिद्ध वकील श्री रघुवंश सहाय की कन्या के साथ हुआ था। सरकार साहेब के दो पुत्र हैं। ज्येष्ठ पुत्र गुरुदेव प्रसाद सिन्हा टेकनिकल कॉलेज, दयालबाग (आगरा) के प्रिंसिपल थे। अब उन्होंने उस पद से अवकाश ग्रहण कर लिया है। दूसरे पुत्र श्री गुरुदयाल प्रसाद सिन्हा बिहार-सरकार के को-ऑपरेटिव विभाग में कर्मचारी थे। अब ये भी सेवा-निवृत्त हो चुके हैं।

हुजूर साहेब (सर आनन्द स्वरूप) का जन्म ६ अगस्त, १८८१ ई० को अंबाला (पंजाब) जिले के कल्माजरी ग्राम में हुआ था। बाल्यकाल से ही साहेब जी शांत प्रकृति के और चिन्तनशील थे। युवावस्था प्राप्त करने पर आपने अनुभव किया कि केवल पुस्तकों के अध्ययन से ही ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। अत: आप गुरु की खोज में निकल पड़े। इस संबंध में संसार के प्रसिद्ध तत्त्व-चिन्तक मिस्टर पॉल ब्रण्टन के साथ हुआ उनका वार्तालाप उल्लेखनीय है। सन् १९३१ ई० में जब श्री पॉल आपसे मिलने दयालबाग आए तब आपसे निम्नांकित बातें हुई :—

साहेब जी—धार्मिक क्षेत्र में आत्म-निर्भरता का कोई स्थान नहीं है। गुरु की नितान्त आवश्यकता होती है।

पॉल ब्रण्टन—क्या आपने गुरु की आवश्यकता अनुभव की ?

साहेब जी—निस्संदेह। चौदह वर्ष तक गुरु की खोज करने पर मुझे सद्गुरु मिले।

पॉल ब्रण्टन—जीवन के चौथे भाग, यानी चौदह वर्ष तक गुरु की तलाश करना क्या महत्त्वपूर्ण था ?

साहेब जी—गुरु की तलाश में जो समय लगता है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। पहले मैं नास्तिक था। बाद में ऐसे गुरु की खोज के लिए व्यग्र हो उठा, जो आत्मानुभूति करा सके। बालक के समान मैं रोता था और प्रकाश के लिए प्रार्थना करता था। अन्त में निराश होकर मैंने निश्चय किया कि यदि मुझे ज्ञान नहीं प्राप्त हो सका, तो मैं उपवास कर प्राणान्त कर दूँगा। दूसरी ही रात्रि में मुझे स्वप्न हुआ। स्वप्न में गुरु ने मेरे सम्मुख आकर अपना परिचय दिया। मैंने उनका पता पूछा तो उन्होंने इतना ही कहा—'इलाहाबाद'। यह भी कहा कि मुझे पूरा पता बाद में मिलेगा।

साहेब जी के बड़े भाई, द्वारिका बाबू, राधास्वामी-मत में पहले ही दीक्षित हो चुके थे, पर इसकी जानकारी किसी को न थी। जब साहेब जी ने उनसे अपने स्वप्न की बात कही, तब उन्होंने एक फोटो लाकर साहेब जी को दिया और पूछा कि क्या वह उस फोटो में किसी को पहचानते हैं। तत्काल ही उन्होंने हुजूर महाराज साहेब को पहचान लिया। उन्हीं को उन्होंने स्वप्न में देखा था। द्वारिका बाबू ने सूचित किया कि राधास्वामी-मत के सद्गुरु का वह

चित्र था और वे प्रयाग में रहते थे। तत्पश्चात् आपने दीक्षा के लिएआवेदन-पत्र दिया और महाराज साहेब की आज्ञा मिलने पर लाहौर के साधु श्री लाल चन्द्र सूरि ने दीक्षा दी। दीक्षा के पूर्व और बाद की अपनी अवस्था का साहेब जी ने निम्न पदों में वर्णन किया है—

(क) सतगुरु मेरे पियारे, खुद घर से चलके आए।

(ख) मिले मोहिं राधास्वामी प्यारे, सराहूँ भाग क्या अपना।

दीक्षा के बाद जिन दिनों साहेब जी प्रयाग में रहते थे, वे नियमित रूप से सत्संग में सम्मिलित होते थे और महाराज साहेब की सेवा में भी उपस्थित रहते थे। उनको आध्यात्मिक अनुभूति होने लगी। सन् १९०७ ई० के आरम्भ में छुट्टी लेकर महाराज साहेब वाराणसी में रहने लगे। साहेब जी भी वहाँ यदा-कदा जाया करते थे। एक दिन महाराज साहेब साहेब जी को अपने निजी कमरे में ले गए और विशेष प्रसाद दिया। इस घटना का जिक्र साहेब जी ने निम्न पद में किया है—

फिर ऐसी मौजधारी, गहरी दया विचारी।
योंही बहाना करके, खुद घर पर अपने लाए॥

महाराज साहेब के १२ अक्टूबर, १९०७ ई० को निज धाम पधारने के बहुत थोड़े काल बाद आत्मानुभूति द्वारा उन्हें गाजीपुर-सत्संग में जाने की आज्ञा हुई।

सन् १९१३ ई० में जब सरकार साहेब मसूरी से लौटे तब मार्ग में वाराणसी में ठहरे और महाराज साहेब की समाधि पर सत्संग हुआ। इस अवसर पर साहेब जी भी उपस्थित थे। सत्संग के बाद प्रसाद-वितरण हुआ। प्रसाद बुंदी के लड्डू का था। जब साहेब जी प्रसाद लेने पहुँचे तब सरकार साहेब ने कहा —"देखो, शीराजे को बिखरने न देना।" इसका अर्थ था सत्संग का संगठन बिखरने न पावे। साहेब जी महाराज ने सरकार साहेब की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। २४ वर्ष के कार्य-काल में आपने दयालबाग-सत्संग को सर्वतोमुखी उन्नति प्रदान की। सत्संग का देशव्यापी प्रचार हुआ। अनेक ग्रंथों का संकलन हुआ। दयालबाग एक अखिल भारतीय प्रसिद्धि का शैक्षणिक एवं औद्योगिक केन्द्र हो गया। सन् १९३२ ई० में जब अजमेर के प्रसिद्ध नेता दीवान हरिविलास शारदा दयालबाग देखने आए तब साहेब जी ने निम्नलिखित शब्दों में दयालबाग की स्थापना का उद्देश्य बतलाया :

"हमलोगों का विश्वास है कि किसी देश की उन्नति और अवनति अति महान आत्मा के रहने या चले जाने पर निर्भर करती है। महान आत्मा उसी देश और समाज में अवतीर्ण होते हैं, जहाँ उन्हें कार्य करने की काफी सुविधा होती है। इसी कारण हमलोग दयालबाग में पवित्र धार्मिक वातावरण—जो भारत की संस्कृति के अनुकूल हो—के साथ-साथ जिस प्रकार पश्चिमी देशों में स्वतंत्रता और साधन उपलब्ध हैं, उसी प्रकार यहाँ उपलब्ध करना चाहते हैं।"

सन् १९३७ ई० में दक्षिण-भारत के सत्संगियों ने साहेब जी से दक्षिण जाने की जोरदार प्रार्थना की और वे उसी साल ३१ मई को दक्षिण-यात्रा पर निकल पड़े। २४ जून को कुटतालम में सत्संग हुआ, पर उसी दिन संध्या में ८-३० बजे आप इस लोक से कूच कर गए।

साहेब जी के निधन के पश्चात् उनके आदेशानुसार श्री गुरुचरण दास मेहता छठे सद्गुरु हुए और संप्रति दयालबाग-सत्संग का संचालन कर रहे हैं। आपका जन्म सन् १८८५ ई० में हुआ था। आप अवकाश-प्राप्त इंजीनियर हैं।

श्री अनुकूलचन्द्र चक्रवर्ती ने पवना (बंगाल) में एक अलग शाखा स्थापित की। भारत-विभाजन के कुछ पूर्व आपने अपना आश्रम देवघर (बिहार) में स्थापित किया। आपके लाखों अनुयायी हैं; किन्तु जानकारों का कथन है कि यह शाखा राधास्वामी-सिद्धान्त से हटती जा रही है।

दयालबाग राधास्वामी-मत और व्यास-सत्संग में समझौता :

सन् १९३२ ई० में साहेब जी महाराज के परम सद्गुरु होने के बीस वर्ष की समाप्ति पर दयालबाग के सत्संगियों ने बहुत उल्लास प्रदर्शित किया। दिसम्बर, १९३२ ई० में विशेष उत्सव हुआ, जिसमें लगभग १२,५०० व्यक्ति सम्मिलित हुए। इसी अवसर पर श्री जयमंगल सिंह द्वारा स्थापित व्यास-शाखा के संतगुरु सरदार सावन सिंह भी उपस्थित थे। अबतक व्यास-शाखा के सत्संगियों को भगवान के पाँच नामों—निरंजन, ओम्, ररम, सोहम और सत—का उच्चारण करने का उपदेश दिया जाता था। किन्तु दयालबाग के सत्संगियों को 'राधा-स्वामी' का जप करने को कहा जाता था। इस विषय पर सरदार सावन सिंह और साहेब जी महाराज के बीच विचार-विमर्श हुआ और दोनों सद्गुरुओं ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। २५ दिसम्बर की एक विशेष बैठक में दो सद्गुरुओं

के बीच हुए समझौते को व्यास-सत्संग के मंत्री ने पढ़कर सुनाया। अन्य बातों के साथ-साथ समझौते में लिखा था कि कुछ विचार-विभिन्नता के कारण व्यास और दयालबाग के सत्संगी अलग रहे, किन्तु अब विभिन्नता नहीं रही और दयालबाग तथा व्यास के सत्संगी परम पुरुष पूरणधनि स्वामी जी महाराज को दयावान् राधास्वामी का अवतार और 'राधास्वामी' शब्द को परमात्मा का सच्चा नाम मानते हैं और भविष्य में दीक्षा के समय व्यास के सत्संगियों को 'सच्चा नाम' का ज्ञान करा दिया जाएगा, जिस प्रकार दयालबाग के सत्संगियों को कराया जाता है।

अत: आज यद्यपि व्यास-सत्संग दयालबाग-सत्संग की एक शाखा है, तथापि इसने गत लगभग १७ वर्षों में 'रुहानी सत्संग' के नाम से अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है, इसलिए 'रुहानी सत्संग' का वर्णन एक स्वतंत्र संतमत के रूप में आगे किया गया है।

राधास्वामी-मत में वर्तमान गुरु का ध्यान करने का विधान है। इस मत के प्रवर्त्तक स्वामी जी महाराज ने अपने ग्रन्थ 'सार वचन' में स्पष्ट रूप से कहा है कि "वक्त गुरु को मान, तेरे भले की कहूँ; पिछलों की तज टेक, वक्त गुरु को मान, तेरे भले की कहूँ।" अतएव समस्त साधक वर्तमान गुरु का ही ध्यान करते हैं; किन्तु सब गुरुओं को आदर की दृष्टि से देखते हैं।

"राधास्वामी-सत्संग के मुख्य चार अंग हैं, जिन्हें पूरा गुरु, नाम, सत्संग तथा अनुराग कहते हैं। पूरा गुरु से अभिप्राय संत सद्गुरु या साधु सद्गुरु से है। स्वामीबाग के अनुसार संत सद्गुरु तथा राधास्वामी में वस्तुत: कोई अन्तर नहीं है। दयालबाग उन्हें केवल इनका प्रतिनिधि-मात्र अथवा निजधार-स्वरूप स्वीकार करता जान पड़ता है।

राधास्वामी-मत के प्रत्येक अनुयायी के लिए संत सद्गुरु अथवा उनके चित्रादि के समक्ष अपनी श्रद्धा का प्रदर्शन मुख्य कर्त्तव्य माना जाता है। संत सद्गुरु द्वारा स्पर्श की गई अथवा व्यवहार में लाई गई प्रत्येक वस्तु पवित्र तथा उपादेय है। उसे बिना तर्क-वितर्क के अपना लेना परम धर्म है।

राधास्वामी-सत्संग का न्यूनाधिक प्रचार भारत के प्राय: प्रत्येक राज्य में हो चुका है। इसके अनुयायियों की संख्या क्रमश: बढ़ती दीख पड़ती है। इसकी रहस्यमय अतरंग कार्य-प्रणाली इसकी प्राणायाम-विहीन योग-साधना की बाह्य

सरलता, इसका सादा तथा सद्भावपूर्ण व्यवहार की ओर अधिक झुकाव तथा आध्यात्मिक जीवन में भी समृद्धि-लाभ संबंधी इसकी योजना इसके प्रति आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त साधन हैं।[1]

रामाश्रम-सत्संग—रायपुर-निवासी हजरत मौलाना फजल अहमद खाँ साहेब (कुदस सुर्रहू) उच्च कोटि के सूफी संत थे। आप इस विद्या को हिन्दुओं की विद्या कहते थे। आपने वेदान्त तथा सूफी साधनों को मिलाकर एक ऐसा अनुपम प्रेममय मार्ग निकाला, जिसके द्वारा साधक गृहस्थी में रहते हुए गुरु की सहायता से षट्चक्रों को वेधता हुआ अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच जाता है।

पूज्य महात्मा रामचन्द्र जी तथा उनके अनुज महात्मा रघुवर दयाल जी मौलाना के प्रमुख शिष्यों में थे। दोनों ने अध्यात्म पथ में काफी प्रगति की। दोनों आजीवन गृहस्थ-आश्रम में रहे। दुखियों का दुःख दूर करने की ओर इन दोनों महानुभावों का ध्यान रहता था। इन्हीं महात्मा रामचन्द्र जी के शिष्य परम संत डाक्टर चतुर्भुज सहाय थे।

रामाश्रम-सत्संग के प्रवर्तक डा० चतुर्भुज सहाय जी का जन्म पुण्यसलिला गंगा के पास स्थित एटा जिले के अन्तर्गत चमकरी गाँव में कार्तिक शुक्ल चतुर्थी, संवत् १९४० (३ नवम्बर, १८८३ ई०) को हुआ था। आपने कायस्थ-वंश की कुलश्रेष्ठ शाखा को गौरवान्वित किया था। आपकी जन्म-पत्री को देखकर पण्डितों ने बतलाया था कि यह अपने समय के एक अच्छे महापुरुष होंगे तथा बहुत-से लोगों का कल्याण करेंगे। विद्याध्ययन के उपरान्त आपके मन में यह अभिलाषा जगी कि किसी प्रकार देश का कुछ सुधार हो। ये विचार हृदय में तरंगित हो ही रहे थे कि एक दिन आपको अपने ननिहाल फतहगढ़, जिला फर्रुखाबाद जाना पड़ा। कुछ समय आप वहाँ रहे और वहीं पर आपने इलेक्ट्रो तथा होमियोपैथी का ज्ञान प्राप्त किया। आपके पिताजी को आयुर्वेदिक चिकित्सा का अच्छा ज्ञान था। अतः आपको आयुर्वेद का भी उत्तम ज्ञान हो गया। यह सब सीखकर आपने देश-सेवा करने का विचार किया।

कुछ काल उपरान्त आपने डाक्टरी का कार्य आरम्भ कर दिया। लेकिन ये सब कार्य भी आपको दूसरी ही ओर ले जा रहे थे। जितने भी अस्वस्थ लोग

1. **उत्तरी भारत की संत-परम्परा**, पृ० ८०८—११

आते, सबको औषधि देते, उनकी सेवा करते। जो कुछ किसी ने दे दिया, खुशी-खुशी ग्रहण कर लेते। गरीबों और मुहताजों का इलाज निःशुल्क कर दिया करते; क्योंकि उनका क्लेश देखकर आपका हृदय द्रवित हो उठता और उनकी जो भी सहायता हो सकती थी, आप तत्परता से किया करते। उन लोगों को भोजन-वस्त्र की भी आवश्यकता होती तो उनकी भी पूर्ति आप कर दिया करते। एक तरफ से अर्जन कर दूसरी तरफ दान कर देना उनकी वृत्ति हो गई थी। धीरे-धीरे आपके पास केवल वही लोग आने लगे, जो निर्धन थे। उसी बीच प्लेग का प्रकोप हुआ और आप फतहगढ़ चले गए। वहाँ भी चिकित्सा-कार्य बराबर चलता रहा।

ऐसा ईश्वरीय नियम है कि जिसकी जिस किसी कार्य में लगन रहती है, भगवान उसे पूरा करते हैं। डाक्टर साहब हर समय शान्त भाव से यह सोचा करते थे कि मनुष्य ऐसी उलझनों में क्यों है ? सब कुछ होते हुए भी उसे शान्ति क्यों नहीं मिलती ? संतों के जीवन और उनकी सुहबत से आपको यह पता चला कि शान्ति न धन में है, न वैभव में और न विद्या में। वह तो बिना भगवान की शरण में आए और बिना आत्म-ज्ञान के किसी प्रकार आ नहीं सकती और उसके लिए सर्वप्रथम किसी सद्गुरु का चरण पकड़ना होगा।........इस दृष्टि से आप बराबर महात्माओं से मिलते रहते थे और उनके बतलाए कुछ प्रयोगों का अभ्यास भी करते जाते थे।

फतहगढ़ गंगा के तट पर होने के कारण वहाँ महात्माओं से मिलना-जुलना सुलभ था। नेति, धोती, प्राणायाम आदि भी आपने बहुत समय तक किया; परन्तु आपको इनके द्वारा शारीरिक लाभ के अतिरिक्त कुछ और अधिक की आध्यात्मिक मार्ग में उपलब्धि न हो सकी। आपका यह निश्चित मत हो गया कि बिना मन को निर्मल किए और बिना उसका निरोध किए आत्म-ज्ञान प्राप्त करना दुष्कर ही नहीं, असंभव है; क्योंकि शुद्ध मन पर ही निर्विकारी आत्मा का बिंब पड़ सकता है, अशुद्ध और चंचल मन पर नहीं। अतः सभी क्रियाओं को त्याग कर आप दिन-रात सद्गुरु की तलाश में रहने लगे।

महात्मा रामचन्द्र जी अलीगढ़ तहसील में कर्मचारी थे। इन्हीं दिनों आप बदलकर फतहगढ़ आ गए। संयोगवश डाक्टर साहेब का उनसे संपर्क हुआ और उन्हें अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होने का अवसर मिला। महात्मा रामचन्द्र जी

गृहस्थ संत थे, अतः आरम्भ में डाक्टर साहब इन्हें पहचान न सके। इलाज कराने के बहाने इनसे मुलाकात होने लगी। महात्मा जी सामान्य वेश-भूषा में रहा करते थे और वे साधारण जन-से प्रतीत होते थे। उनकी विशेष ख्याति भी नहीं थी। पर धीरे-धीरे उनके आन्तरिक गुणों की ओर डाक्टर साहब आकृष्ट होने लगे। कहावत है कि "फकीर को कोई फकीर ही पहचानता है।"

प्लेग का समय था। डाक्टर साहब तिर्वा की कोठी में गंगा के किनारे रहते थे। महात्मा जी भी संयोगवश वहीं अकेले रहने लगे। बच्चों को कहीं दूर सुरक्षित स्थान पर एक रिश्तेदारी में भेज दिया था। डाक्टर साहब और महात्मा जी एक ही कमरे में रहने लगे। दोनों का भोजन भी साथ ही बनने लगा। इस तरह साथ रहते दो महीने बीत गए, पर उनकी जुबान पर न तो कभी भगवान का नाम आते देखा और न कोई धार्मिक चर्चा ही करते सुना। इतने जब्त और इतनी खामोशी में कोई कसे उन्हें तोल सकता था ?

परन्तु महात्मा जी का डाक्टर साहब के ऊपर आन्तरिक प्रेम था। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने नित्य रात्रि के समय, जब डाक्टर साहब सो जाते थे तब, उनके ऊपर 'तवज्जह सायवाना' (अज्ञातावस्था में हृदय-शुद्धि) का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया और अनजाने डाक्टर साहब को माया के कठिन दलदलों से पार करके सुन्दर एवं सुहावने अध्यात्म-क्षेत्र में खड़ा कर दिया और उसी देश का अधिवासी बना दिया।

वह अज्ञात हृदय शुद्धि की प्रक्रिया नित्य-प्रति चलती रही और उसका प्रभाव चुपके-चुपके डाक्टर साहब पर होता रहा। कई मास पश्चात् डाक्टर साहब इस बात को जान सके कि उनकी सुरति को जबरदस्ती संसार से हटाकर अध्यात्म-मार्ग की ओर मोड़ा जा रहा है और प्रभु-चरणों की ओर मन को प्रेरित किया जाता है। इसी का नाम 'तवज्जह गायवाना' है। यों तो संत प्रत्येक मनुष्य पर इसका प्रयोग हर समय ही करते रहते हैं, अपने रंग के छींटे अनजान में सबपर डाला ही करते हैं और अवसर आने पर उसका प्रभाव भी प्रत्यक्ष हो जाता है; परन्तु यदि दया किसी व्यक्ति-विशेष पर हो जाती है, तब तो सीधी धार उसी ओर जाती है और उसके हृदय की चादर को गहरा रंग देकर छोड़ती है। इसके लिए रात्रि का वातावरण शीघ्र फलदायक होता है। इसलिए यह काम अधिकतर रात्रि में ही किया जाता है। इस प्रकार ईश्वर-

विमुख लोगों को सत्पथ की ओर लाने के लिए यह एक ऐसा हथियार है, जिसका वार कभी खाली नहीं जाता। यह ऐसा तीर है, जो कमान से निकलते ही सीधे मन को निशाना बनाता है। यही बात डाक्टर साहब के साथ हुई।

इसके उपरान्त आपने खूब अच्छी तरह अन्तर-क्षेत्र को मुलायम कर लिया और जब वह बोने के योग्य हो गया, तब एक दिन डा० साहब को सुदूर सघन वन में, जो बड़ा हरा-भरा और गंगा-किनारे था, जहाँ एक छोटी कुटिया थी, बैठाकर प्रथम पाठ दिया। इसका विवरण डा० साहब के ही शब्दों में निम्न प्रकार है :

"आपने कहा कि थोड़ी देर मुड़कर बिलकुल मेरे मुकाबिल (सामने) हो जाओ ताकि जो अक्स पड़े, ठीक तुम्हारे में उतरे, आँखें हलके से बंद कर लो और अपने मन को देखते रहो कि वह क्या-क्या कर रहा है। अब मैं कुछ नहीं देख रहा था, केवल मन के कृत्यों को देख रहा था। आरम्भ में तीन-चार मिनट तक विचारों का ताँता लग गया। जब यह कुछ बंद हुआ तब एक स्याह पर्दा सम्मुख आया, आगे चलकर वह फटने लगा, उसमें से एक चमकता हुआ सूर्य दिखाई दिया। अद्‌भुत आनंद प्रतीत हुआ। इस समय मुझे कुछ खबर नहीं थी। मस्ती की दशा बढ़ रही थी। इसके बाद मुझे ऐसा लगा कि मैं किसी दूसरी दुनिया में हूँ। अनेक दिव्य लोक सामने थे, भिन्न-भिन्न दिव्य आत्माएँ सम्मुख दर्शन दे रही थीं, अनेक प्रकार के दिव्य शब्द सुने जा रहे थे। आगे खिंचाव और बढ़ा और एक शक्ति का भास हुआ, जो सबको चला रही है, सबपर उसका नियंत्रण है, सबकी अधिष्ठात्री है, ऐसा जान पड़ा। किसीने संकेत से कहा—यही सर्वशक्तिमान ईश्वर है, यही खुदा है, इसी का नाम आदि प्रकृति है, यही मूल-माया, सर्वेश्वरी जगदम्बा है। शक्ति यही है, शक्तिमान भी यही है, यही जगत्-विधात्री आदिशक्ति का दर्शन है। माया यहाँ से आगे नहीं जाती, प्रकृति का खेल यहीं समाप्त होता है। यहीं पर ब्रह्माण्ड का अंत है।

"यह सब ४०-४५ मिनट के अंदर हो गया। जिन अवस्थाओं के लिए लोग तरसते हैं, जिनकी प्राप्ति के लिए जीवन-भर पाँव रगड़ते हैं, वह प्रथम दिन ही मुझे मिल गईं; जो दर्शन जन्म-जन्मांतर में भी नसीब नहीं होते, वह केवल गुरु-कृपा से मुझे प्रथम दिन ही मिल गए।

"इसी पर मौलाना रूम ने कहा है :

एक साअत सुहवते बा औलिया,
बेहतर अज़ सद साल ताअते बेरिया।

अर्थ—सौ वर्षों के सच्चे तप से, जिसमें कोई बनावट या मक्कारी न हो, एक घड़ी किसी संत की सुहबत (संग) बेहतर होती है, जो वस्तु तप से दुर्लभ है, वह संतों की दया से मिनटों व सेकेण्डों में मिल जाती है।"[1]

यह भृंगी साधन था। आगे आपने इसी को अपनाया। गुरु के विचारों को बराबर लेते रहने से कुछ काल के बाद साधक गुरु के समान ही हो जाते हैं। इसी को 'सारूप्यती' भी कहते हैं। गुरु कुछ काल में शिष्य को लगातार अपने विचार भेजकर उसके समस्त विचारों को मिटा, उसके हृदय-पटल पर अपने ही ज्ञान को भर देता है। इस प्रकार साधक गुरु के ज्ञान को तो ले ही लेता है, परन्तु कहीं-कहीं पर यह भी होता है कि शिष्य की वाणी और गुरु की वाणी में भेद नहीं रह जाता, पहचान में नहीं आता कि कौन बोल रहा है। लेकिन डा० साहब की साधना तो और आगे शरीर पर भी प्रभाव डाल चुकी थी, अर्थात् आपने शरीर से भी अपने गुरु से तद्रूपता प्राप्त कर ली थी।[2]

गुरु की कृपा आपपर पूर्ण रूप से थी। वह जानते थे कि डा० साहब पूर्वजन्म के संस्कार के कारण अधिकारी शिष्य थे। आपकी ओर से उन्हें बड़ी आशा थी। उन्होंने यह भी कहा था—"मैं यह काम अपना नहीं कर रहा हूँ, अपने गुरु महाराज (कुद्दूस सुर्रहू) का कर रहा हूँ। मैं न रहूँ तो इस काम को तुम पूरा करना, मेरी आत्मा को इससे बढ़कर कोई दूसरी प्रसन्नता की बात नहीं होगी और यही मेरी दक्षिणा समझना। इसके लिए मैं हर समय तुम्हारी सहायता करूँगा।" ये शब्द उन्होंने पहले भी कहे थे और शरीर त्यागते समय, जब आप वहाँ उपस्थित थे, तब भी दुहराए थे। आपने आँखों में अश्रु भर-कर यह आदेश स्वीकार किया था। अन्तिम बार चरण पकड़कर आपने गुरु से सदा कृपा रखने की प्रार्थना की थी।[3]

गुरु की आज्ञा पाकर डाक्टर साहब ने अपना समस्त जीवन प्रचार-कार्य में

1. **जीवन-दर्शन**, पृ० १७-२० (पं० मिहीलाल जी)
2. ,, ,, २१ ,,
3. ,, ,, २३-२४ ,,

लगा दिया, जिसके फलस्वरूप 'रामाश्रम-सत्संग' की स्थापना हुई। डा० साहब ने इसका नामकरण अपने पूज्य गुरु महात्मा श्री रामचन्द्रजी महाराज के नाम पर किया। आज यह लाखों ज्ञान-पिपासु एवं जिज्ञासु लोगों को अध्यात्म का अमृत-रस पिला रहा है।

इस मत का सिद्धान्त है कि सारा संसार ही संसार है, इसको छोड़कर हम कहाँ जा सकते हैं; रहो इसी में और सारे संसारी काम करो, पर इसमें अपना फँसाव मत रखो। इसकी निस्सारता को विवेक द्वारा विचार करते रहो, इससे अभ्यास में उन्नति होगी और जल्द ही साधक ईश्वर के समीप पहुँच सकेगा। वैराग्य शरीर से किसी वस्तु के त्यागने का नाम नहीं है, बल्कि मन को अलग रखने का नाम है।

इस मत में सेवा पर बहुत जोर दिया गया है। कहा गया है कि अपनी उन्नति के लिए कुछ सेवा करो। जितना हो सके, दूसरों का उपकार करो। कहा गया है कि सेवा दो तरीके से होत है—शारीरिक और मानसिक। मानसिक सेवा तो वही लोग कर सकते हैं, जिनके अंदर मनोबल हो तथा जिन्होंने साधन और अभ्यास द्वारा अपनी आत्मशक्तियों को जाग्रत कर लिया हो तथा अपने मन से दूसरों के मन को तथा अपनी आत्मा से दूसरों की आत्मा को लाभ पहुँचा सकते हों। परन्तु शारीरिक सेवा तो प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य या किसी प्राणी की कर सकता है। स्वामी विवेकानन्द जी भी कहा करते थे कि ईश्वर से प्रेम करो और उसके प्यारे पुत्रों से प्रेम करो। प्रेम की भावनाओं से प्रेरित होकर जब मनुष्य इस जगत के प्राणियों को अपना इष्ट बनाकर उनकी पूजा और सेवा करता है, तभी ईश्वर अपने दर्शन देता है और उसका कल्याण करता है। किसी संत ने कहा भी है :

यही है इबादत यही दीन ईमा,
फिर दुनिया में काम आवे इंसा के इंसा।

मनुष्य बनने के लिए, यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए तथा विराट पुरुष ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए हमें अपने अन्दर पर-सेवा के भाव उदय करने होंगे और मान, बड़ाई तथा बदले की इच्छा को छोड़ तन, मन और धन से इस सेवा के कार्य में जुट जाना होगा और सारे ही प्राणियों को अपना प्रेम-पात्र बनाना होगा। तब उसकी दया हमारे ऊपर होगी।

अतः इस संतमत के वर्तमान आचार्य पं० मिट्ठीलाल का आदेश है—"यदि तुम सांसारिक आपदाओं से बचना चाहते हो, यदि तुम गुरु-ऋण से मुक्त होना चाहते हो, तो थोड़ा त्याग करो; लोक और परलोक में सुख पाने की इच्छा को त्याग दो; पर-सेवा में जुट जाओ; अपने समय का थोड़ा-सा भाग और अपने धन का कुछ अंश दूसरों के साथ उपकार करने में व्यय करो; इसी से कल्याण होगा, तुम्हारे धन में वृद्धि होगी और तुम्हारी सारी आपदाएँ कट जाएँगी।"[1]

जिस प्रकार स्वामी रामानुज ने अपने गुरु की वाणी को चौराहे पर सुनाया था, उसी प्रकार, बल्कि उससे भी ऊँची आवाज में डा० साहब ने गुरु की वाणी का ढिंढोरा पीटा। आपने कहा—मेरे गुरुदेव की आज्ञा है कि "तुम इस विद्या के लिए पात्र-अपात्र का भी विचार न करो, जिसको प्यास है, उसको जल तो चाहिए ही; इसके बिना लोग दुःखी हैं, तुम सबको बाँटो।"

आपके पास जितने भी साधु-संन्यासी आते, आप यही सलाह देते—"आप लोग अपने परिश्रम का अन्न खाओ; क्योंकि जबतक आप दूसरों का अन्न खाओगे और उसके बदले उनका कुछ काम नहीं करोगे, आत्मोन्नति कर नहीं सकते। आत्मोन्नति के लिए भिक्षा के अन्न का परित्याग करना होगा। परिश्रम का अन्न खाकर तपस्या करोगे, तो सफलता प्राप्त होगी; क्योंकि प्रकृति आपकी तपस्या के भाग में से उन अन्नदाताओं का भाग निकालकर तत्काल उनके पास भेज देती है। फिर आपके पास क्या बच रह जाता है? इसके अतिरिक्त आपको भोजन माँगने में बड़ा समय व्यय करना पड़ता है और आत्म-गौरव का भी ह्रास होता है।"[2]

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। (अथर्ववेद)

अर्थात् सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो, हजारों हाथों से बाँटो।

आपका कथन था कि "आत्म-विश्वास के अर्थ भी पुरुषार्थ समझो। जो आत्म-विश्वासी है, वही पुरुषार्थी है। एक दिन की सफलता और दूसरे दिन की असफलता से प्रसन्न और दुःखी होनेवाले सज्जन आत्मविश्वासी नहीं माने जाते। निराशा और संदेह ही हमारे जीवन की महत्ता का नाश करनेवाले कीटाणु हैं। इसलिए ऐसे विचारों को अपने अंदर कहीं स्थान मत दो। मैंने

1. **जीवन-दर्शन**, पृ० ६३-६६
2. **जीवन-दर्शन**, पृ० ७६-७७

यह पता लगा लिया है कि ईश्वरीय शक्ति से संबध रखनेवाला मनुष्य शक्ति-शाली और विजेता बनकर ही रहता है और शिव की सभी शक्तियाँ उसका साथ देने को स्वयं बाध्य हो जाती हैं। याद रखो कि हम ईश्वरीय सन्तान हैं, हममें ईश्वरीय शक्तियाँ हैं, हम अपने कार्य में अवश्य सफल होंगे।''

आप कहा करते थे कि सबसे बड़ा बोझा मनुष्य के ऊपर अहंकार का है। गुरु किसी प्रकार यदि इसे दूर करा दे, तो साधक तुरत हल्का हो जाए, तुरत मुक्त हो जाए।

''अमृत-कुण्ड तक पहुँचने का जो मार्ग है, उसे शास्त्रों ने पाँच भागों में बाँटकर पाँच नाम अलग-अलग रख दिए हैं। इन्हीं का नाम—(१) अन्नमय, (२) प्राणमय, (३) मनोमय, (४) विज्ञानमय और (५) आनंदमय है।

आनंदमय कोष रेतीला मैदान है। यह पृथ्वी-तत्व से तैयार होता है। इसलिए बाहरी कर्मों से ही यह तैयार होता है। तप करना, व्रत रखना, तीर्थ, मूर्ति-पूजा इत्यादि अन्नमय कोष के साधन हैं। हठयोग के साधन—आसन, मुद्रा, प्राणायाम इत्यादि दूसरे प्राणमय कोष के साधन हैं। उपासना मनोमय कोष के, बुद्धियोग विज्ञानमय कोष के और समर्पण आनंदमय कोष के साधन हैं। जो लोग जिन्दगी-भर एक ही साधन को पीटते जाते हैं, वे आगे नहीं बढ़ते।''[1]

मनुष्यों के विचार, उनके भाव, उनके कर्म, उनकी रुचि, उनकी सामर्थ्य, उनके संस्कार इत्यादि जुदा-जुदा होते हैं। एक-दूसरे से मेल नहीं खाते। इसलिए एक ही उद्देश्य के लिए भिन्न-भिन्न साधन-प्रणालियाँ बनाई गई हैं। एक ही क्रिया से सबको लाभ नहीं पहुँच सकता। इनके सहस्रों भेद हैं, पर वे सब तीन ही के अंतर्गत हैं। जिसमें इन्द्रिय और शरीर को संग लेकर मन काम करता है, और जीवात्मा जिसमें अपने को कर्त्ता समझती है, वह कर्मयोग कहलाता है। हठयोग, तंत्रयोग, शब्दयोग, जपयोग, प्राणयोग, मुद्राएँ, आसन इत्यादि कर्मयोग कहे जाते हैं। दूसरा उपासना-योग है, जो केवल मन से ही किया जाता है। बाहरी कोई भी क्रिया इसमें नहीं होती और प्राणी अपने को कर्त्ता समझता है। ध्यान धारण, एकाग्रता और निरोध—यह सब उसके ही अंतर्गत हैं। तीसरा ज्ञानयोग है, जो मन के एकाग्र होने के पश्चात् बुद्धि द्वारा किया

1. डॉ० चतुर्भुज सहाय : **साधना के अनुभव**, भाग १ पृ० १७

जाता है। इसके साधन—स्वाध्याय, सत्संग और विवेक हैं। सारी साधनाएँ यहीं तक आकर समाप्त हो जाती हैं। आगे प्रेम-योग या समर्पण-योग है, जो साधना नहीं, बल्कि सिद्धि है।

इन तीनों के बीच का उपासना-योग सबसे श्रेष्ठ है, जल्द पहुँचानेवाला है, शीघ्र फल देनेवाला है और सरल है। आजकल के लोगों के लिए यह बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

उपासना की तीन क्रियाएँ हैं—धारणा, ध्यान और प्रत्याहार। किसी एक ध्येय को पकड़कर मन को रोकना धारणा कहलाती है। जब ध्याता अथवा ध्यान करनेवाला अपने ध्येय में समा जाता है और अपने ध्येय का ज्ञान खो बैठता है तब उसे ध्यान कहते हैं। ध्येय को छोड़कर जब मन किसी और विषय की ओर दौड़ जाता है और अभ्यासी उसे फिर खींचकर ध्यान में लगाने का प्रयत्न करता है, तब उसे प्रत्याहार कहा जाता है। इसमें वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। सारी चिन्ताओं से थोड़ी देर के लिए अपने को मुक्त करके दिव्य ज्योति का ध्यान हृदय-क्षेत्र में करना होता है; क्योंकि वही पर प्रीतम के रहने का स्थान है।

गीता (अध्याय १८।६१) में भी भगवान ने ईश्वर का निवास हृदय में बताया है और उपनिषद् में भी कहा है कि ब्रह्म अंगुष्ठ-मात्र स्थान में हृदय में निवास करते हैं। अतः अन्य संतमतों की प्रणाली की तरह भृकुटी या आज्ञा-चक्र की भूमि को प्रथम पकड़ने और फिर वहाँ से ऊँचे की चढ़ाई करने की प्रक्रिया के बदले रामाश्रम-मत हृदय-देश में ध्यान करने को कहता है; क्योंकि उपासना-मार्ग का साधक इस विचार को लेकर चलता है कि प्रभु दूर नहीं, बल्कि उसके समीप के भी समीप है और हमारे निज के रहने का स्थान हृदय-देश में ही निवास करता है। वह न तो किसी दूसरे चक्र का भेदन ही करता है और न हृदय को छोड़कर दूसरी भूमि में जाता है। यदि कोई अद्भुत दृश्य वा अद्भुत शब्द उसके सम्मुख आता है, तो उधर से देवी-देवताओं के दर्शन से उसका कोई सरोकार नहीं होता; वह तो गहरी दृष्टि से उसी अँधेरी गुफा में अपने प्रियतम को टटोलता है और चारों ओर से वृत्ति समेटकर आँखों को बाहर से बंद करके अपने प्यारे को ढूँढ़ने में लग जाता है, उसका नाम ले-लेकर पुकारता है, दर्शन देने के लिए स्तुति और प्रार्थना करता है, उसके वियोग में

रोता है, विकल होता है। कभी-कभी आशा के संचार होने पर गद्गद हो उठता है, तड़पता है, उसके प्रेमियों से उसका पता पूछता है, उसके प्रेमियों की खुशामद करता है, सेवा-शुश्रूषा से उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करता है, अपने को उनके चरणों में डालता है, उनका आश्रय लेता है, अपने को उनकी भेंट चढ़ाता है, तन-मन-धन उन्हें समर्पण करता है। ये उपासना के साध्य हैं। इनको धारणा और गुरु समर्पण कहते हैं।[1]

यह है उपासना की क्रिया, जिसमें अपना कर्त्तव्य कुछ काम नहीं देता, कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, केवल अहंकार त्याग कर सद्गुरु के आश्रित होना है और गुरु अपनी शक्ति से उसके मल और कुसंस्कारों के आवरणों को हटा देता है तथा शुद्ध और निर्मल बना दर्शन कराता है। इसमें जो कुछ समय खर्च होता है, वह अहंकार को तोड़ने के लिए किया जाता है; क्योंकि अहंकार मौजूद होते हुए समर्पण न कोई कर सकता है, और न हो सकता है।

अतः इस मत में योग-क्रिया का कोई स्थान नहीं है। गुरु के अस्तित्व में अपना अस्तित्व मिटा देना, गुरु में अपने को फ़ना कर देना, उसमें अपना अहंभाव त्यागकर एक हो जाना, साधक का मुख्य कर्त्तव्य है। इसी से कल्याण होता है। यह अवस्था आते ही भगवद्दर्शन हो जाता है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है। पर इस अवस्था के लाने में कुछ समय लगता है। इसके तीन दर्जे होते हैं। प्रथम अवस्था में जब साधक गुरु का चिन्तन निरन्तर करता है, उसकी याद हरदम रखता है, तब कुछ दिवस पश्चात् उसे अपना स्थूल शरीर प्रत्यक्ष गुरु का ही शरीर दिखाई देने लगता है, उसका मुख गुरु का ही मुख है, उसकी आँखें गुरु की ही आँखें हैं, उसकी जिह्वा गुरु की ही जिह्वा है, उसकी वाणी गुरु की वाणी है, उसके हाथ-पाँव, देह आदि सब गुरु के रूप हो गए हैं। यह पहली अवस्था है, जो स्थूल को स्थूल में लय कर देती है।

इसके पश्चात् द्वितीय अवस्था का प्रारम्भ होता है। इसमें अपना मन, बुद्धि और अहंकार, गुरु के मन, बुद्धि और अहंकार में लीन हो जाते हैं। यह सूक्ष्म का सूक्ष्म से लय होना कहलाता है।

तृतीय अवस्था में साधक की चैतन्य आत्मा गुरु की चैतन्य आत्मा में समा जाती है और वह पूर्ण रूप से लय-योगी बन जाता है। ऐसा लगता है कि तृतीय

1. साधना के अनुभव, भाग १, पृ० ४८

अवस्था भी अन्तिम पद नहीं है। यहाँ का दर्शन भी अन्तिम दर्शन नहीं है। साधक को इसके आगे बढ़ना होता है।

रामाश्रम सत्संग और संतमतों की तुलना में उदार है, अतएव सबके लिए ग्राह्य है। इस सत्संग में किसी रूढ़िवादी नियम का बंधन नहीं है। मूर्ति-पूजा भी वर्जित नहीं है और न इस मत के संस्थापक डाक्टर साहब अथवा परमगुरु महात्मा श्रीरामचन्द्र जी का ध्यान ही अनिवार्य है। साधक को अपने इष्ट देवता अथवा अपने गुरु का ध्यान करने की छूट है। डाक्टर साहब का ध्यान भी इस दृष्टिकोण से वे कर सकते हैं कि उनमें और अपने गुरु में अथवा अपने इष्ट देवता में कोई वास्तिक भेद नहीं है, स्वरूप भिन्न भले ही हो। निराकार-वादी को डाक्टर साहब का उपदेश था : "हृदय में उस 'ॐ' को देखो, जो अत्यन्त प्रकाशमान है और प्रकाश-रूप है; तुम सर्वाङ्ग प्रकाशमान हो रहे हो।"

रामाश्रम-सत्संग के उपदेशानुसार दिन-रात में कम-से-कम एक घंटा ध्यान अपेक्षित है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि एक ही बार एक घंटा ध्यान किया जाए। सुविधानुसार एक घंटे के समय को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। ध्यान की प्रक्रिया बहुत सरल है। ध्यान से पहले बातें करना बंद कर देना चाहिए, पुस्तक पढ़ना छोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से ध्यान में बहुत कुछ सहायता मिलती है। सद्ग्रन्थों ने बताया है कि स्तुति, उपासना और प्रार्थना के क्रम पर चलकर मनुष्य उस सत्-चित्-आनंद-रूपी ब्रह्म के देश में जल्द पहुँच सकता है, उसका दर्शन-लाभ कर सकता है।

स्तुति, कीर्त्ति या बड़ाई का वर्णन करने को कहते हैं। उपासना होठ, जिह्वा और मन को स्थिर कर ऐसी कल्पना करने को कहा जाता है, जिसमें जिज्ञासु ऐसा ख्याल बाँधता है कि हम उसके बिलकुल समीप और सम्मुख बैठे हैं और वह हमको देख रहा है। रोजाना के अभ्यास से यह संकल्प इतना दृढ़ और ठोस बन जाता है कि वह वस्तु आगे चलकर प्रत्यक्ष रूप से हमारे सम्मुख आ जाती है। यहाँ हमारा यह अनुभव इतना पक्का बन जाता है कि जिसमें संदेह की गुंजाइश नहीं रहती। इसी अवस्था को 'उपासना' कहा जाता है।

"प्रार्थना का क्रम उपासना के उपरान्त आता है। बिना उपासना के प्रार्थना करना ऐसा है, जैसे हवा में तीर चलाना। वह थोथी होती है, उसका न तो कोई प्रभाव होता है और न लाभ मिलता है। प्रार्थना अपनी इच्छित वस्तु माँगने को कहते हैं, चाहे वह सांसारिक हो, चाहे पारमार्थिक। उपासना-सहित

प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है और मंजूर भी होती है। उपासना के समय की प्रार्थना के लिए न तो जोर-जोर से चिल्लाने की जरूरत होती है और न बार-बार रट लगाने की। वह तो नम्रतापूर्वक धीमे-से एक बार उनके कानों में पहुँचा दी जाती है और बस। 'हाँ' और 'ना' का उतर भी उस प्रार्थी को उसी समय मिल जाता है। ऐसा नहीं है कि सभी प्रार्थनाएँ स्वीकृत ही हो जाएँ, यह सब अधीश्वर की कृपा पर निर्भर है। उपासना के स्थान तक पहुँचा हुआ भक्त भी बदल जाता है। वह जिद्द नहीं करना चाहता। भगवान की मर्जी पर ही प्रसन्न रहता है और इसी में अपना कल्याण समझता है।[1]

भजन करनेवालों को भजन के प्रारम्भ में सबसे पहले मन-ही-मन गुरु को प्रणाम करना चाहिए। उसके बाद अपने भजन की क्रिया शुरू करनी चाहिए। रामाश्रम-सत्संग के नियम के अनुसार प्रथम गुरु-वंदना, फिर ईश-विनय, उसके पश्चात् ध्यान की परिपाटी है। ध्यान के पश्चात् अन्तिम प्राथना शान्ति-पाठ का उच्चारण करके समाप्त की जाती है। गुरु-वन्दना, ईश-विनय और अन्तिम प्रार्थना का रूप निर्धारित है। इन सारी क्रियाओं को सब मिलाकर व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से किया जाता है। जो लोग ऐसा करते हैं, उन्हें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है, यह निश्चित है। यह सारी क्रिया ४५ मिनट के भीतर समाप्त हो जाती है। इसके पश्चात् किसी पुस्तक का १५ मिनट स्वाध्याय भी होना चाहिए ताकि लोगों में प्रेम उभरे और बुद्धि पर से अविद्या का आवरण हटे।

इस मत में ईश्वर से पहले गुरु को रखा गया है। उसकी वंदना भी ईश्वर-वंदना से पहले करने को कहा है। ऐसा करने से, डाक्टर साहब के ही शब्दों में, निम्नलिखित लाभ है :

"एक ओर यह मायावी स्थूल जगत है, जिसमें राजसी और तामसी विषयों की आँधी बड़े प्रबल वेग से बह रही है। दूसरी ओर आत्मा या ईश्वर है, जो महान् सूक्ष्म है। उसके स्थान तक पहुँचना और उसे पकड़ में ले आना साधारण काम नहीं है। मनुष्य इन दोनों के बीच में खड़ा है। जब वह इधर से मुख मोड़कर आत्मा की ओर जाना चाहता है तब मन का प्रवाह, जो नीचे स्थूल की ओर जा रहा है, उसे धक्का देता है और ऐसा करने से रोकता है।

---

1. **पूज्य गुरु का प्रसाद**, अप्रैल, १९६८

"महापुरुषों का शरीर स्थूल होता है पर उनके शरीर के परमाणु सूक्ष्म होते हैं। वह स्थूल और सूक्ष्म के बीच की एक चीज है। उसकी शक्ल भी देखी-भाली है। मन को एकाग्र करने के लिए ऐसी देखी हुई और स्थूल शक्ल का ध्यान अभ्यासी के लिए आसान पड़ता है। ऐसा करने से साधक अनेक से एक पर आ जाता है, चाहे वह भले ही स्थूल हो। आगे जब इसपर मन ठहर जाए तब उसे सूक्ष्म की ओर झुकाएँ और ईश-चिन्तन में लग जाएँ, पहुँचना वहीं सूक्ष्म और महान सूक्ष्म के देश में है। लक्ष्य वही है, पर उस लक्ष्य को प्राप्त करने का यह क्रम अति श्रेष्ठ और शीघ्र सफलता प्रदान करने-वाला है। ऐसा संतों का अनुभव है।........गुरु वंदना का यही लाभ आपको मिलेगा। यह मन को सूक्ष्म की ओर झुकाएगी और भगवान के चरणों तक पहुँचाएगी। उस समय ईश-वंदना करो, फिर ध्यान करो, अंत में प्रार्थना करके समाप्त कर दो।"[1]

मूर्ति-पूजकों के लिए पूज्य डाक्टर साहब की सम्मति है कि "या तो साधक पूर्ण भाव के साथ मूर्ति को मूर्ति के रूप में न देखकर इष्ट के रूप में देखते हुए उसकी आराधना करे, कल्पना को छोड़ पूर्ण विश्वास ले आवे। यदि ऐसा करने में उलझन जान पड़े तो अपने गुरु के हृदय-मंदिर में जा घुसे और वहाँ विराजे हुए चैतन्य की मूर्ति की पूजा करने लगे। थोड़े दिन इसकी आजमाइश करके देखो कि जो वस्तु वर्षों के परिश्रम करने पर भी वह मूर्ति तुम्हें न दे पाई थी, बस, उस जीती-जागती देखी-भाली मूर्ति ने तुम्हें अपण कर दी या नहीं। यह बहुत ही सरल और शीघ्र फल देनेवाला साधन है। परन्तु इसके लिए गुरु भी पूर्ण हो और शिष्य भी पूर्ण श्रद्धावान हो।"[2]

डाक्टर साहब का कहना था कि जब शिष्य पूर्णरूपेण अपने को गुरु को समर्पण कर देता है या गुरु उसे अपना लेता है, तो फिर गुरु शिष्य को कभी अकेला नहीं छोड़ता, हर समय उसके साथ रहता है।

रामाश्रम सत्संग में देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में भंडारा होता है, जिनमें जन्माष्टमी के अवसर पर टुण्डला (आगरा), शिवरात्रि के दिन मथुरा और दिसम्बर में गया का भंडारा प्रमुख और महाभंडारा की कोटि के हैं।

---

1. पूज्य गुरु का प्रसाद।
2. ,, ,

६. **रुहानी सत्संग**—'राधास्वामी-सत्संग' के दूसरे गुरु हुजूर साहेब के समय में श्री जयमंगल सिंह ने व्यास (पंजाब) में एक स्वतंत्र शाखा की स्थापना की। आपकी शिष्य-परम्परा में बाबा सावन सिंह हुए। उन्हीं की आज्ञा से रुहानी सत्संग की स्थापना सद्गुरु श्री कृपाल सिंह ने की। यद्यपि इस संतमत की स्थापना केवल २० वर्ष पूर्व सन् १९४८ ई० में हुई और तीन वर्ष बाद सन् १९५१ ई० में सावन-आश्रम की स्थापना गुड़मंडी, दिल्ली में हुई तथापि आज इस सत्संग का व्यापक रूप से प्रचार हो चुका है। प्रेम की धारा जो आपके हृदय में बह रही है, वह उसी का प्रताप है कि भारत के सभी वर्गों और जातियों व समाजों के अतिरिक्त यूरोप और अमेरिका के सभी मतों के ईसाइयों, इजराइल के यहूदियों, भारत, पाकिस्तान और अरब देशों के मुसलमानों, अफ्रिका एवं अमेरिका के हब्शियों, मलयेशिया तथा अन्य पूर्वी देशों के बौद्धों का प्रेम, प्यार और सम्मान आपको प्राप्त है। आपके दीक्षितों में विश्व के लगभग सभी देशों, जातियों, विचारधाराओं तथा समाज के लोग सम्मिलित हैं।

श्री कृपाल सिंह जी धर्मग्रन्थों के अध्ययन से इस नतीजे पर पहुँचे कि परमार्थ में सफलता के लिए गुरु का मिलना जरूरी है, पर हर वक्त मन में यह खटका लगा रहता है कि किसी अधकचड़े से वास्ता न पड़ जाए। इनके हृदय की सच्ची पुकार प्रभु ने सुनी और उस वक्त के संत सद्गुरु हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज का दिव्य स्वरूप इनके अन्तर में आने लगा। यह हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज के चरणों में जाने से सात साल पहले, सन् १९१७ ई०, की बात है।

हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज से मुलाकात भी एक विचित्र संयोग था। सन् १९२४ ई० की बात है। आप लाहौर में मिलिटरी एकाउण्ट्स दफ्तर में काम करते थे। नदी का तट देखने का शौक आपको व्यास नदी के तट पर ले गया। व्यास स्टेशन पर, जो अमृतसर और जालंधर के बीच स्थित है, जब आप उतरे तब मालूम हुआ कि नदी-तट पर संतों का डेरा है। आप वहाँ गए और हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज के चरणों में पहुँचते ही देखा कि यह तो वही दिव्य स्वरूप है, जो सात साल से मेरे अन्तर में पथ-प्रदर्शक रहा है।

३६ वर्ष की सरकारी नौकरी के बाद मार्च, १९४७ ई० में आपने अवकाश ग्रहण किया और उसके बाद से रात-दिन सतगुरु दयाल हुजूर बाबा सावन

सिंह जी महाराज के मिशन को पूरा करने में लगे हुए हैं। बाबा स्वयं २ अप्रैल, १९४८ ई० को जीवों के कल्याण का काम आपको सौंपकर परमधाम को सिधार गए। गुरु के आदेशानुसार सन् १९४८ ई० में आपने 'रुहानी सत्संग' और सन् १९५१ ई० में दिल्ली में 'सावन-आश्रम' की स्थापना की, जहाँ जात-पाँत, रंग-भेद, देश व समाज के भेदभाव के बगैर हरएक परमार्थाभिलाषी को आत्मतत्त्व-बोध का व्यक्तिगत अनुभव दिया जाता है।

सन् १९५५ ई० में आपने यूरोप, इंगलैंड, अमेरिका आदि देशों का भ्रमण किया और लोगों को आत्मानुभव की बातें कहीं। सन् १९६३ ई० में आपने दूसरी बार विश्व-यात्रा की और हाल ही तीसरी बार ५२ देशों के निमंत्रण पर फिर विश्व-यात्रा पर गए थे। सन् १९५७ ई० में आप सर्वसम्मति से विश्वधर्म-सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गए और आज तक इस अंतर्राष्ट्रीय संस्था के अध्यक्ष-पद पर बने हैं। आपकी अमृतवाणी सुनने का सौभाग्य मुझे हरिद्वार के अर्द्ध कुम्भ (अप्रैल, १९६८ ई०) मेले में प्राप्त हुआ था।

मानव-जाति के दुःख दूर करने और भारत के आध्यात्मिक पुनरुत्थान के हेतु आप एक सर्वतोमुखी आन्दोलन आरम्भ कर रहे हैं, जो जन-जीवन को हर पहलू से ऊँचा उठाएगा और मानव-हृदय से संकीर्णता और कठोरता को दूर कर प्रभु-प्रेम और विश्व-प्रेम की भावना का संचार करेगा, जिससे आपसी कलह, सांसारिक क्लेश और मानसिक अशान्ति मिटे तथा सुख और सौहार्द की व्यापकता बढ़े।

संतों के मिलन की व्याख्या करते हुए संत कृपाल सिंह जी कहते हैं—"दो तरह की ताकतें प्रभु की दुनिया में काम करती हैं—एक है काल और दूसरा है दयाल। इनके अपने-अपने काम हैं। जिस तरह सेनापति और प्रधानमंत्री बादशाह या राष्ट्रपति से ताकत लेते हैं, लेकिन काम अपना-अपना करते हैं, या जैसे बिजली है, जो कहीं आग जलाती है तो कहीं बर्फ जमाती है, लेकिन ताकत एक ही है; वैसे ही काल और दयाल दोनों के अवतार होते हैं। जब-जब धर्म की हानि होती है, तब-तब अधर्मियों का नाश करने के लिए और धर्मियों का उद्धार करने के लिए तथा दुनिया की स्थिति कायम रखने के लिए प्रभु मानव-रूप में अवतरित होते हैं। चूँकि इनका कार्य संहार करके सृजन करना है, इसलिए ये काल कहे जाते हैं। और, दयाल के अवतार का अर्थ है संत जन। उनका कार्य है जीवों को आवागमन से छुड़ाकर प्रभु के धाम

वापस ले जाना। काल के अवतार होते हैं दुनिया की स्थिति कायम रखने के लिए और संत जन (दयाल के अवतार) आते हैं दुनिया को गैर-आबाद करने के लिए। उनका काम है—**तुरत मिलावे राम से उन्हें मिले जो कोय।**

महापुरुष आकर हमें जगाते हैं; अपने-आप को एहसास (स्मरण) दिलाते हैं कि तुम आत्मा हो, शरीर के इस मकान के निवासी हो। इसका चलानेवाला कोई अन्य ही है, जो महानतम है। शरीर में तुम कायम हो किसी और ताकत के सहारे, जो इस जिस्म (शरीर) में तुम्हारा कण्ट्रोल (शासन) कर रही है, वरना नौ द्वार खुले पड़े हैं, यह (शरीर का निवासी) कब का न भाग जाए। लेकिन यह भाग नहीं सकता। साँस बाहर जाती है, किन्तु बाहर रह नहीं सकती। कोई ताकत उसे ढकेलकर वापस ला रही है। वह करण-कारण (कण्ट्रोलिंग पावर) सत्ता है, जो सबका प्रतिपालक और जीवनाधार है। वह परमात्मा है। उसको जानो। उससे जुड़ो।

दो भ्रू-मध्य आँखों के पीछे उस ज्योति-स्वरूप प्रभु की ज्योति को देखनेवाला बन जाओ। काम करते समय यह अनुभव तुम्हारे अंदर जाग उठे कि सब कुछ प्रभु कर रहा है; मैं कुछ भी नहीं करता। यह समझो कि मेरा किया कुछ न हो, जो हरि भावे सो हो।

संत जी कहते हैं कि जिस समाज में तुम हो, वह समाज तुम्हें मुबारक। अपने-अपने समाज में रहो। अपने-अपने रस्म-रिवाज और बोलचाल रखो। अपने-आप को जानो और प्रभु को पाओगे।[1]

७. सिक्ख-धर्म—सिक्ख-धर्म संतमत के बहुत निकट है। फर्क यह है कि यहाँ सुरत-योग की प्रक्रिया नहीं है। विश्व-कल्याण की भावना, निराकार ईश्वर की उपासना तथा गुरु-पूजा की दृष्टि से यह संतमत से मिलता-जुलता है। इस मत में दस गुरु हुए हैं। अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह जी ने गुरु की परम्परा समाप्त करते हुए कहा कि आगे से श्रीगुरु-ग्रन्थसाहिब जी सबके गुरु होंगे। अतः सिक्खों का धर्म-ग्रन्थ श्री गुरु-ग्रन्थसाहिब है। गुरु की भाँति ही उसके प्रति श्रद्धा रखने का आदेश है। बड़े-बड़े कोई १५०० पृष्ठों के गुरु-ग्रन्थ में आदि-गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं की वाणी है। संत कबीर, रैदास, नामदेव, धना, फरीद, भीखन, वेणी, सूरदास आदि संतों और भक्तों की वाणियाँ भी संगृहीत हैं।

---

1. **ओ इन्सान अपने को जानो** : हुजूर कृपाल सिंह

उनपर जो आचरण करेगा, वह तरे बिना नहीं रहेगा। आइए, हम उसकी हल्की सी झाँकी लें—

१. गुरु परमेसर एको जाणु।
गुरु परमेसर एको जाणु। जोति सु भावै सो परमाणु॥
गुरु चरणी जाका मनु लागे। दुखु दरदु भ्रमु ताका भागे॥
गुरु की सेवा पाए मानु। गुरु ऊपरि सदा कुरबानु॥
गुरु के सेवकउ दुखु न विआपे। गुरु का सेवक वहदिसि जापे॥
गुरु की महिमा कथनु न जाय। परब्रह्म गुरु रहिअ समाय॥
कहे नानक जाके पूरे भाग। गुरु चरणी ताके मत लाग॥

२. गुरु की मूरति मनमहि ध्यानु। गुरु के सबदि मंत्रु मनु मानु॥
गुरु के चरण रिदेलिए धारउ। गुरु परब्रह्म सदा नमस्कारउ॥
मत को भरमि भूलै संसारी। गुरु बिन कोइ न उतरति पारी।
कहु नानक प्रभु इहे जनाई। बिन गुरु मुक्ति न पाइए काई॥

३. गुरु मेरी पूजा गुरु गोविन्दु। गुरु मेरा परब्रह्म गुरु भगवन्तु॥
गुरु मेरा गिआनु गुरु रिद्धिआनु। गुरु गोपाल पुरुष भगवानु॥
गुरु बोहि उतारे भव पारि। गुरु सेवा जप न छुटकारि॥
अंधकार महि गुरुमंत्रु उजारा। गुरु के संगि सगल निसतारा॥
गुरु का सबदु न मेरे कोई। गुरु नानकु नानकु हरि होई॥

गुरु-ग्रन्थ की पूजा का अर्थ है, गुरु-ग्रन्थ की वाणी के अनुसार अपने जीवन को पवित्र साँचे में ढालना। उसे माथे से लगाने से, उसपर पखा झलने से ही उसका आदर नहीं होता। उसका सच्चा आदर हाता है उसके अनुसार अपना जीवन सुधारने से।

सिक्ख-धर्म में एक ईश्वर की उपासना की जाती है। गुरु-ग्रन्थ में परमेश्वर के बहुत-से नाम आए हैं; जैसे—हरि, राम, प्रभु, भगवान, विशन, ब्रह्म, गोविन्द, गोपाल, गोसाईं, ईश्वर, माधो, मुरारी, परब्रह्म, अल्लाह, करीम, रब्ब, रहीम, साहिब, मीतु, पिआरा, प्रीतम, वाहगुरु आदि।

प्रभु के असंख्य नाम हैं। इन नामों का स्मरण करने पर, इनका जप करने पर, सिक्ख-धर्म में बहुत जोर दिया गया है। यहाँ तक कहा गया है कि 'नाम न जपहिं ते आतमघाती'।

इस नाम-जप का, नाम-स्मरण का अर्थ यह है कि हम उस परमेश्वर को एक पल के लिए भी न भूलें। उसे सदा याद रखें। हरदम अपनी आँखों के आगे मानें और जब हम मानेंगे कि वह प्रभु सर्वव्यापी है, घट-घट का वासी है, हर जगह मौजूद है, फिर हमसे कोई गलत काम होगा तो कैसे होगा? जो आदमी भीतर और बाहर सर्वत्र भगवान के दर्शन करता है, उसका जीवन पवित्र हुए बिना रह सकेगा कैसे?

गुरु नानक का आदेश है—(१) नाम जपो, (२) कीरत करो, (३) वण्ड के छको, यानी पसीने की कमाई मिल-बाँटकर खाओ। जो ऐसा करते हैं उन्हीं को वाहगुरु का, परम प्रभु का प्रसाद मिलता है।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' का आरम्भ होता है जपुजी से। लोग मानते हैं कि आदिगुरु के सारे उपदेशों का सार इसमें समा गया है। सिक्ख नित्य उसका मंगल-पाठ करते हैं, उसे जपते हैं। आइए, जपुजी की एक झलक लें—

ऊँकार सतिनाम करता पुरखु निरभउ।
निरवैरु अकाल मुरति अजुनी सैभं गुरु प्रसाद।

यह है मंगलाचरण—

आदि सचु, जुगादि सचु, है भी सचु, नानक होसी भी सचु।

नानक कहते हैं कि सत्यरूप परमात्मा सदा से ही, आदि काल से हैं, युग-युग से हैं भूतकाल में थे, वर्तमान में हैं और भविष्य में भी रहेंगे। ऐसे हैं वह सत्यरूप परमात्मा।

गुरु-ग्रंथसाहिब के सुखमनी साहिब-अंश, जो शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंध कमिटी, अमृतसर से प्रकाशित हुआ है, नित्य के पाठ के काम में आता है।

संतमत संबंधी उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि संतों का एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद को आधार मानकर चलता है। सुरतयोग की साधना और गुरु को ईश्वर तुल्य समझकर पूजा या ध्यान करने का विधान संतमत में है। अतएव निर्गुण और एकेश्वरवादी होने के कारण मूर्ति-पूजा का वहाँ स्थान नहीं रहने पर भी साक्षात् गुरु की पूजा अथवा उसकी मूर्ति वा चित्र की पूजा या ध्यान का विधान है। इसी कारण आषाढ़ शुक्ल १५ को संतमत के अनुयायी श्रद्धापूर्वक गुरु-पूजा करते हैं। इन संतमतों में रामाश्रम-सत्संग की यह विशेषता है कि इस मत में सुरतयोग की साधना पर न तो जोर दिया गया है और न मूर्ति-पूजा का

विरोध ही किया गया है। गुरु में आस्था और ध्यान साधना के प्रमुख अंग माने गए हैं।

८. **स्वामी रामतीर्थ तथा महात्मा गांधी**—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने अपने विषय के सबसे उत्कृष्ट और संपन्न ग्रंथ 'उत्तर-भारत की संत-परम्परा' में स्वामी रामतीर्थ तथा महात्मा गांधी की गणना संतों की कोटि में की है। यह ठीक है कि जिनके स्थान पर पहुँचते ही मन के विकार नष्ट हो जाएँ तथा जिनके अंदर से हर समय आनंद और हर्ष की धाराएँ निकलती हुई अनुभव हों, उनको 'संत' कहते हैं। अतः संत की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार निस्संदेह स्वामी रामतीर्थ और महात्मा गांधी संत थे। निस्सदेह ये दोनों भारत के आकाश के उज्ज्वल नक्षत्र थे और इनका स्थान अनेक संतों के भी ऊपर है। किन्तु आज संत की जो परिभाषा की जाती है, उसके अंतर्गत ये नहीं आते।

पुराने संतों का कार्य समयानुसार अधिकतर धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रहा। उनका सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने का ढंग ही स्वभावतः उसी भावना से प्रेरित था। विश्व-कल्याण उन संतों का लक्ष्य रहा। उनका लक्ष्य कभी स्वार्थपरक नहीं रहा। उन लोगों ने आत्मानुभूति की अपेक्षा विश्व-कल्याण को हेय नहीं माना। आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण की सिद्धि साथ-साथ हो सकने में वे विश्वास रखते थे। और, उसी उद्देश्य को लेकर उन लोगों ने जीवन-भर कार्य किया। उनका जीवन उनके उपदेशों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण था। उनका सिद्धान्त था कि जहाँ सब समाज के भाई आपस में प्रेम-प्यार-सहित इकट्ठे मिल बैठें, वहाँ किसी एक या दूसरे समाज का कोई चिह्न-चक्र, रस्म-रिवाज या बंधन न रहे; सब अपने-अपने समाज में रहें, अपने-अपने रस्म-रिवाज और बोली रखें और इकट्ठे मिलकर अपने-आपको जानें, प्रभु को पहचानें। परमात्मा ने मनुष्यों को बनाया। मनुष्य ने समाज बनाया, इसलिए कि मनुष्य नेक-पाक सदाचारी जीवन व्यतीत करे, मनुष्य मनुष्य के काम आवे ताकि दुनिया में जीवन-यात्रा सुख से व्यतीत हो और सब मिलकर परमतत्त्व का अनुभव करें, अपने-आपको जानें और प्रभु को पहचानें।

इसमें संदेह नहीं कि महात्मा गांधी ने अपने कार्य-क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया था, और वे एक ही साथ समाज की सर्वांगीण उन्नति में लग गए

थे। अतः जन-कल्याण के दृष्टिकोण से यद्यपि संतमत तथा गांधीवाद के मौलिक सिद्धान्तों में कोई भी अन्तर नहीं है, न इन दोनों के प्रमुख साधनों में किसी प्रकार का भेद-भाव बताया गया है, तथापि गांधीवाद और स्वामी रामतीर्थ के विशुद्ध वेदान्त में न निराकार की उपासना की भावना है, न सुरतयोग के साधन की प्रक्रिया है और न गुरु-ध्यान का बंधन है, जो संतमत की आधारशिला रहा है। अतः इन दोनों महापुरुषों की गणना महात्माओं की कोटि में की जा सकती है, न कि संतों की कोटि में।



दूसरा परिच्छेद

आधुनिक काल का सिंहावलोकन

"भारत-सरीखे बड़े विस्तार और आबादीवाले देश में, जिसके आचार-विचार के विकास का इतिहास संसार में अति प्राचीन है, जिसके जनसमूह में समय-समय पर बाहरी सरिताएँ आकर मिलती गईं, धार्मिक संप्रदायों के अगणित विभाग होना अस्वाभाविक बात नहीं है। भारत में अनेक मत-मतान्तर हैं, जिनके अनुयायियों की संख्या और साहित्य नगण्य नहीं हैं; फिर भी आबादी का एक भारी अंश ऐसा भी है, जो अपने को किसी संप्रदाय, पंथ या मत में नहीं गिनता और अपने को साधिकार हिन्दू कहता है; क्योंकि वह किसी-न-किसी हिन्दू-जाति या बिरादरी का है। उसके चूल्हे-चौके, खान-पान, पर्व-त्योहार, जन्म, विवाह, प्रेत-कर्म, श्राद्ध आदि के काम-काज हिन्दू रीति-रस्म के साथ होते हैं। उन लोगों का धर्म भी हिन्दू-धर्म है, जिसके अनुसार वे किसी देवी या देवता की पूजा और भजन भी करते हैं, जिसमें परमात्मा, परमेश्वर, भगवान या प्रभु की भावना भरी होती है। उनके यहाँ नवरात्रों में दोबारा नवदुर्गा की पूजा होती है, साथ-साथ रामनवमी, गंगा-दशहारा, श्रावणी, जन्माष्टमी, पितृपक्ष, विजयादशमी, दीपावली, प्रबोधिनी एकादशी, कार्तिक पूर्णिमा, संक्रान्ति, वसंत-पंचमी, शिवरात्रि, होली आदि पर्व-त्योहार और व्रत मनाए जाते हैं और विविध देवताओं की पूजा होती है। ऐसे लोगों को साधारणतया 'स्मार्त' कहते हैं। स्मृति कोई संप्रदाय या पंथ नहीं है। इसे साधारण जन-समुदाय का धर्म समझना चाहिए।"[1]

भारत की हिन्दू-जनता को हम सात धार्मिक विभागों में बाँट सकते हैं :—

(१) वे, जो देवी-देवताओं को पूजते हैं, पर्व-त्योहार मनाते हैं और कुछ आवश्यक संस्कार करते हैं तथा अपना कोई उपास्य देव अथवा विशेष दार्शनिक भाव या प्रवृत्ति नहीं रखते। ऐसे हिन्दुओं की संख्या सबसे अधिक है।

---

1. श्री रामदास गौड़ : हिन्दुत्व, पृ० ७५३

(२) वे, जो सभी देवी-देवताओं को पूजते हैं, सभी पर्व-त्योहार मनाते हैं और मुख्य-मुख्य संस्कार भी करते हैं, परन्तु साथ-साथ अपना कोई विशेष उपास्य देव भी नहीं मानते हैं; उनका भजन करते हैं और विशेष दार्शनिक भाव या प्रवृत्ति भी रखते हैंयद्य—पि अपने को किसी विशेष पंथ या संप्रदाय का अनुयायी नहीं समझते या बताते ।

(३) वे, जो किसी विशेष संप्रदाय या मत के अनुयायी हैं और उसी के अनुकूल अपना आचार-विचार और व्यवहार रखते हैं। उन संस्कारों, व्रत-त्योहारों, उत्सवों और सिद्धान्तों या दार्शनिक विचारों को मानते हैं, जो उनके संप्रदाय, पंथ या मत के अनुकूल पड़ते हैं ।

(४) एक समुदाय सुधारवादी हिन्दुओं का है, जिसमें राधास्वामी, कबीर-पंथी आदि सम्मिलित हैं, जो निराकार ईश्वर की उपासना करते हुए गुरु एवं गुरु-वाक्यों का आदर करते हैं, गुरु का ध्यान और उनकी पूजा करते हैं, उन्हें ईश्वर मानते हैं, किन्तु वेदान्तियों में विशेष आस्था नहीं रखते । सिक्ख-धर्म इसी कोटि का है ।

(५) एक ऐसे वर्ग के हिन्दू जन हैं, जो आर्य-समाजी कहे जाते हैं, जो देवी-देवताओं, अवतार आदि को नहीं मानते, किन्तु निराकार ईश्वर की उपासना करते और वेद को ईश्वर का वाक्य समझते हैं ।

(६) एक समुदाय शुद्ध वेदान्तियों का है, जो अपने को ही ईश्वर मानता है : सोऽहमस्मि और अपने शुद्ध स्वरूप की उपासना करता है। इस समुदाय का ३. उपासना-मंत्र ओम् सोऽहम् आदि है ।

(७) एक विभाग उन लोगों का है, जो जन्म से तो हिन्दू-परिवार के अंग हैं, परन्तु अपने को अनीश्वरवादी कहते हैं और किसी तरह का धार्मिक बंधन नहीं मानते ।[1]

उपर्युक्त सात प्रकार के हिन्दुओं में प्रथम चार ही इस ग्रंथ से संबंधित हैं; क्योंकि ये स्पष्टतया प्रतीक-पूजक होते हैं। इनकी सम्मिलित संख्या लगभग ८५% से ९०% है। इनमें प्रथम तीन ही आज हिन्दू-धर्म की रीढ़ हैं। ये उपवास, व्रत तथा तीर्थयात्रा में विश्वास एवं आस्था रखते हैं। इनका विश्वास

1. **विश्वधर्म-दर्शन**, पृ० ४०५-६

है कि तीर्थाटन करने से पुण्य-लाभ के साथ-साथ आत्मा की उन्नति और बुद्धि का विकास होता है, बहुदर्शिता और उदारता की भावना आती है, सत्संग और अनुभव से ज्ञान बढ़ता है तथा पापों से मुक्ति पाने के भाव मन में उदित होते हैं। इन सबके अतिरिक्त इन्हें समस्त देश के प्राकृतिक स्वरूप तथा सौंदर्य का दर्शन कर आनंद प्राप्त होता है और विभिन्न प्रदेशों के लोगों से मिलकर इन्हें एक-दूसरे को जानने-समझने का मौका मिलता है और सर्वोपरि इनके बीच राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत होती है।

प्रथम तीन समुदायों में व्रत और उपासना की बड़ी महिमा है। प्राचीन काल में तो अतिकृच्छ्र और चान्द्रायण सदृश बड़े कठोर व्रत भी किए जाते थे। अतिकृच्छ्र में केवल एक कौर भोजन किया जाता था। वह नौ दिनों का व्रत होता था। चान्द्रायण व्रत पूर्णिमा को पन्द्रह कौर पायस खाकर आरम्भ किया जाता है। उसके बाद प्रत्येक दिन एक-एक कौर कम खाया जाता है। उसके बाद फिर पन्द्रह दिनों के बाद अर्थात् अमावास्या से एक-एक कौर क्रम से भोजन बढ़ाया जाता है। फिर पूर्णिमा को पन्द्रह कौर भोजन पूर्ण करने का विधान है। इस प्रकार यह व्रत एक महीने का होता है। विरले ही कोई इसे करते हैं। विष्णु, राम या कृष्ण के अनुयायी वैष्णव लोग प्रतिमास दोनों एकादशियों को व्रत रखते हैं। इस व्रत में फल, कंद-मूल एवं दूध का भोजन करते हैं। शैव भी महीने में दो बार त्रयोदशी को शिवरात्रि-व्रत रखते हैं और विवाहित स्त्रियाँ अपने चिरसौभाग्य के लिए द्वादशी को प्रदोष-व्रत रखती हैं।

ध्येय के विचार से व्रत तीन प्रकार के होते हैं—

(क) जिस व्रत के न करने से दोष लगता है, वह नित्य है; जैसे वैष्णवों के लिए एकादशी।

(ख) जो किसी विशेष फल के लिए किया जाता है, वह नैमित्तिक व्रत है।

(ग) किसी विशेष कामना से तिथि-विशेष पर जो व्रत किया जाता है, वह काम्य व्रत है।

चारों वर्णों और आश्रमों के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को व्रत रखने का अधिकार है। व्रतारम्भ में संयम और संकल्प आवश्यक है। व्रती को व्रत-कथा भी सुनना अनिवार्य है, यद्यपि विरले ही कोई व्यक्ति इसका पालन करता है।

व्रतारम्भ के समय अशौच हो जाए तो व्रत जारी रखना वर्जित है। किसी कारण से कोई व्रत न किया जा सके तो प्रतिनिधि द्वारा यह कराया जा सकता है। पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रतिनिधि हो सकते हैं। कोई ब्राह्मण भी, विशेषतः परिवार का पुरोहित, निष्क्रिय-द्रव्य लेकर प्रतिनिधि बन सकता है। इसका ज्वलन्त उदाहरण छठ-व्रत है, जिसका अनेक लोग कर्मी-व्रती को अपना प्रतिनिधि मानकर निर्वाह करते हैं।

प्रमुख व्रत

(१) **वैष्णव-व्रत**—(क) रामनवमी—श्रीरामचन्द्र जी का जन्म-दिवस (चैत्र-शुक्ल नवमी), (ख) कृष्णाष्टमी—भगवान श्रीकृष्ण का जन्म-दिवस (भाद्र कृष्ण अष्टमी), (ग) वामन-द्वादशी—भगवान वामन का जन्म-दिवस (भाद्र-शुक्ल एकादशी), (घ) वर्ष के प्रत्येक मास की दोनों एकादशी तिथियाँ (सभी एकादशियों में कार्त्तिक शुक्ल-पक्ष की एकादशी, जो देवोत्थान एकादशी के नाम से प्रसिद्ध है, सर्वमान्य है और इसे अनेक स्मार्त्त मनाते हैं)।

(२) **शिव-संबंधी**—प्रत्येक मास की द्वादशी को प्रदोष-व्रत और त्रयोदशी को शिवरात्रि-व्रत होता है। फाल्गुन मास की शिवरात्रि महाशिवरात्रि है। अनेक स्मार्त इस शिवरात्रि-व्रत को मनाते हैं। श्रावण मास विशेष रूप से शिवमास समझा जाता है। इसके प्रति सोमवार को पूजन तथा उत्सव होते हैं और उनमें स्त्री-पुरुष समान रूप से बड़े ही उल्लास से भाग लेते हैं।

(३) **विष्णु-शिव सम्मिलित पर्व**—कार्त्तिक-शुक्ल चतुर्दशी वैकुण्ठ चतुर्दशी के नाम से प्रख्यात है। इस तिथि को विष्णु और शिव की पूजा एक साथ होती है। यह समन्वयवादी व्रत है। परन्तु इस व्रत के माननेवालों की संख्या न्यून है।

(४) **देवी-संबंधी व्रत**—चैत्र तथा आश्विन मास के शुक्लपक्ष के प्रथम नौ दिन 'नवरात्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। नौ दिन देवी का धूमधाम से पूजन कर दशमी को भव्य जुलूस के साथ जल में उनका विसर्जन किया जाता है। बंगाल, असम तथा बिहार में यह उत्सव बड़े ही उत्साह के साथ मनाया जाता है। आश्विन का नवरात्र तो व्यापक रूप से मनाया जाता है और हिन्दू-धर्म के हर वर्ग के लोग इसमें सम्मिलित होते हैं।

माघ शुक्ल पंचमी को सरस्वती की पूजा बड़ी श्रद्धा के साथ की जाती है और साथ-साथ वसंतागमन का उत्सव भी हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता

है। इसीलिए यह वसंत पंचमी के नाम से भी पुकारा जाता है। विद्यार्थी-समाज इस पर्व को विशेष रूप से मनाता है। स्कूलों तथा कॉलेजों में छात्र सरस्वती को भव्य मूर्तियाँ स्थापित कर उनकी पूजा करते तथा प्रसाद का वितरण करते हैं। फिर दूसरे दिन सभी एकत्र हो उन मूर्तियों का जुलूस निकालते हैं और अबीर-गुलाल उड़ाते हुए अंत में उन्हें जल में प्रवाहित कर देते हैं।

अनेक स्थलों पर वैशाख-शुक्ल नवमी को सीताजी की जन्म-तिथि का उत्सव भी मनाया जाता है।

(५) **सूर्य-व्रत**—प्रत्येक संक्रांति को सौर्य-संप्रदायवाले सूर्य की उपासना करते हैं, किन्तु मुख्य संक्रांति माघ और वैशाख मासों की क्रमशः मकर तथा मेष नक्षत्रों की ही हैं, जिन्हें सभी लोग किसी-न-किसी रूप में मनाते हैं। इस त्योहार में नदी-स्नान और दानादि का माहात्म्य है। रविवार सूर्य का दिन है, अतः अनेक हिन्दू रविवार को भोजन के साथ किसी भी रूप में नमक का व्यवहार नहीं करते। निस्संदेह सूर्य की पूजा स्वास्थ्य-वर्द्धन के लिए की जाती है और सप्ताह में एक दिन नमक न खाने का भी यही उद्देश्य है। सूर्य की पूजा से आध्यात्मिक वृद्धि नहीं होती। कार्त्तिक-शुक्ल षष्ठी को, जो बड़ी नेम-निष्ठा एवं पवित्रता के साथ छठ-पर्व मनाया जाता है, उसकी भी उपादेयता अनेकानेक चर्मरोगों, जिनमें प्रधानतया कुष्ठरोग है, से छुटकारा पाना ही है। फिर भी विहार में लोग इस पर्व को बड़े भक्ति-भाव से मनाते हैं। सूर्य-षष्ठी को दिन-भर निर्जला उपवास रखकर संध्या में डूबते सूर्य को पहला अर्घ्य देते हैं और सप्तमी के प्रातः-काल बाल सूर्य-दर्शन एवं उसकी रश्मियों का जल के माध्यम से स्पर्श करते हुए दूसरा अर्घ्यदान कर व्रत की समाप्ति करते हैं। सूर्य के विषय में शास्त्रों का वचन भी है : **आरोग्यं भास्करादिच्छेदं।**

(६) **गणेश-पर्व**—ऐसे तो प्रत्येक मास की चतुर्थी तिथि गणपति की तिथि है, किन्तु विशेष करके भाद्र-शुक्ल चतुर्थी अधिक प्रसिद्ध है। महाराष्ट्र में तो यह समारोह के साथ मनाई जाती है।

(७) **अन्य पर्व**—अन्य पर्वों में अनन्त चतुर्दशी (भाद्र-शुक्ल चतुर्दशी), यम-द्वितीया-व्रत (कार्तिक-शुक्ल द्वितीया) तथा तीज-व्रत (भाद्र-शुक्ल तृतीया) महत्व-पूर्ण हैं। यम-द्वितीया विशेष रूप से भाई-बहन का पर्व है। इस दिन बहन

भाई की पूजा करती है और उसकी कलाई में राखी बाँधकर उसकी दीर्घायु और जीवन-रक्षा की कामना करती है तथा अन्त में अपने हृदय का प्रेम उसे मिष्टान्न खिलाकर प्रकट करती है। बहन के इस निष्कपट और गहरे प्यारके प्रतिफल भाई आनंद से भर उठता है और अपनी प्रिय तथा बहुमूल्य वस्तु उसे उपहार में दे डालता है। तीज-व्रत सुहागिन स्त्रियाँ ही करती हैं; क्योंकि यह उनका सौभाग्यवर्द्धक और सुहाग-रक्षक महान व्रत समझा जाता है। स्त्रियाँ इस तिथि के दिन और रात निर्जला उपवास कर दूसरे दिन सबेरे अच्छे पकवान बनाकर पति के साथ ग्रहण करती हैं। पति-पत्नी का यह पुण्य पर्व हिन्दू-परिवार में बड़े आदर के साथ मनाया जाता है। आश्विन कृष्णाष्टमी को केवल संतान-वती नारियाँ 'जीवत्पुत्रिका'-व्रत रखती हैं। आश्विन का पूरा कृष्ण पक्ष पितृ-पक्ष कहलाता है और अमावास्या को विशेष रूप से पिण्डदान और तर्पण किया जाता है। इस अवसर पर नैष्ठिक हिन्दू गया जाकर वहाँ के पंडों द्वारा पितृ-श्राद्ध की क्रिया पूर्ण करते हैं। ऐसा विश्वास है कि गया की प्रेतशिला पहाड़ी पर पिण्डदान एवं फल्गु नदी के किनारे श्राद्ध करने पर और उसके जल से तर्पण करने पर पितर पितृ-लोक से उद्धार पा जाते हैं।

सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण एवं संक्रांति के दिन पर्व के दिन समझे जाते हैं। ऐसे अवसरों पर पवित्र स्थलों के जलाशयों एवं नदियों में स्नान कर दान करने की महत्ता है। कोई-कोई उस दिन उपवास, जप और श्राद्ध-क्रिया भी संपन्न करते हैं। मुख्य-मुख्य स्थलों पर उत्सव मनाया जाता है और मेला लगता है। ग्रहण के दिन कुरुक्षेत्र (दिल्ली) के वृहत् जलाशय में स्नान करने से हिन्दू लोग अपने को पाप-मुक्त समझते हैं। संक्रांति में गंगा और गोदावरी का स्नान सबसे पवित्र माना जाता है।

तीर्थ और तीर्थ-यात्रा

पद्मपुराण में तीन प्रकार के तीर्थ कहे गए हैं—(१) जंगम, (२) स्थावर और (३) मानस। पवित्र स्वभाववाले ब्राह्मण और सवकामप्रद गाय जंगम तीर्थ हैं। गंगादि नदियाँ, पवित्र सरोवर, अक्षयवटादि वृक्ष, गिरि-कानन, समुद्र, काशी आदि पुरियाँ स्थावर तीर्थ हैं। सत्य, क्षमा, शम, दम, दया, दान, संतोष, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, धैर्य, तपस्या आदि मानस तीर्थ हैं। इसी पुराण के अनुसार पृथ्वी पर साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं। किन्तु मुख्य तीर्थ (१) बदरीनारायण,

(२) द्वारका, (३) रामेश्वरम् तथा (४) जगन्नाथपुरी—ये चार धाम हैं। ये भारत की चारों दिशाओं की सीमाओं पर स्थित हैं; अतः इनकी यात्रा करने से समस्त भारत की परिक्रमा हो जाती है।

(१) अयोध्या, (२) मथुरा, (३) माया (हरिद्वार), (४) काशी, (५) कांची, (६) अवंतिका (उज्जैन) तथा (७) द्वारका की गणना मोक्षदायिनी पुरियों में है।

प्रयाग तीर्थों का राजा और पुष्कर तीर्थों का गुरु माना जाता है।

शिव के स्थानों में (१) अमरनाथ (काश्मीर), (२) केदारनाथ, (३) पशुपतिनाथ (नेपाल), (४) विश्वनाथ (काशी), (५) वैद्यनाथ (देवघर, बिहार), अरुणाचल (मद्रास), (७) ओंकारनाथ (मध्यभारत), (८) सोमनाथ (सौराष्ट्र, गुजरात) तथा (९) महाकाल (उज्जैन) सबसे प्रमुख हैं।

देवी के स्थानों में (१) कामाख्या (आसाम), (२) काली (कलकत्ता), (३) गुह्येश्वरी (नेपाल), (४) विंध्याचल (उत्तर-प्रदेश), (५) मीनाक्षी (मदुरा), (६) कन्याकुमारी (केप कॉमोरिन) तथा (७) चामुण्डी (मैसूर) मुख्य तीर्थ हैं।

विष्णु-संबंधी तीर्थों में (१) बदरीनारायण, (२) अयोध्या, (३) मथुरा, (४) द्वारका, (५) जगन्नाथपुरी, (६) विष्णुपद (गया) और (७) श्रीरंगम् (मद्रास) मुख्य हैं।

प्रत्येक तीन वर्ष पर मलमास (अधिमास) आता है। इस मास में राजगीर (बिहार) के कुंडों में स्नान का विशेष महत्त्व है। लाखों भावुक हिन्दू स्नानार्थ राजगीर जाते हैं।

नदियों में गंगा, यमुना, सरयू, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा तथा कावेरी परम, पवित्र तीर्थ मानी जाती हैं। सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र के बृहत् तालाब में स्नान का विशेष माहात्म्य है।

पुण्य-लाभ होने के अतिरिक्त तीर्थाटन करने से आत्मा की उन्नति और बुद्धि का विकास होता है। बहुदर्शिता और उदारता की भावना उदित होती है; सत्संग और अनुभव से ज्ञान बढ़ता है तथा पापों से बचने की प्रेरणा जगती है। इससे समस्त देश के प्राकृतिक स्वरूप के दर्शन का सुयोग मिलता है और विभिन्न प्रदेशों के लोगों के परस्पर मिलने-जुलने से राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती है।[1]

---

1. **विश्वधर्म-दर्शन**, पृ० ४१०-११

उत्सव और त्योहार

चैत्र-शुक्ल नवमी आठवें अवतार भगवान राम का जन्म-दिवस है। राम-भक्त इसे बड़े उत्साह से मनाते हैं, इस दिन व्रत रखते हैं और पूजा करते हैं। उत्तर-भारत का, और विशेषकर मिथिला तथा अयोध्या का, यह महत्त्वपूर्ण त्योहार है। इसी महीने में चैत्र-शुक्ल १५ से संवत्-वर्ष आरंभ होता है।

श्रावणी पूर्णिमा विशेषकर ब्राह्मणों का पर्व है। इस दिन वे रक्षा-बंधन द्वारा अन्य वर्णों के लोगों को आशीर्वाद देते हैं। ब्राह्मण-परिवार में इस दिन कलश-स्थापना होती है।

भाद्र-कृष्ण अष्टमी भगवान कृष्ण का जन्म-दिन है। अनेक हिन्दू इस दिन व्रत रखते हैं और कृष्ण-जन्म का समय (आधी रात) व्यतीत होने पर भोजन करते हैं। वृन्दावन, राजस्थान और गुजरात में इसका अधिक महत्त्व है। श्रावण के शुक्ल पक्ष में तो वे कृष्ण की चल मूर्ति को झूले पर झुलाते हैं, जिस उत्सव को 'झूलन' कहा जाता है।

आश्विन का कृष्ण पक्ष पितरों का पर्व है। इस पक्ष में भावुक हिन्दू अपने पितरों को पिण्डदान करते हैं। अन्तिम दिवस, जो 'महालया' के नाम से प्रसिद्ध है, सबसे महत्त्वपूर्ण दिवस है। गया में श्राद्ध करने का बहुत महत्त्व है। लाखों हिन्दू पिण्डदान के लिए गया जाते हैं।

आश्विन-शुक्ल प्रतिपदा से नवमी तक नवरात्र माना जाता है। इसमें दुर्गा की मूर्ति की स्थापना और पूजा होती है और दशमी को नदी या पोखरे में उसका विसर्जन किया जाता है।

आश्विन-शुक्ल दशमी को, जो 'विजयादशमी' के नाम से विख्यात है, श्रीरामचन्द्र ने रावण से युद्ध के लिए प्रस्थान किया था। इस दिन अनेक क्षत्रिय शस्त्रों की पूजा करते हैं। यह सर्वसाधारण के उल्लास और उत्सव का दिन है। जनता इस पर्व को मनाती है। इन दिनों जगह-जगह रामलीला समारोह के साथ की जाती है। विजयादशमी के दिन नीलकंठ पक्षी का दर्शन शुभ माना जाता है। कार्त्तिक-अमावास्या को दीपमालिका-उत्सव होता है। इस अवसर पर घर-घर की सफाई होती है और रंग विरंग की सजावटों से उसका कलेवर बदल दिया जाता है। व्यापारी-वर्ग उस दिन महालक्ष्मी की पूजा करते हैं। रात में घर-घर में सैकड़ों दीप जल उठते हैं। बच्चे पटाखे छोड़ते हैं और

फुलझड़ियाँ लेकर नाचते हैं। जिधर देखें उधर आनंद का ही नजारा मिलता है। वैश्य-समाज के लिए यह नए साल की शुरुआत है। अतः वे नए बही-खाते खोलते हैं और हानि-लाभ की आजमाइश जुआ खेलकर करते हैं। उस दिन जुआ खेलना कानूनन वर्जित नहीं है।

वसंत के आगमन के उपलक्ष्य में माघ-शुक्ल पंचमी को वसंतोत्सव मनाया जाता है। उस दिन गृह-लक्ष्मियाँ तरह-तरह के पकवान बनाती हैं। छात्रगण अपने-अपने विद्यालयों में सरस्वती-पूजा समारोह के साथ करते हैं और फल एवं मिष्टान्न का प्रसाद-वितरण करते हैं। फाल्गुन-पूर्णिमा को होलिका-दहन होता है और दूसरे दिन चैत्र कृष्ण प्रतिपदा को रंग और गुलाल के साथ होलिकोत्सव मनाया जाता है। निम्नवर्ग के लोग डंफ और झाल बजाकर गीत गा-गाकर मदमस्त हो झूम उठते हैं। शाम में गोधूलि की वेला में नगर और गाँव में घूम-घूमकर लोग नए वर्ष में प्रवेश करने के लिए भेद-भाव भूलकर सम्मिलित रूप से जीवन-यापन करने का आह्वान करते हैं। कुटुम्बजन एक-दूसरे के घर जाकर मिलते हैं और उनके यहाँ बने पकवान खाते हैं। हिन्दू समाज में यह एक ऐसा दिन है जब लोग ऊँच-नीच का भेद-भाव भूलकर एक-दूसरे से समान स्तर पर मिलते हैं और एक-दूसरे के चेहरे पर गुलाल मलते हैं। सामर्थ्य के अनुसार सभी नए उज्ज्वल वस्त्र पहनते हैं। फिर भी देखा जाता है कि हमारे देश में इतनी निर्धनता है कि अधिकतर निर्धन मजदूर-वर्ग के लोग गंदे तथा फटे-पुराने कपड़ों पर ही होली का आनंद लूटते हैं।

महाराष्ट्र का गणेशोत्सव, बंगाल की दुर्गा-पूजा, उड़ीसा की रथ-यात्रा, द्रविड़-देश का पोंगलमास और मिथिला का शरत्पूर्णिमा-कोजागरी-महोत्सव ऐसे त्योहार हैं, जा क्षेत्रीय विशेषता रखते हैं।

विभिन्न देव-देवियों में समन्वय की भावना

विभिन्न संप्रदायों के आपसी भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न प्राचीन काल से होता आ रहा है। कबीर, सूर, तुलसी आदि दूरदर्शी संतों ने भी समन्वय का प्रबल आन्दोलन उठाया और अपनी आवाजें बुलंद कीं। सांप्रदायिक फूट और विरोध से होनेवाली हानियों को खूब समझकर ही शंकराचार्य ने अनेक संप्रदायों का खण्डन करके अपने स्मार्त्त-मत में सबका समन्वय किया। अतः आधुनिक काल में स्मार्त्त-मत समन्वयवादी है। भारत की ७५% जनता स्मार्त्त है और

विभिन्न देवी-देवताओं का समान रूप से आदर करती है और बिना भेद-भाव के पूजा करती है।

आधुनिक काल के देवता

शिव

विभिन्न देवताओं में शिव की पूजा आज भारत में सर्वव्यापक है। "उत्तर में कैलास-मानसरोवर से लेकर दक्षिण में श्री लंका तक और पश्चिम में द्वारका से लेकर पूर्व में मणिपुर तक कितने स्थानों में और कितने रूपों में शिव-शिवा की आराधना होती है, यह कहना संभव नहीं है। यहाँ तक कि योगीजनों ने इन्हें हृदय में देखा और शिवोऽहं कहने में परमानंद प्राप्त किया, भोगियों ने इसमें भोग पाया और साधकों ने गुरु पाए। देव, असुर, यक्ष, किन्नर, नाग, पुरुष, स्त्री, महर्षि, शूद्र आदि सबने समान श्रद्धा से इनकी आराधना की। गाँव-गाँव में लोगों ने इनकी स्तुति और प्रशंसा में गीत बनाए और सारा भारत शिवमय हो उठा।"[1]

सुदूर बाली-द्वीप (इण्डोनेशिया) में सभी हिन्दू-धर्मावलंबी, जो वहाँ ब्राह्मण-पंडित कहलाते हैं, शैव हैं। वे शिव-माहात्म्य प्रकाशक ब्रह्मपुराण को अत्यन्त गुह्य-शास्त्र समझकर सुरक्षित रखते हैं और ब्राह्मणों को छोड़कर किसी अन्य जातिवालों को वह ग्रंथ नहीं दिखलाते। उनका विश्वास है कि ब्रह्माण्ड-पुराण ही पुराण है और किसी पुराण का संसार में अस्तित्व नहीं है।

ब्रह्म के दो रूप हैं—निष्क्रिय और सक्रिय। अशेष कारण-रूप में यह निष्क्रिय है, कूटस्थ है। जब इसमें स्वभाव से स्पन्दन या क्षोभ उत्पन्न होता है, तब यह सक्रिय ब्रह्म कहलाता है। यह मूल स्पन्दन या मूल क्षोभ ही शिव का नृत्य है।

निष्क्रिय ब्रह्म शिव है और सक्रिय ब्रह्म माया है, किन्तु प्रपंच की सृष्टि, स्थिति और संसार-रूपी नृत्य में निष्क्रिय और सक्रिय में कोई भेद नहीं रह जाता। निष्क्रिय सक्रिय और सक्रिय निष्क्रिय बन जाता है। कभी पार्वती द्रष्टा बन जाती है और शिव नृत्य करते हैं तो कभी शिव द्रष्टा रहते हैं और पार्वती नृत्य करती हैं। कभी तो दोनों का सम्मिलित नृत्य होता है। सृष्टि का प्रवर्तन, शिवा का लास्यनृत्य (कोमल नृत्य) और इसका निवर्तन शिव का

1. डॉ० जनार्दन मिश्र : **भारतीय प्रतीक-विद्या**, पृ० ९०

ताण्डव (उद्धत नृत्य) कहा जाता है। किन्तु यह यथार्थ में ब्रह्म के स्वभाव, उसकी नित्य इच्छा, नित्य क्रिया अर्थात् नित्य आनंद का कल्लोल है।

नटेश, नटेश्वर या नटराज की मूर्ति और चित्र की कल्पना नाना प्रकार से की जाती है और पुराण, स्तोत्र तथा काव्यों में इनके नाना प्रकार के वर्णन पाए जाते हैं। मंदिरों और गुफाओं में इनके बहुत-से उत्कीर्ण और रँगे हुए चित्र तथा मूर्तियाँ मिलती हैं। असम-राज्य में कामाख्या के मंदिर में महाकाल की मूर्ति दीवार के साथ बनी हुई है। नालंदा की खुदाई में भी ऐसी मूर्ति मिली है। किन्तु इन सबमें प्रसिद्ध दक्षिण-भारत के चिदम्बरम् की मूर्ति है।[1]

मुसलमानों के आने के पूर्व भारत में शिव की उपासना लिंग और मूर्ति दोनों रूपों में होती थी। अनेक मंदिरों में शिव की मूर्ति प्रतिष्ठित थी। ह्यु एन-सांग ने अपने यात्रा-विवरण में वाराणसी में ताम्र की विशाल शिवमूर्ति का का उल्लेख किया है। किन्तु आज शिव-पूजा सर्वत्र लिंग-रूप में है। चिदम्बरम्, दशपुर तथा कतिपय अन्य स्थानों में स्थापित मूर्तियाँ अपवाद-स्वरूप हैं। केदारनाथ की गणना द्वादश ज्योतिर्लिंगों में की जाती है, किन्तु वास्तव में यह न मूर्ति का रूप है और न लिंग का। यह एक-डेढ़ हाथ चोड़े, चार हाथ लंबे और दो हाथ ऊँचे प्रस्तर के टीले के समान है।

चिदम्बरम् में नटराज के रूप में शिव की प्रतिमा है। इसका प्रतिरूप भारत के डाक-विभाग के टिकट पर भी प्रसारित हो चुका है।

दशपुर (मंदसौर) की अष्टमुखी शिव-प्रतिमा, जिसकी तोल लगभग १२५ मन है और ऊँचाई ६ फुट तथा मोटाई ११ फुट है, एक ऐसी अद्भुत शिला से निर्मित है, जिसके वर्ण-वैचित्र्य को देखकर यह आभास होता है कि कहीं शिला विविध रंगों से रंजित तो न की गई है। संपूर्ण भारत तो क्या, विश्व में ऐसी भव्य और आश्चर्यजनक मूर्ति कहीं दृष्टिगोचर होना असंभव है। इस भव्य प्रतिमा को देखकर यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि यह त्रयोदश ज्योतिर्लिंग है।

राम

नर को नारायण-रूप में देखना और नारायण को नरत्व प्रदान करना भारतीय संस्कार और सभ्यता की मनोहर, किन्तु अद्भुत विशेषता है। पूर्ण

1. डॉ० जनार्दन मिश्र, **भारतीय-प्रतीक विद्या** : पृ० ८५

ब्रह्म परमात्मा को राम या कृष्ण के रूप में और राजा राम अथवा ग्वाले कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म के रूप में देखकर प्रत्येक भारत-संतान का रोम-रोम पुलकित हो जाता है।

वाल्मीकि ने भगवान राम पर नरत्व का कुछ कठोर आवरण-सा डाल दिया है और सारी रामायण में उन्हें एक सर्वगुण-संपन्न महापुरुष के रूप में दिखलाया है। इनके नारायणत्व के विषय में केवल यत्र-तत्र संकेत-मात्र है और विद्वानों का मत है कि अवतारवाद के सिद्धान्त के मान्य होने पर राम को अवतार-रूप में प्रदर्शित करने के उद्देश्य से भक्तों ने जहाँ-तहाँ प्रक्षिप्त अंश मिला दिए तथा बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड की रचना कर डाली, यद्यपि आरंभ में वाल्मीकि कृत रामायण के केवल पाँच काण्ड थे।

राम आज अनेक हिन्दुओं के हृदय पर विष्णु के अवतार के रूप में प्रतिष्ठित हो गए हैं, यद्यपि तुलसीदास के रामचरित-मानस के आधार पर कुछ भक्त राम को विष्णु का अवतार न मानकर ब्रह्मा विष्णु-शंकर के रचयिता के रूप में देखते हैं। जो भी हो, शिव के सदृश राम की पूजा सर्वदेशीय न होकर विशेषतया बिहार और पूर्वीय उतर-प्रदेश तक सीमित है, यद्यपि देश के अन्य अंचलों में भी यत्र-तत्र राम के उपासक तथा राम के मंदिर मिलेंगे। राम-भक्त रामानंद-संप्रदाय के अनुयायी होते हैं और अयोध्या, सीतामढ़ी, चित्रकूट और जनकपुर उनके मान्य तीर्थस्थान हैं।

संस्कृत भाषा में वाल्मीकीय रामायण, लोमस-रामायण, मंजुल रामायण, सौपद्य रामायण, रामायण-महामाला, सौहार्द रामायण, रामायण-मणिरत्न, सौर्य रामायण, चान्द्र रामायण, मैन्द रामायण, स्वायम्भू रामायण, सुब्रह्म रामायण, सुवर्चस रामायण, देव रामायण, श्रवण रामायण, दुरन्त रामायण, रामायण-चम्पू, आनन्द रामायण, अद्‌भुत रामायण आदि की रचना हुई है। इनके अतिरिक्त महाभारत में भी वनपर्व में रामायण की पुरानी कथा गाई गई है। पुराणों में भी रामायण की कथा आई है। ब्रह्माण्ड-पुराण में जो रामकथा वर्णित है, वही अलग करके अध्यात्म-रामायण के नाम से प्रकाशित हुई है। प्रायः समस्त क्षेत्रीय भाषाओं में भी छोटे या बड़े रूप में रामकथा आई है। इनमें बँगला भाषा की कृत्तिवास-रामायण, तेलुगु को रंगनाथ-रामायण और तमिल की कम्ब-रामायण का हिन्दी-अनुवाद भी आज प्राप्य है। इनमें कम्ब-रामायण की

भाषा अति प्रवाहपूर्ण, ओजस्विनी तथा आलंकारिक है। कवि ने अपनी रचना में संस्कृत तथा तमिल-अलंकारों और मुहावरों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है।

जनकनंदिनी सीता की पूजा और उनके मंदिर प्रायः राम-मंदिर के अंग हैं, किन्तु आमली (जयपुर) और सीतामाडी (कोटा) में सीता के स्वतंत्र मंदिर हैं। राम के उपासक अनिवार्य रूप से सीता के उपासक होते हैं। कहा गया है कि राजीवलोचन की प्राणवल्लभा के प्रसाद के बिना सांसारिक वैभव, कैवल्य-मुक्ति एवं परमपद—इन तीनों वैभवों में से जीव-मात्र के लिए किसी भी प्रकार के कल्याण की प्राप्ति नितान्त असंभव है। अतः भक्त अनिवार्य रूप से युगल-जोड़ी की उपासना करते हैं। सीतोपनिषद् ही एकमात्र उपनिषद् है, जिसमें सीता को आदिशक्ति ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश से पूजित दिखलाया गया है। श्रीरामचरित्र दास जी ने संस्कृत-भाषा में 'जानकी-चरितामृत' की रचना की है। संस्कृत में रामचरित-संबंधी अनेक ग्रन्थ आज प्राप्य हैं। देश की विभिन्न भाषाओं में भी रामचरित की रचना हुई है। हिन्दी-भाषा तो रामचरित तथा सीताचरित से भरपूर है। इनमें तुलसीकृत रामचरितमानस अद्भुत ग्रंथ है। उत्तर-भारत की हिन्दी-भाषी जनता में जितना रामचरितमानस का प्रचार है, उतना किसी दूसरे ग्रंथ का नहीं। इसमें उपनिषदों और गीता के महावाक्य प्रसंगवश यत्र-तत्र मिलते हैं।

यद्यपि राम के भाइयों की उपासना प्रचलित नहीं है, तथापि जहाँ-तहाँ उनके मंदिर मिलते हैं। इनमें ऋषिकेश का भरत-मंदिर बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ से लगभग तीन मील पर लक्ष्मण-झूला के पास का लक्ष्मण-मंदिर प्रसिद्ध है; किन्तु भरतपुर का विशाल लक्ष्मण-मदिर एकमात्र मंदिर है, जहाँ लक्ष्मण के साथ उर्मिला की मूर्ति है। शत्रुघ्न का मंदिर मुझे त्रिवेन्द्रम् (केरल) को छोड़ अन्यत्र कहीं नहीं मिला। इन मंदिरों में श्रद्धावान् भावुक हिन्दू दर्शनार्थ जाते हैं और विधिपूर्वक पूजा करते हैं।

कृष्ण

राम के सदृश कृष्ण भी पूर्ण ब्रह्म के आविर्भूत रूप हैं। आरंभ से अंत तक कृष्ण में नरत्व और नारायणत्व इस प्रकार ओतप्रोत हैं कि इनमें विभेद करना कठिन है। कृष्ण-चरित्र में नरत्व और ब्रह्मत्व अलग हो नहीं सकते।

जिन्होंने कृष्ण को ब्रह्म-रूप में देखा, उन्हें सिद्धि और मुक्ति मिली और जिन्होंने केवल मनुष्य-रूप में देखा, उन्होंने धोखा खाया। श्रीकृष्ण-चरित्र से महाभारत, और विशेषकर उसका परिशिष्ट-अंश, हरिवंश तथा श्रीमद्भागवत-पुराण भरे-पड़े हैं। श्रीमद्भागवत-पुराण का दसवाँ स्कन्ध तो एकमात्र श्रीकृष्ण-चरित्र ही है। घर-घर इस दसवें स्कन्ध का प्रचार है। श्रीगोपालोत्तर तापिन्युपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म एक है दो नहीं। माया से वह चार हो जाता है। अकारात्मक बलराम विश्व है, उकारात्मक विश्व-तेज है, मकारात्मक अनिरुद्ध (कृष्ण के पुत्र) प्रज्ञा है और अर्धमात्रात्मक कृष्ण है, जिसमें सबकी स्थिति है। रुक्मिणी जगत को बनानेवाली कृष्णात्मिका मूल प्रकृति है। वेद-रूप गोपियों से उत्पन्न ज्ञान-संगत कृष्ण है। प्रणव-रूप होने के कारण ब्रह्मवादी प्रकृति-रूप भी कहते हैं। इसलिए गोपाल विश्वव्यापी ऊँकार-रूप है। महाभारत में कृष्ण का उल्लेख एक आचारवान्, सर्वप्रिय, सत्यवादी, अद्वितीय योद्धा तथा राजनीतिज्ञ के रूप में आया है। हरिवंश-पर्व में, जो बहुत बाद की रचना है और जो स्पष्टतः महाभारत का खिल-पर्व है, कृष्ण की बाल-लीला का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। इसकी पुष्टि श्रीमद्भागवत-पुराणान्तर्गत दसवें स्कन्ध द्वारा की गई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वृन्दावन-लीला का प्रचार बहुत पीछे महाभारत के निम्नलिखित श्लोक के आधार पर हुआ—

श्रीकृष्ण द्वारकावासिन् गोप-गोपी-जनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥

चिंतामणि विनायक वैद्य सदृश विद्वानों की राय है कि महाभारत का वर्तमान स्वरूप ईसवी सन् से लगभग २५० वर्ष पूर्व मिला। वैद्य महोदय का कथन है कि "वर्त्तमान महाभारत के समय तक यही धारणा थी कि गोपियाँ श्रीकृष्ण से केवल निर्विषय प्रेम करनेवाली परम भक्ता थीं; परन्तु धीरे-धीरे भक्ति-मार्ग में जब भक्ति की मीमांसा होती है तब संभव है कि भक्ति की उपमा उस प्रेम से दी गई हो, जो असती का जार से होता है।"[1]

भारत के धार्मिक इतिहास में 'राधा' का प्रादुर्भाव एक अद्भुत घटना है। गोपाल-तापिन्युपनिषद् में कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी जगत को बनानेवाली

1. **भारत-मीमांसा**, पृ० ८९८९

कृष्णात्मिका मूल-प्रकृति है। कालान्तर में रुक्मिणी का स्थान स्पष्ट रूप से राधा ले लेती है और रुक्मिणी पीछे पड़ जाती है और यह भावना कि श्री कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं और उनकी शक्ति राधा माया है, जो उनकी चिरसंगिनी है, पुष्ट हो जाती है। सूरदास का कथन है कि राधा और कृष्ण सुन्दरता, त्रिगुण और महारस की चरमसीमा हैं। राधोपनिषद् में कहा है : "बुद्धिमानों को उचित है कि नित्य कृष्णचन्द्र का ध्यान करें, उनकी पहली प्रकृति राधिका नित्या, निर्गुण, सर्वालंकार-शोभित, प्रसन्न, सब प्रकार के लावण्य से सुन्दर है। हमलोगों का जन्म इनके अधीन है। इनके अंश से बहुत-से विष्णु, रुद्रादि उत्पन्न होते हैं। मानसिक पूजा, ध्यान, कीर्त्तन, स्तुति इत्यादि सब कुछ मानसिक अनुभूति द्वारा उनकी अगाध महिमा के सुख-सिंधु से उत्पन्न नित्य (अविनाशी) पद प्राप्त होता है। और किसी से नहीं, और किसी से नहीं, और किसी से नहीं। यह वेद-वचन है, यह वेद-वचन है।"[1]

श्रीकृष्ण या युगलमूर्ति राधा-कृष्ण की पूजा विशेष रूप से बंगाल, बिहार, उत्तर-प्रदेश और राजस्थान में प्रचलित है, यद्यपि कुण्डलपुर, अमलनेर-सदृश कुछ मंदिरों में राधा के स्थान पर युगलमूर्ति कृष्ण-रुक्मिणी की प्रतिमा पाई जाती है। निम्बार्क और वल्लभ-संप्रदाय के अनुयायी पश्चिम भारत में और चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी पूर्व भारत में विशेष रूप से राधा-कृष्ण के भक्त हैं। वल्लभ-संप्रदाय कृष्ण के बाल-रूप की आराधना करता है। इस संप्रदाय का गुजरात में विशेष प्रचार है। इसके अनुयायी गुरु को ईश्वर मानते हैं और 'जय श्रीकृष्ण' तथा 'जय गोपाल' से परस्पर अभिवादन करते हैं। वल्लभ-संप्रदायवाले मंदिरों में विविध प्रकार के पक्वान्न और फल भगवान कृष्ण को भोग लगाए जाते हैं और पुजारियों तथा मंदिर के सेवकों द्वारा प्रसाद के रूप में भक्तों के बीच बेचे जाते हैं। उदयपुर (नाथद्वारा) का 'राजभोग' प्रसिद्ध है। वृन्दावन राधाकृष्ण-भक्तों का प्रमुख तीर्थ है।

राधा

राधावल्लभी संप्रदाय में राधा की प्रधानता है। राधारानी महाशक्ति और स्वामिनी हैं। भगवान कृष्ण उनके आज्ञानुवर्ती हैं। उनकी आज्ञा से ही

1. **राधोपनिषद्**, तृतीय परिपाठ।

विश्व की सृष्टि, भरण और हरण होता है। स्वामी हितहरिवंश जी ने संवत् १६४२ के लगभग वृन्दावन में इस संप्रदाय की स्थापना की। वृन्दावन में राधा-वल्लभ स्वामी का मदिर मौजूद है, जो इस उप-संप्रदाय का मुख्य स्थान है। राधा-वल्लभ की उपासना इसकी विशेषता है।

स्वामी नारायणी संप्रदाय के अनुयायी भी राधा-कृष्ण की युगलमूर्ति के उपासक हैं। इसके प्रवर्त्तक स्वामी नारायण ने ऊँच-नीच के भेद को त्यागकर सभी जातियों के लिए पंथ का द्वारा खोल दिया। इस्लाम-मतावलंबी खोजा लोगों को भी इस पंथ में स्वीकार किया। इसके अनुयायी अधिकांशतः मूर्ति के स्थान पर चित्रपट की पूजा करते हैं और गृहस्थ-जीवन-यापन करते हैं। इनका दार्शनिक मत विशिष्टाद्वैत है, परन्तु उपासना-विधि वल्लभ-संप्रदाय की है।

राधाकृष्ण के उपासक परिणामी संप्रदाय के भी हैं। सर्वधर्म-समन्वय इनका लक्ष्य है। इनका मत राधावल्लभी-जैसा है। यह संप्रदाय भगवान कृष्ण की साख्य-भाव की उपासना की शिक्षा देता है।

विष्णु

ऋग्वेद के मंत्रों में विष्णु का नाम अपेक्षाकृत कम स्थानों में पाया जाता है। वेद में 'विष्णु' सूर्य का पर्यायवाचीहै। उत्तर-वैदिक काल में विष्णु त्रिदेवों के साथ—संसार के पालनकर्त्ता देवों में—देव के रूप में आदृत हुए और उनकी मर्यादा अद्यावधि अक्षुण्ग बनी रही। विष्णु के उपासकों में विष्णुस्वामी का संप्रदाय सबसे प्राचीन है। विष्णुस्वामी ने लोक-रुचि के अनुकूल वैष्णव-संप्रदाय की नींव डाली। मूर्तिपूजा प्रचलित हो चुकी थी। अतः उन्होंने विष्णु के प्रतिमा-पूजन को ही शास्त्र-सम्मत बतलाया। उन्होंने काया-कष्ट को निरर्थक और विष्णु के नाम-स्मरण को मोक्ष का साधन बतलाया। उनका उपदेश ब्राह्मणों तक ही सीमित था। अतः यह मत सर्वव्यापी नहीं हो सका। विष्णु की भक्ति के सबसे महान प्रवर्त्तक रामानुजाचार्य हुए। आपने शंकर के अद्वैत मत के विरोध में विशिष्टाद्वैत मत का प्रचार किया। इस संप्रदाय-वाले लक्ष्मी तथा विष्णु और उनके अवतारों की पृथक्-पृथक्, किंवा युगल-रूप में उपासना करते हैं। यद्यपि श्रीराम पर विशिष्ट भाव रखते हैं तथापि विशेष रूप से विष्णु और उनकी पराशक्ति लक्ष्मी की ही उपासना करते हैं।

रामानुज के मतानुसार ध्यान और उपासना मुक्ति के साधन हैं; ज्ञान मुक्ति का साधन नहीं है। मुक्ति-प्राप्ति का उपाय भक्ति है और भवगान के चरणों में आत्म समर्पण करने से जीव को शान्ति एवं मुक्ति मिलती है। भगवान की प्रसन्नता से ही मोक्ष मिलता है। इस संप्रदाय का ज्यादा प्रचार दक्षिण में है, जहाँ अनेक भव्य मूर्तियाँ विशाल मदिरों में स्थापित हैं। इन मंदिरों में प्रमुख श्रीरंगम्, त्रिवेन्द्रम्, चिदम्बरम्, विष्णु-कांची, बदरीनारायण और त्रिपुरी के बालाजी के मंदिर हैं। रामानुज-संप्रदाय के वैष्णवों के ये मान्य तीर्थस्थल हैं।

लक्ष्मी के मंदिर यत्र-तत्र विष्णु मंदिर के सान्निध्य में पाए जाते हैं। किन्तु स्वतंत्र रूप से महालक्ष्मी के मंदिर कोल्हापुर, बंबई, वाटर, तिरुनामेश्वर तथा मन्नागुडी में हैं। बंगाल को छोड़ स्वतंत्र रूप से लक्ष्मी-पूजा का प्रचलन अन्यत्र नहीं है। यह कौतूहल की बात है कि बंगाल में विष्णु-पूजा की प्रधानता न होने पर भी लक्ष्मी-पूजन प्रचलित है।

गणेश

गणेश की मूर्ति साक्षात् ओंकार-सी प्रतीत होती है। शास्त्रों में गणेशजी ओंकारात्मक माने गए हैं। अतः ओंकारात्मक होने के कारण गणेश की सब देवताओं में अग्रिम पूजा की जाती है। कोई शुभ कार्य आरंभ करने पर पहले गणेश को नमस्कार किया जाता है।

गणपति के उपासकों का भाव है कि महागणपति (परमात्मा) ने अपनी इच्छा से अनंत विश्व में अनंत ब्रह्माण्ड रचे और हर ब्रह्माण्ड में अपने अंश से त्रिमूर्ति प्रकट की। उसी दृष्टि से सभी संप्रदायों के हिन्दुओं में सभी मंगल-कार्य के आदि में गौरी-गणेश की पूजा होती है। यात्रा के आरंभ में गणेश का स्मरण किया जाता है। पुस्तक, पत्र, बही-खाता आदि प्रारंभ करने के पहले श्रीगणेश का स्तवन या श्री गणेशायनमः लिखने की पुरानी प्रथा चली आती है। विश्वास है कि समस्त विघ्नों का नाश करने की शक्ति गणेश में विद्यमान है। इसलिए गृह-प्रवेशद्वार पर गणेश की मूर्ति की स्थापना की जाती है।

प्राचीन काल में गणपति का उपासक एक विशिष्ट संप्रदाय था, जो गाणपत के नाम से पुकारा जाता था। महाराष्ट्र के पेशवा लोग गणपति के उपासक थे। अतएव आज भी बंगाल की दुर्गा-पूजा और सरस्वती-पूजा की भाँति, महाराष्ट्र में

भाद्र-शुक्ल चतुर्थी को गणपति-पूजा बड़े समारोह के साथ की जाती है। गणेश-चौथ-व्रत तो सारे भारत में मान्य है। मोरेश्वर क्षेत्र (मोरेगाँव) गाणपत्य संप्रदाय का प्रधान पीठ है। गणपति के मंदिर सारे भारत देश में मिलते हैं। तिरुचिरापल्ली में पहाड़ के ऊपर (जिसको 'गोल्डेन रॉक' कहते हैं) सबसे प्रसिद्ध गणेश-मंदिर है। गणेश का सबसे बड़ा मंदिर हम्पी में है, जिसकी मूर्ति बारह हाथ ऊँची है।

सुब्रह्मण्यम् (स्वामी कार्तिकेय)

स्वामी कार्तिकेय पुराणों में शिव के ज्येष्ठ पुत्र दर्शाए गए हैं। ये देवताओं के सेनापति माने जाते हैं। दक्षिण-भारत में इनका नाम सुब्रह्मण्यम् है। दक्षिण के मंदिरों में सुब्रह्मण्यम् को प्रमुख स्थान प्राप्त है। शिव और विष्णु के मंदिरों की प्रभृति सुब्रह्मण्यम् के अनेक विशाल मंदिर बने हुए हैं। उत्तर-भारत में इनका एकमात्र मंदिर अमृतसर-पठानकोट रेलवे-मार्ग के बटाला स्टेशन से चार मील दूर अंचलेश्वर में है। यहाँ स्वामी कार्तिकेय के नाम से इनकी मूर्ति स्थापित है। जो स्थान दक्षिण में सुब्रह्मण्यम् को प्राप्त है, वह उत्तर-भारत में गणेश को है।

ब्रह्मा

ब्रह्मा संसार के रचयिता माने जाते हैं, किन्तु पुष्कर (अजमेर) के सिवा इनका अन्य कोई प्रसिद्ध मंदिर नहीं है; यद्यपि त्रिवेन्द्रम में एक मंदिर का निर्माण केवल ब्रह्मा की मूर्ति के लिए हुआ है। इसके अतिरिक्त जोधपुर जिले के ओसिया में अनेक देवताओं के साथ ब्रह्मा की मूर्ति है और उसी जिले के खेर में ब्रह्मा का मंदिर है। गुजरात के खेर-ब्रह्मा स्टेशन के पास एक विशाल मंदिर में ब्रह्मा की चतुर्मुखी मूर्ति है। ब्रह्मा-संबंधी प्रसिद्ध पुष्कर-तीर्थ राजस्थान के अजमेर नगर से लगभग ७ मील दूर है। अनेक हिन्दू ब्रह्मा के दर्शन एवं पूजन के लिए पुष्कर जाते हैं। [अजमेर नगर में भारत के मुसलमानों का सबसे प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ एक पहुँचे हुए फकीर ख्वाजा हसन चिश्ती की कब्र है।]

सरस्वती

सरस्वती स्पष्टतया वैदिक देवता है।

उतस्यानः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्त्तनि। वृत्रघ्नो वष्टि सुष्टुतिम्

—ऋग्वेद, मण्डल ६, सूत्र ५, मंत्र ६१।७

अर्थात् किरणों (हिरण्य) का रथवाली, वृक्ष का नाश करनेवाली, घोर-रूपिणी सरस्वती हमारी सुन्दर स्तुति को स्वीकार करें।

सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी हैं। इसी कारण माघ-शुक्ल पंचमी (वसन्त-पंचमी) को सरस्वती की पूजा विशेष रूप से विद्यार्थी-समाज में प्रचलित है। सरस्वती की सुन्दर भव्य मूर्ति, जो हाथ में वीणा लिए हंस पर विराजमान रहती है और जिसके सामने सफेद कमल-दल खिले रहते हैं, बनाकर सभी छात्रगण एवं शिक्षक-समुदाय उनकी पूजा विधिपूर्वक बड़ी श्रद्धा के साथ करते हैं और दूसरे दिन गाजे-बाजे एवं उनकी जय-ध्वनि के साथ उन्हें पवित्र जल में प्रवाहित कर देते हैं। सरस्वती देवी संगीत-विद्या की भी अधिष्ठात्री हैं, इसलिए इनके कर-कमलों में एक वीणा सदा विराजमान रहती है। यह देवी वास्तव में सादी जिन्दगी और ऊँचे विचार की प्रतीक हैं।

संपूर्ण भारत में सरस्वती का स्वतंत्र मंदिर कहीं देखने को नहीं मिलता।

दुर्गा

नारी-देवताओं में दुर्गा का स्थान सर्वोपरि है। शाक्तमत की तो यह आधार-शिला हैं। भारत के विभिन्न अंचलों में दुर्गा के विभिन्न रूपों की मूर्तियाँ मिलती हैं। दुर्गोपासना का सर्वप्रधान ग्रंथ दुर्गा-सप्तशती है। यह मार्कण्डेय-पुराण के ८१ से ८३ अध्याय तक है। इसमें ५६७ श्लोकों को ७०० मंत्रों में विभक्त किया गया है, इसलिए इसे दुर्गा-सप्तशती कहते हैं। दुर्गा-सप्तशती में दुर्गोपासना का जिस प्रकार विधान किया गया है, उसमें मानव-बुद्धि और समाज के गूढ़तम सिद्धान्त सन्निहित हैं। आध्यात्मिक और लौकिक शक्ति के उद्भव और विकास के—स्थूल, सूक्ष्म और परे—जितने रूप हो सकते हैं, उनके प्रपंचात्मक तथा आध्यात्मिक सभी पक्षों पर विचार किया गया है और उनकी साधना की रीति बताई गई है।

''दुर्गा की प्रतिमा समस्त शक्ति अर्थात् राष्ट्र-शक्ति का प्रतिरूप है। जो व्यक्ति और व्यक्तियों का सम्मिलित रूप राष्ट्र, शारीरिक रूप—बल, संपत्ति-बल और ज्ञान-बल—से सिंह-सदृश हैं, उस व्यक्ति में, उस राष्ट्र पर दुर्गा (शक्ति) प्रकट होती है। राष्ट्र को पशुबल (कार्तिकेय), संपत्ति-बल (लक्ष्मी) और ज्ञान-बल (सरस्वती) अवश्य चाहिए, किन्तु बुद्धिहीन के लिए बल, संपत्ति और ज्ञान निरर्थक ही नहीं, वरन् आत्म-संहार के लिए प्रबल अस्त्र सिद्ध होते हैं। इसलिए मनुष्यता के आदिदेव, बुद्धि के महाकाय (गणपति) वर्तमान है, जिनकी

विशाल बुद्धि (शरीर) के भार के नीचे सभी विघ्न (चूहे) विवश रहते हैं। सभी दिशाओं में फैली हुई राष्ट्रशक्ति ही राष्ट्र की दो, चार, आठ, दस, सहस्र और अनंत तथा असंख्य भुजाएँ हैं और सब प्रकार के उपलब्ध अस्त्र-शस्त्र ही, दिक्पालों के अस्त्र-शस्त्रादि, इनके आयुध हैं। कोई व्यक्ति और राष्ट्र ऐसा नहीं है, जिसका विरोध न हो। यही महिष है, जिसकी शक्ति सर्वदा संहार करती रहती है। दुर्गा के रूप में यह भारत-शक्ति की उपासना है।"[1] मधु-कैटभ की कथा में समाज की आदिम अविकसित अवस्था का चित्र है। इस अवस्था में व्यक्तिगत पशुबल अर्थात् शारीरिक बल काम करता है, बुद्धि काम नहीं करती।

दुर्गा-सप्तशती में बारंबार यही दिखाने की चेष्टा की गई है कि देवी विश्व-व्यापिनी और एक हैं और उनकी इच्छा से उनके असंख्य रूप हो जाते हैं।

यंत्र-प्रतीक पर भी सभी देवताओं की तरह देवी की पूजा होती है। यंत्र और प्रतिमा एक ही भावना के भिन्न-भिन्न प्रतीक हैं।

महादुर्गा के विभिन्न रूपों में काली की पूजा विशेष रूप से बंगाल में प्रचलित है। काली-तत्त्व का विवरण अप्रकाशित उपनिषद् के गुह्यषोढान्यसोप-निषद् में आया है। कहा गया है कि जिसे महालक्ष्मी के नाम से संबोधित करते हैं, वह सर्वाङ्गसुन्दरी, त्रिपुरासुन्दरी, 'षोडशी' हैं। इनके और भी अगणित नाम हैं; जैसे—महाश्री, चंड, चंडी, चंडिका, चामुण्डी, भद्रकाली, नाना प्रकार की काली, दुर्गा, महेश्वरी, त्रिगुणा, भगवान की पत्नी, भगवती, परा आदि।

"काली के एक हाथ में सद्यश्छिन्न मुण्ड है, जिससे रक्त-बिन्दु टपकता रहता है। यह महापुरुष का मुण्ड है। यह अज्ञान अथवा मोह, विष्णु के हिरण्याक्षादि, शिव के त्रिपुरारि, दुर्गा के महिषादि और बुद्ध के मार है। विद्या और अविद्या की क्रियाओं के कारण सृष्टि का संकोच और वि[illegible] होता रहता है। अविद्या जीवन के प्रधान उद्देश्य महानंद अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति का बाधक है। इसलिए साधकों से आत्म-दर्शन के लिए इसका सर्वदा शिरश्छेद होता रहता है। इससे सर्वदा रक्त-बिंदुओं का टपकना, इसकी निरंतर क्रियाशीलता का परिचायक है।

1. भारतीय प्रतीक-विद्या, पृ० १७७

"देवी के कटिभाग में शवों के हाथों की माला लटकती हुई है। आधुनिक युग के राम, कृष्णादि की तरह महाज्ञानी जीवन-मुक्त साधक ही शव हैं, जिनकी वासनाओं के नष्ट हो जाने के कारण वे निश्चल वृत्तिवाले रूप को ग्रहण कर चुके हैं। वासना-शून्य उनका हृदय ही काली का श्मशान है, जिसमें वह नृत्य करती है। इन्हीं शवों के कर्म-बंधन के प्रतीक उनके हाथ हैं, जिन्हें छिन्न कर करुणामयी माँ आत्मसात् कर लेती है, जिससे उसके भक्तों को तत्त्व-प्राप्ति हो।"[1]

दुर्गा के समान विभिन्न रूप किसी देवता के नहीं हैं। एक ओर वह अन्न-पूर्णा के रूप में भक्तों की कामना पूर्ण करती हैं, तो दूसरी ओर दुर्गा के रूप में शत्रुओं का वध करती हैं।

दुर्गा के विभिन्न रूपों के भारत में अनेक मंदिर हैं, जहाँ भिन्न भिन्न प्रकार से उनकी पूजा और उपासना की जाती है। देवी के विख्यात मंदिर हैं—(१) वैष्णवी देवी, जम्मू-कश्मीर; (२) विन्ध्यवासिनी देवी, विन्ध्याचल, उत्तर-प्रदेश; (३) गुह्येश्वरी देवी, नेपाल; (४) काली, कलकत्ता; (५) कामाख्या, असम; (६) चामुण्डी, मैसूर, तथा (७) कुमारी, कन्या कुमारी।

सूर्य

ऋग्वेद में सूर्य का देवताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिककाल में सूर्य की उपासना विशेष रूप से प्रचलित थी। प्रसिद्ध गायत्री-मंत्र सूर्य-परक है। ऋग्वेद में (७।६२।२), कौषितकी ब्राह्मण-उपनिषद् में (२।७), आश्वलायन गृह्यसूत्र में और तैत्तिरीय आरण्यक में सूर्योपासना के स्तोत्र, विधियाँ आदि दी हुई हैं। वेद में विष्णु सूर्य का पर्यायवाची शब्द है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण सूर्य को परमात्मा का प्रतिरूप मानते हुए अन्य देवों को सूर्य के अधीन मानता है। सूर्य को अपना इष्टदेव और सर्वोपरि देवता मानने-वाले व्यक्ति 'सौर' कहलाते हैं। विशुद्ध सौर की संख्या आज भारत में नगण्य है। ये लोग गले में स्फटिक-माला और ललाट पर रक्तचंदन का तिलक तथा लाल फूलों की माला धारण करते हैं। ये अष्टाक्षर मंत्र जपते हैं और रविवार को तथा संक्रांति को नमक नहीं खाते। सूर्य के दर्शन किए बिना वे जल

---

1. भा. तीय प्रतीक-विद्या, पृ० १९

ग्रहण करना भी पाप समझते हैं। अतएव वर्षा-काल में उन्हें बहुत कष्ट होता है। संभवतः इसी कारण उनकी संख्या नगण्य हो गई है। सौर-मतावलंबी सूर्य-मंत्रादि के जप को ही मोक्ष का साधन मानते हैं।

आज अनेक स्त्री-पुरुष शारीरिक व्याधियों और चर्म-रोगों से त्राण पाने के लिए सूर्य-व्रत तथा सूर्योपासना करते हैं।

भारत में पहले सूर्य की उपासना मंत्रों द्वारा होती थी। किन्तु, जब मूर्ति-पूजा का चलन आरंभ हुआ, तब सूर्य को प्रतिमा भी यत्र-तत्र स्थापित हुई। उत्कल-प्रदेश (उड़ीसा) में सूर्योपासना का विशेष रूप से प्रचार था। कोणार्क में एक विश्वविख्यात सूय-मंदिर है, जिसको 'कोणादित्य' कहते हैं। ब्रह्मपुराण के अट्ठाईसवें अध्याय में इसी तीर्थ तथा एतत्संबंधी सूर्य-पूजा का वर्णन है। काश्मीर में मार्तण्ड (सूर्य) की मूर्ति का भग्नावशेष मिला है। सुदूर जावा द्वीप (इण्डोनेशिया) में भी सूर्य की रथारूढ़ मूर्ति मिली है।

इन बातों से ज्ञात होता है कि सौरमत का प्रचार कभी भारत में खूब था; किन्तु इस समय स्वतंत्र सूर्योपासकों का प्रायः अभाव-सा है। फिर भी भारत में सूर्य-पूजा की आज भी काफी प्रतिष्ठा है। पंचदेवों और नवग्रहों में उनका प्रमुख स्थान है। सभी स्मार्त उनकी पूजा करते हैं। कार्त्तिक-शुक्ल षष्ठी और सप्तमी को तो अनेक हिन्दू विशेष रूप से सूर्य की पूजा करते हैं। प्रतीत होता है कि विष्णु की पूजा परमात्मा के रूप में प्रचलित हो जाने पर स्वतंत्र रूप से सूर्य की उपासना मंद पड़ गई।

सूर्य के मंदिर आज देव (गया), सहनिया (छत्रपुर), गलताजी (जयपुर), शंखोद्धार-तीर्थ (झालावार), आसिया (जोधपुर), आरसघिल्ली तथा सूर्यनार कोइल में हैं।

हनूमान (महावीर)

यह भारतीय परंपरा की विशिष्टता है कि जिस विग्रह की प्रधान रूप से उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का प्रतीक बन जाता है और अन्य देवतागण उस रूप के उपासक बन जाते हैं। शिव की पूजा विष्णु और विष्णु की पूजा शिव करते हैं और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश सभी सरस्वती, काली, कृष्णादि की पूजा करते हैं। किन्तु हनूमान इसके महत्वपूर्ण अपवाद हैं। कहीं भी हनूमान को ब्रह्म का प्रतीक नहीं माना गया है। किन्तु भगवान राम के परमप्रिय भक्त के

रूप में हनूमान की उपासना होती है। कहीं भी परब्रह्म से उनका तादात्म्य संकेत-रूप से भी नहीं किया गया है। भारत की धार्मिक परंपरा में यह अद्भुत बात है। इसी कारण हनूमान-संबंधी न कोई उपनिषद् है और न किसी ग्रंथ की ही रचना की गई है।

हनूमान की उपासना विशेष रूप से उत्तर-भारत में है और राम-उपासक विशेष रूप से हनूमान-उपासक पाए जाते हैं, यद्यपि अनेक स्मार्त भी हनूमान की आराधना करते हैं।

हनूमान के मुख्य मंदिर वाराणसी में संकटमोचन, अयोध्या में हनूमानगढ़ी; रैनवाल (जयपुर) और पुनरासर (बीकानेर) बहुत प्रसिद्ध हैं। सूचीन्द्रम (केरल) में हनूमान की एक विशाल मूर्ति है, जिसपर गुलाब-जल चढ़ाया जाता है। कहा जाता है कि यह गुलाब-जल विक्षिप्त, पागल और अपस्मार (मृगी) के रोगियों का उपचार है। हाल ही में रामवन-सतना में हनूमान जी की विशाल मूर्ति की स्थापना हुई है।

शाक्तमत

शाक्तमत की व्यापकता भारत में विशेष रूप से थी, किन्तु अब शुद्ध शाक्तों की संख्या काफी घट गई है। शाक्तमत के प्रधान पीठ उड्डीयान (उत्कल), जालंधर (पंजाब), श्रीशैल (आंध्र), काठमाण्डू (नेपाल) और असम रहे हैं। इनमें सबसे प्रबल केन्द्र कामरूप (कामाख्या, असम) और उसके निकटवर्ती स्थान रहे हैं। यहाँ शाक्तमत विशेष रूप से प्रचलित रहा है। कामरूप में देवी त्रिपुरा-सुन्दरी की पूजा होती है। पूजा वस्तुतः नारी-योनि की होती है। इस योनि के प्रतीक के चारों ओर नव-योनियों का चित्र रहता है। संपूर्ण प्रतीक को श्री-काकरा कहा जाता है। इन शाक्तों की दो श्रेणियाँ हैं—(१) कौलिक और (२) समयायिन। कौलिक मूर्ति अथवा चित्र की पूजा करते हैं और समयायिन निराकार की। कौलों में दो वर्ग हैं—पूर्व-कौल और उत्तर-कौल। पूर्व-कौल योनि के चित्र की पूजा करते हैं और उत्तर-कौल जीवंत सुन्दरी युवती की योनि की पूजा करते हैं। पूजा के समय मांस, मत्स्य, मदिरा आदि का सेवन करते हैं और इनका व्यवहार पूजा की प्रमुख सामग्री के रूप में करते हैं। वे योनि को 'भैरवी-चक्र' की संज्ञा देते हैं। पूजा के समय जात-पाँत का विचार नहीं

किया जाता। सभी जाति के पूजक उस समय ब्राह्मण समझे जाते हैं, पर पूजा के पश्चात् सभी अपनी-अपनी जाति में गिने जाने लगते हैं।

असम-प्रदेश में ही नहीं, बल्कि सारे भारत में कामाख्या के मंदिर की विशेष मान्यता है। यह गौहाटी से दस मील दूर पहाड़ पर अवस्थित है। पुराणों की कथा के अनुसार सती की योनि यहाँ गिरी थी। अतः कामरूप-पीठ (कामाख्या) 'योनि-पीठ' के नाम से प्रसिद्ध है और मंदिर में कोई मूर्ति नहीं है। मंदिर के भीतर गुफा है। गुफा के एक कोने में पत्थर है, जिसपर योनि का चित्र अंकित है। उसी स्थान से निकला हुआ झरना निरंतर उस योनि-प्रतीक को सिंचित करता रहता है।

कामाख्या के मंदिर के अतिरिक्त इस क्षेत्र में घंटाकरण, तारा, भैरवी, भुवनेश्वरी आदि के मंदिर प्रसिद्ध हैं। असम में अम्बुवती (अमेती)-पर्व प्रतिवर्ष आषाढ़ के आरंभ में मनाया जाता है। यह देवी के रजोदर्शन का पर्व है। यह तीन दिनों तक रहता है। ऐसा समझा जाता है कि इन दिनों तक देवी का रजोदर्शन होता है। अतः इस अवधि में मंदिर का दरवाजा बंद रहता है और किसी को भी मंदिर में जाने की अनुमति नहीं रहती।

शाक्तमत में तांत्रिक क्रियाओं की प्रधानता है। आज से कुछ काल पूर्व तक तंत्रों को बुरा-भला कहने की प्रणाली चल पड़ी थी। यह मान लिया गया था कि तंत्रों में पूजा-पाठ की आड़ में व्यभिचार को प्रोत्साहन दिया गया है और तांत्रिक क्रियाएँ उपासना के नाम पर मनुष्य की विषय-वासनाओं की तृप्ति के साधन हैं। रति-वासना की उच्छृंखल तुष्टि का बहाना तांत्रिक चक्रोपासना में मिलता है। अब धीरे-धीरे यह धारणा कम हो रही है। साधक के लिए तंत्राचार्यों ने जिन बातों की विशेष परिस्थितियों में अनुमति दे रखी है, उनका निःसंदेह दुरुपयोग किया गया है। परन्तु इससे तंत्र-विद्या (तंत्रण) दूषित नहीं हो सकती। तंत्र-ग्रंथों के अनुशीलन से कई आध्यात्मिक प्रश्नों के समझने में सहायता मिलती है। कठिनाई यह है कि तंत्र-ग्रंथ जिस दुर्बोध भाषा में लिखे गए हैं, उसकी मीमांसा करना सुगम नहीं है। सच्चा साधक ही इसका अर्थ ठीक-ठीक लगा सकता है। किन्तु साधक प्रायः चुप रहना पसंद करते हैं। "इसके साथ यह भी पूर्णतया सत्य है कि तांत्रिक उपासना की आड़ में मद्य-मैथुन के सेवन का अवसर मिलता है और अनेक साधक इसी प्रलोभन में पड़कर न केवल

भोग-विलास में लिप्त होकर रह जाते हैं, बल्कि शाक्तमत जैसे सरल और सुगम साधन-मार्ग को भी हास्यास्पद बना देते हैं।''[1]

कतिपय वर्ष हुए, कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सर जॉन ऊडरफ ने आर्थर एवेलन के उपनाम से अंग्रेजी में अनेक उपयोगी ग्रंथों का प्रणयन किया। तब से अंग्रेजी-शिक्षित हिन्दुओं का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ और उनकी भावनाओं में परिवर्तन होने लगा। अगमानुसंधान-समिति (कलकत्ता) का वृहत्कार्य इस दिशा में विशेष श्लाघनीय है। भूम्बिका और कामाख्या इसके प्रधान पीठ हैं। बहुचराजी के विशाल मंदिर में केवल बाला-यंत्र स्थापित है। केरल में प्रतिमाओं के अतिरिक्त यंत्र की भी पूजा होती है।

भारत के अन्य देवी-देवता

ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति का सम्मिलित रूप दत्तात्रेय हैं। विसर और गिरनार पर्वत पर बने इनके विख्यात मंदिर हैं। गिरनार पर्वत पर बने मंदिर में मूर्ति के बदले दत्तात्रेय की चरण-पादुका है।

विष्णु और शिव परब्रह्म के दो प्रमुख रूप माने गए हैं। अतः इन दोनों की सम्मिलित कल्पना हरिहर में की गई है। इस तरह की मूर्ति भारत में यत्र-तत्र पाई जाती है। इनमें बदराना (झालावाड़, राजस्थान) और हरिहर (मैसूर) के मंदिर प्रसिद्ध हैं। मूर्ति का दाहिना भाग शिव-रूप है। इस ओर के मस्तक के भाग में रुद्राक्ष की माला और ऊपर के हाथ में त्रिशूल है। बायाँ भाग विष्णु का है और ऊपर के हाथ में चक्रसुदर्शन है तथा नीचे का हाथ अभय-दान मुद्रा प्रदर्शित करते दीखता है।

भगवान के अवतार नृसिंह की मूर्तियाँ जगह-जगह स्थापित पाई जाती हैं, जिनमें मुख्य वागेश्वर (नारनौल स्टेशन के समीप), षोडश-भुजी कोल-नृसिंह (बंगलोर-पूना मार्ग), अहोविल (मद्रास-रायचूर रेल-पथ), सिंहाचलम् (हावड़ा-मद्रास मार्ग) और पन्ना-नृसिंह (विजयवाड़ा से ७ मील) के मंदिर हैं। कहा जाता है कि अहोविल में ही हिरण्यकशिपु की राजधानी थी, जहाँ खंभे से नृसिंह भगवान प्रकट हुए। सिंहाचलम् के नृसिंह की मूर्ति बारहो महीने चंदन-चर्चित रहती है। वैशाख अक्षय तृतीया को चंदन हटाया जाता है और केवल उस दिन ही

1. गणेश : श्री संपूर्णानंद, पृ० १९६

भगवान का पूर्ण दर्शन होता है। अक्षय तृतीया के अतिरिक्त भगवान की मूर्ति, चंदन के लेप से ढके रहने के कारण, बहुत बड़े कुम्भ या गोल चंदन-स्तूप के सदृश दीख पड़ती है। पन्ना-नृसिंह में भगवान पर शर्बत चढ़ाया जाता है। पूरे मंदिर में चारों ओर भूमि पर शर्बत फैला रहता है, किन्तु यह बड़े ही अचंभे की बात है कि मक्खी या चींटी वहाँ दीख नहीं पड़ती। क्या यह चमत्कार नहीं? पुजारी शर्बत का आधा भगवान को पिलाकर शेष आधा प्रसाद के रूप में दर्शनार्थी को लौटा देते हैं। नृसिंह का एक अति प्रतिष्ठित मंदिर उत्तराखंड के जोशी-मठ में है।

भगवान के मत्स्य, वराह और कूर्म-अवतार के मंदिर छिट-फुट पाए जाते हैं। वराह-रूप में विष्णु तथा वराही-रूप में लक्ष्मी के बहुत कम मंदिर हैं। त्रिवेन्द्रम् के एक विशाल मंदिर में वराह और लक्ष्मी-रूप में वराही की मूर्तियाँ साथ-साथ स्थापित हैं। इनके अतिरिक्त विदिशा में उदयगिरि-गुफा में और महाबलिपुरम् में एक विशाल 'फ्रेस्को' में वराह के दर्शन होते हैं। सिंहाचलम् तथा धरणीधर (पालनपुर-कंडला रेल-पथ) में भी वराह की मूर्ति स्थापित है।

श्रीकाकुलम रोड स्टेशन के निकट श्रीकूर्मम् में भगवान कूर्म की मूर्ति उल्लेखनीय है।

परशुराम

भगवान के सातवें अवतार परशुराम की भी यत्र-तत्र मूर्तियाँ मिलती हैं। इनमें त्रिवेन्द्रम्, परशुराम-क्षेत्र और धावड़सी के मंदिर उल्लेखनीय हैं। धावड़सी बंगलोर-पूना रेल-पथ के सतारा रोड स्टेशन के पास है। यहाँ बजेन्द्र स्वामी नामक एक विख्यात संत निवास करते थे। वे परशुराम के भक्त थे। उनकी समाधि के पास परशुराम की मूर्ति स्थापित है। परशुराम-क्षेत्र रत्नागिरि जिले के चिपलून तालुके में है। गाँव के मध्य में परशुराम जी का भव्य मंदिर है। बैसाख की अक्षय-तृतीया को यहाँ परशुराम-जयंती समारोह के साथ मनाई जाती है।

नर-नारायण

बड़ौदा के प्रतापनगर स्टेशन से रेलगाड़ी डभोई जाती है। वहाँ नर-नारायण की मूर्ति है। बड़ताल (काठियावाड़) में भी नर-नारायण की मूर्ति है। नर-नारायण ने बदरिकाश्रम में कठोर तपस्या की थी, परन्तु आश्चर्य है कि

वहाँ पर उनके नाम का न कोई मंदिर है और न कोई मूर्ति ही। किन्तु बदरीनाथ-धाम के मार्ग पर जोशी-मठ में नर-नारायण की मूर्ति है।

पक्षी-तीर्थ

मद्रास-रामेश्वरम् रेल-मार्ग पर चेंगलपेट स्टेशन के निकट प्रसिद्ध पक्षी-तीर्थ है। यहाँ का वेदगिरि नामक पर्वत तीर्थ-स्वरूप माना जाता है। पर्वत की समतल भूमि के पास एक लंबी ऊँची शिला है। उसके एक किनारे पर यह कुंड है, जिसे गिद्ध-तीर्थ कहते हैं। एक पुजारी वहाँ दस बजे सुबह आता है और कटोरी एवं तश्तरी पटक-पटक कर बार-बार संकेत करता है। थोड़ी ही देर में दो पक्षी, कभी साथ-साथ और कभी एक के पीछे दूसरे आते हैं। वे एक बार पुजारी के हाथ से और दूसरी बार कटोरी में मुँह डालकर प्रसाद ग्रहण करते हैं। तत्पश्चात् पानी पीकर उड़ जाते हैं। आकार में वे चील से कुछ बड़े होते हैं। लोगों का विश्वास है कि वे मुनियों के अवतार हैं। अतः भावुक दर्शनार्थी उनका जूठा शेष प्रसाद ग्रहण करते हैं। कुछ लोग शंका करते हैं कि वे पालतू पक्षी हैं और ये सब क्रियाएँ पुजारी का पाखंड हैं।

कालभैरव

कालभैरव की मूर्तियाँ भी जगह-जगह मिलती हैं। इनमें सौंदे (बंबई-रायचूर रेल-पथ के जेऊर स्टेशन के समीप), जोधपुर के कापरडा, बांदीकुई स्टेशन के निकट मेहदीपुरघाटा, बीकानेर जिले के कोडमदेश्वर और बुंदी के पास लोयचा में कालभैरव के मंदिर हैं। इनमें कापरडा का मंदिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। भैरव की इधर बहुत मान्यता है।

विश्वकर्मा

रतलाम से १९ मील दूर दक्षिण में रुनीजा ग्राम में विश्वकर्मा का मंदिर है। लोहार और बढ़ई इसे पवित्र क्षेत्र मानते हैं। यहाँ पर चैत्र-शुक्ल तृतीया को मेला लगता है।

देवताओं के अतिरिक्त अनेक संतों के भी स्वतंत्र मंदिर हैं और कहीं-कहीं किसी देवता के मंदिर में प्रतिष्ठित उनकी मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनमें उल्लेखनीय हैं—(१) **शंकराचार्य** : (क) बंगलोर में श्रृंगेरी, (ख) केदारनाथ, जहाँ उन्होंने ने कैवल्य प्राप्त किया था और (ग) हरिद्वार से लगभग १७ मील दूर लक्ष्मण-झूला के पास गंगा के किनारे एक मंदिर में शंकराचार्य के साथ चारों मठों के

आदि अधिष्ठाताओं की मूर्तियाँ हैं। (२) **रामानुजाचार्य :** त्रिवेल्लोर स्टेशन से ११ मील दक्षिण भूतपुरी नामक बस्ती है, जिसका स्थानीय नाम पेरुम्भुदूर है। वहीं श्री रामानुजाचार्य ने जन्म लिया था। अनंत सरोवर के समीप एक विशाल मंदिर में आपकी भव्य मूर्ति विराजमान है। (३) **चैतन्य महाप्रभु :** नवद्वीप-धाम और वृंदावन के मंदिरों में आपकी मूर्ति स्थापित है। (४) **गोरखनाथ :** गोरखपुर का मुख्य मंदिर इन्हीं योगिराज का है। यही जगह उनकी मुख्य तपःस्थली तथा गद्दी की थी। उनके चार प्रधान मठ हैं—गोरखपुर, जूनागढ़, पेशावर और भडंगनाथ (दक्षिण भारत)। हरिद्वार में हाल ही में गोरखनाथ का एक भव्य मंदिर संगमरमर का बना है। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का दर्शनीय मंदिर अमरकंटक में है।

(५) **नारद**—तुलजा भवानी महाराष्ट्र की कुल-स्वामिनी है। यह स्थान शोलापुर से २४ मील दूर है। यहीं पर नारद की एक सुन्दर मूर्ति है।

(६) **कपिल मुनि**—सांख्यशास्त्र के प्रणेता कपिल मुनि का मंदिर बीकानेर जिले के कोकलायतजी में एक बहुत बड़े सरोवर के तट पर है। यह बहुत ही प्रतिष्ठित मंदिर है। यहीं पर कपिल मुनि का आश्रम था। यह राजस्थान के प्रसिद्ध तीर्थों में से एक है।

धर्मारण्य-क्षेत्र का केन्द्र सिद्धपुर है। जैसे पितृ-श्राद्ध के लिए गया प्रसिद्ध है, वैसे ही मातृ-श्राद्ध के लिए सिद्धपुर प्रसिद्ध है। यहाँ पर महर्षि कर्दम का का आश्रम था और यहीं पर भगवान कपिल का अवतार हुआ था। यहाँ विन्दु-सरोवर के दक्षिण-किनारे छोटे मंदिरों में महर्षि कर्दम, उनकी पत्नी देहुती तथा कपिल मुनि की मूर्तियाँ हैं।

(७) काचीगुडा-मनमाड रेल-मार्ग पर परभनी से १७ मील दूर मानवत रोड स्टेशन है। यहाँ से २० मील पर मुद्गल-तीर्थ है। गोदावरी नदी के मध्य में मुद्गल ऋषि का मंदिर है।

(८) वाडी-विजयवाड़ा रेल-पथ पर वाडी से ७० मील की दूरी पर विकारावार स्टेशन है। वहाँ से ५ मील पर अनंतगिरि पर्वत है। यह मार्कण्डेय ऋषि की तपोभूमि है। एक मंदिर में मार्कण्डेय जी की मूर्ति स्थापित है।

(९) राजस्थान में दो नारियाँ आज देवी के रूप में परम पूजित हैं : (१) करणी देवी और (२) रानी सती। इनकी कथा इस प्रकार है—

करणी देवी—बीकानेर से मारवाड़ जंक्शन जानेवाले रेल-मार्ग पर बीकानेर से २० मील दूर देशनोक स्टेशन है। इसी स्टेशन के निकट करणी देवी का मंदिर है। करीब ५०० वर्ष पूर्व जोधपुर के सुआप गाँव में मेहोजी नामक एक देवीभक्त थे। हिंगलाज (बलूचिस्तान) की देवी की इन्होंने आराधना की। मेहोजी की भक्ति से प्रसन्न होकर देवी ने दर्शन दिया। मेहोजी ने वर माँगा कि 'मेरा नाम चले'। देवी ने 'एवमस्तु' कह दिया। मेहोजी की सप्तम पुत्री के रूप में देवी का जन्म हुआ। नवजात शिशु ने प्रसूति-गृह में ही अपनी माता को चतुर्भुज-रूप में दर्शन दिया। बचपन से ही करणी नामक इस बालिका ने अनेक चमत्कार दिखलाए। इन्हीं के आशीर्वाद से बीकानेर-राज्य की स्थापना हुई। अतः बीकानेर-राजवंश की यह कुलदेवी हुईं। इनके नाम पर एक विशाल मंदिर का निर्माण हुआ, जिसके अन्तःपुर में एक स्वर्ण सिंहासन पर आप विराजमान हैं।

रानी सती—सवाई माधोपुर से लुहास तक जानेवाले रेल-मार्ग पर जयपुर से १०७ मील दूर झुनझूनू स्टेशन है। राजस्थान का यह एक सुन्दर नगर है। नगर से बाहर रानी सती का मंदिर है, जो राजस्थान में बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ बारह सतियाँ हुई थीं—(१) सीता सती, (२) आदि सती, (३) मनोहरी सती, (४) मनभावनी सती, (५) जमुना सती, (६) ज्ञानी सती, (७) पूरा सती, (८) पिरागी (प्रयागी) सती, (९) उजमेला सती, (१०) टीली सती, (११) वाली सती और (१२) गुजरी सती। इन सतियों के भी स्थान यहाँ बने हैं। रानी सती को जगदंबा का ही स्वरूप मानकर उनकी अर्चना-पूजा होती है।

रानी सती का नाम नारायणबाई था। उनके श्वसुर सेठ जालीराम अग्रवाल पहले हिसार में रहते थे; किन्तु वहाँ के नवाब से मतभेद हो जाने के कारण ये झुनझूनू चले आए। इनके पुत्र का विवाह नारायणबाई से हुआ था। द्विरागमन कराकर जब इनके पति तनधनदास लौट रहे थे तब वन में हिसार के नवाब की सेना ने इनपर अचानक आक्रमण कर दिया। युद्ध में तनधनदास मारे गए, किन्तु नवविवाहिता नारायणबाई घबराई नहीं और उसने शस्त्र ग्रहण कर लिया और शत्रु-दल पर टूट पड़ी। नारायणबाई दुर्गा के रूप में दीख रही थी। उसके तेज के सामने शत्रु ठहर न सके और अन्त में

उनके पाँव उखड़ गए। पर नारायणबाई पति-वियोग सह न सकी और वहीं पति-देह के साथ वह सती हो गईं। सती के आज्ञानुसार ही उसका चिताभस्म झुनझूनू लाया गया और जिस स्थान पर भस्म लानेवाला घोड़ा रुका था, वहीं पर सती का मंदिर स्थापित हुआ।

रानी सती के मंदिर राजस्थान में स्थान-स्थान पर हैं। बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर नगर के सिकन्दरपुर मैदान में छोटी गण्डकी नदी के दक्षिणी तट पर उन्हीं के नाम पर एक छोटा, किन्तु बड़ा ही सुन्दर मंदिर बना है। इधर कई वर्षों से यह धार्मिक तथा सांस्कृतिक चर्चाओं का केन्द्र बन गया है। हाल ही में मुजफ्फरपुर से ३६ मील दूर उत्तर में जगज्जननी सीताजी की जन्मभूमि सीतामढ़ी शहर में भी जालान-वंशीय मारवाड़ियों ने अपनी इस कुलदेवी रानी सती की मूर्ति एक छोटे-से मंदिर में स्थापित की है।

(१०) स्वामी नारायण-संप्रदाय के संस्थापक स्वामी सहजानंद जी की मूर्ति गढ़पुर (सुरेन्द्रनगर-भावनगर रेल-मार्ग) में स्थापित है। इस मत के संस्थापक यहाँ बहुत समय तक रहे थे, किन्तु बड़ताल स्वामी नारायण-संप्रदाय का मुख्य तीर्थ है। यहाँ स्वामी नारायण का विशाल मंदिर है। मंदिर में ही स्वामी नारायण द्वारा स्थापित लक्ष्मीनारायण की युगल-मूर्ति है। यह स्थान आणंद स्टेशन के पास ही है।

दिव्यधाम मंत्रालय

मंत्रालय दक्षिण-भारत का एक ऐसा पुण्य-क्षेत्र है, जिसके भक्तिपूर्ण प्रशान्त वातावरण के दर्शन-मात्र से मन की मलिनता दूर हो जाती है, जहाँ अध्यात्म-शक्ति को पहचान जाने पर नास्तिकता घुटने टेक देती है और जहाँ की देवी-लीलाओं को जानने पर विज्ञान (Science) गूँगा रह जाता है। मंत्रालय आंध्रप्रदेश के कर्नूल जिले में स्थित आदोनी तालुके का एक दिव्य क्षेत्र है। यह मद्रास-बंबई के मुख्य रेल-मार्ग पर स्थित मंत्रालय रोड स्टेशन से ६ मील की दूरी पर है।

मंत्रालय-क्षेत्र का महत्त्व माध्व-संप्रदाय के महान् संत श्री राघवेन्द्र स्वामी के कारण है। मंत्रालय का इतिहास बताता है कि जिस किसी ने भी भक्ति-पूर्वक इस क्षेत्र में रहकर राघवेन्द्र स्वामी की स्तुति एवं सेवा की, वह रिक्त हाथों और खिन्न मन से कभी न लौटा।

शक-संवत् १५९२ के श्रावण मास की द्वितीया (कृष्ण पक्ष) के दिन स्वामी जी ने पूर्व निर्मित अपने वृंदावन में प्रवेश किया, अर्थात् समाधिस्थ हुए। समाधि में प्रवेश के पूर्व उन्होंने हाथ में जयमाला ले ली थी और पूर्वाभिमुख होकर, श्वास-निरोध कर वेदघोष करना प्रारंभ किया और अंत में सूचित किया कि वे ७०० वर्षों तक योगबल से भक्तों पर कृपा करते रहेंगे।

२ अक्टूबर, १९६७ को वेनेजुएला (दक्षिणी अमेरिका) की एक महिला मंत्रालय-तीर्थ में आने पर ऐसी प्रभावित हुई कि अमेरिका लौटने पर उसने अपने एक मित्र को लिखा कि 'मैंने विश्व के अनेक धार्मिक स्थलों के दर्शन किए, पर मंत्रालय में मुझे जो आत्म-सुख मिला, वह अन्यत्र मैं कहीं न पा सकी।'

मंत्रालय में न केवल राघवेन्द्र स्वामी जी का वृन्दावन है, अपितु वहाँ मुख्य प्राण (वायुदेव) का मंदिर है। इस तीर्थ-स्थल में हमेशा यात्रियों की भीड़ लगी रहती है। उनके ठहरने तथा भोजन की व्यवस्था भी निःशुल्क की जाती है। इन सभी सुविधाओं के कारण मंत्रालय और भी लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध तीर्थ-क्षेत्र बन गया है। यहाँ पर राघवेन्द्र स्वामी जी की पुण्य समाधि-तिथि श्रावण-कृष्ण द्वितीया को मनाई जाती है और उस अवसर पर प्रतिवर्ष तीन दिनों तक विशेष रूप से उत्सव-समारोह होता है। इसमें सम्मिलित होने के लिए देश के कोने-कोने से हजारों भक्तजन आते हैं।

नागूर-आंडवन का अद्भुत मंदिर

यह मंदिर भी है, और मस्जिद भी। यहाँ आपको 'ओम् नमः शिवाय नारायणाय नमः ओम्' की मंत्र-ध्वनि भी सुनाई देगी और "बिस्मिल्लाह-रहमान-इर्रहीम ला-इलाही इल्लि ल्लाह" का पवित्र पाठ भी आपके कानों में गूँजेगा।

यह विलक्षण मंदिर-मस्जिद दक्षिण-भारत के दक्षिणी छोर पर स्थित नागपट्टिणम् बंदरगाह से छह मील दूर नागूर में स्थित है और नागूर आंडवन के नाम से प्रसिद्ध है। 'आंडवन, तमिल का शब्द है, जिसका अर्थ है भगवान।

मद्रास शहर से एग्मूर स्टेशन से रेल द्वारा नागूर पहुँचा जा सकता है। हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों के भक्तजन 'नागूर-आंडवन' की मनौती मानते

हैं और दर्शनार्थ वहाँ जाते हैं। शुक्रवार के दिन वहाँ विशेष भीड़ रहती है। प्रायः सभी दर्शनार्थी वहाँ मुंडन कराते हैं।

इस मंदिर-मस्जिद के सात फाटक हैं। वे इस बात के प्रतीक माने जाते हैं कि अगर कोई व्यक्ति काम, क्रोध, द्वेष, लोभ, बीमारी, बुढ़ापा और असत्य नामक सात द्वारों को पार कर ले, तो उसे भगवान के दर्शन होंगे।

दर्शनार्थियों में रोगियों की संख्या काफी होती है। भक्तों का यह विश्वास है कि नागूर-आंडवन की कृपा से असाध्य रोग भी दूर हो जाते हैं। भक्तों की तो यह भी आस्था है कि आंडवन के सान्निध्य में जिस किसी भी इष्टदेव की उपासना सच्चे हृदय से की जाए, भगवान उसी रूप में दर्शन देते हैं।

नागूर-आंडवन हिन्दुत्व और इस्लाम को ही नहीं, उत्तर और दक्षिण-भारत को भी जोड़नेवाली कड़ी है।

कला की कसौटी पर चाहे यह मंदिर-मस्जिद भले ही खरी न उतरे, परन्तु भारत की धार्मिक एकता का अनुपम प्रमाण है।

—माणकचन्द नाहर ('**नवनीत**' से साभार)

नदियाँ

भारत की कुछ नदियाँ देवताओं के रूप में पूजित हैं। भारतीय एकता के प्रबल समर्थक हमारे धर्माधिकारियों ने और संस्कृत के उच्चकोटि के कवियों ने जिन नदियों को एक श्लोक में बद्ध कर दिया है और अपने पूजा-जल में जिन सरिताओं के जल की सन्निधि की माँग की है, उनके नाम हैं—

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे, सिन्धु, कावेरी; जले स्मित सन्निधिं कुरु॥

इस प्रकार इस श्लोक में (१) गंगा, (२) यमुना, (३) सरस्वती, (४) गोदावरी, (५) नर्मदा, (६) सिन्धु और (७) कावेरी का महत्त्व दिखाया गया है। किन्तु आज सरस्वती लुप्त हो गई है और सिन्धु पाकिस्तान में चली गई है। पुराण-काल में सरस्वती और सिन्धु के स्थान में सरयू और कृष्णा की मर्यादा बहुत बढ़ गई। हरिद्वार और भरतपुर में गंगा-मंदिर, यमुनोत्री का यमुना-मंदिर और बाटानगर में कृष्णा नदी का मंदिर बहुत प्रसिद्ध हैं। हरिद्वार में गंगा के

जल तथा प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम के जल में मृत व्यक्तियों का अस्थि-प्रवाह मोक्ष-प्रदायक समझा जाता है। पंडित जवाहरलाल, नेहरू जो किसी हद तक वैज्ञानिक युग के तर्क से प्रभावित थे तथा धार्मिक अंधविश्वासों में जिनकी आस्था बिलकुल ही नहीं थी, वे भी गंगा से प्रेम रखते थे। अपने वसीयतनामे में उन्होंने यह इच्छा प्रकट की थी कि उनके अस्थि-भस्म का कुछ हिस्सा भारत की शस्यश्यामला धरती पर बिखेर दिया जाए और कुछ गंगा के पुनीत जल में प्रवाहित कर दिया जाए।

गंगा नदी की महिमा पुरातनकाल से चली आती है। हिन्दुओं में सभी श्रेणी के लोग इसके प्रति अपूर्व श्रद्धा रखते हैं और कवि से लेकर साधारणजन इसे माँ के रूप में देखते हैं। आरंभिक काल से ही इसकी तटवर्ती भूमि साधु-संतों की तपोभूमि रही है। इसके जल में अमृत का गुण समझा जाता है। ऐसा विश्वास है कि मरणोन्मुख व्यक्तियों के मुख में इसका जल डालने से मृत्यु-कष्ट से ही नहीं, बल्कि अन्य पापों से भी उन्हें मुक्ति मिल जाती है। यह तो निर्विवाद है कि इसका जल चाहे कितने दिनों तक किसी बर्तन में क्यों न रखा छोड़ दिया जाए, उसमें कीड़े नहीं उत्पन्न होते, जबकि संसार की अन्य नदियों के जल में, जब वह आदि-स्रोत से पृथक कर किसी छोटे-से पात्र में बंद कर दिया जाता है, कीड़े पैदा हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त भारत के जितने भी मोक्ष-दायक नगर हैं, सभी गंगा के किनारे बसे हुए हैं, जिनमें हरिद्वार, ऋषिकेश, प्रयाग तथा काशी प्रमुख हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद तो नदियों का महत्त्व और भी बढ़ गया है। सौभाग्य से भारतवर्ष में अन्य देशों की तुलना में नदियों की बहुतायत है। देश को शक्ति-संपन्न तथा समृद्ध बनाने में नदियों की शक्ति का उपयोग जोरों से हो रहा है। इस प्रयास को नदी-घाटी-योजना की संज्ञा दी गई है। इन नदियों से न केवल बड़ी तथा छोटी नहरें निकालकर कृषकों को खेत सींचने के लिए जल पहुँचाया जा रहा है, बल्कि इनमें ऊँचे-ऊँचे बाँध बाँधकर इनकी जल-शक्ति से पैदा की गई बिजली नगर-नगर तथा गाँव-गाँव में पहुँचाकर अनेक छोटे-बड़े उद्योग खड़े किए जा रहे हैं। इनके जल तथा मिट्टी से खेतों की उर्वरा-शक्ति बढ़ती है और ये खाद्यान्न की समस्या को मछलियाँ देकर बहुत हद तक हल करती हैं। हो सकता है, भविष्य में इन

नदियों की उपयोगिता भारतवासियों के लिए और अधिक हो जाए। इस समय देश में परिवहन (ट्रान्सपोर्ट) की समस्या विकराल रूप धारण करती जा रही है। सड़कें, रेल-मार्ग तथा हवाई-मार्ग इसके लिए पर्याप्त नहीं सिद्ध हो रहे हैं। सड़कें तथा रेल-मार्ग बनाना न केवल अधिक महँगा पड़ रहा है, बल्कि इससे खेती के काम में आने योग्य भूमि का भी व्यर्थ अपव्यय होता है। इसलिए यहाँ सोचा जा रहा है कि नदियाँ इतनी गहरी कर दी जाएँ, जिससे बड़ी-बड़ी स्टीमरें उनसे होकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक सुगमतापूर्वक आ-जा सकें। भारतीय जन-जीवन में यह भावना बहुत गहराई तक घर कर गई है कि जो कुछ भी उनके जीवन में उपयोगी सिद्ध हुआ है, उसके प्रति वे अपनी कृतज्ञता उसे देवी या देवता की संज्ञा देकर व्यक्त करते हैं। यह परंपरागत संस्कार है।

केरल-प्रदेश की कुछ विशेषताएँ

केरल में देवी-देवता प्रायः वे ही हैं, जिन्हें हम देश के दूसरे भागों में पाते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य देवी-देवता भी हैं, जिनकी उपासना की वहाँ विशेष प्रधानता है। इनमें सबसे प्रमुख 'शास्ता' है। शिव तथा मोहिनी-रूप विष्णु के संयोग के फलस्वरूप इस देवता के जन्म की सामान्य धारणा होने के कारण इसे 'हरिहर-पुत्र' कहा जाता है। अन्य देवताओं के समान इस देवता की उपासना के संबंध में केरल के तंत्र के प्रामाणिक ग्रंथों में अनुष्ठान-पद्धतियाँ निर्धारित की गई हैं। शास्ता की उपासना तमिलनाडु में भी होती है। इसी प्रकार 'शंकर-नारायण' भी हैं, जिनकी कल्पना अर्ध-शिव तथा अर्ध-विष्णु के रूप में की गई है। इनके बहुत-से मंदिर पाए जाते हैं और इनकी पूजा का विस्तृत वर्णन सामान्य धर्म-ग्रंथों में है। एक और देवता हैं—किरात-मूर्ति। ये मलयालम में 'वेट्टकोरूमकम' कहलाते हैं। इनकी पूजा केरल तक ही सीमित है। इस देवता को शिव-पार्वती का पुत्र माना गया है। देवियों में रुरुजित हैं, जो अपनी आकृति में दुर्गा हैं। इनकी पूजा का विस्तृत वर्णन केरल के तंत्र-ग्रंथों में है।

आर्यों की संस्कृति तथा उनके साहित्य से यदि कोई राज्य सबसे अधिक प्रभावित हुआ है, तो वह है केरल। फिर भी केरलवासियों को अपनी द्रविड़-परंपरा तथा सचाई पर आधारित तमिल-संस्कृति पर गर्व है।

धार्मिक इतिहासकार एकमत हैं कि आदि मनि वासियों की धार्मिक चेतना प्रतीक-पूजा तथा सर्वचेतनवाद पर आधारित थी। बंदर, साँप, गरुड़, मछली आदि जन्तुओं तथा वृक्षों की पूजा होती थी। केरल का अति प्राचीन समाज पुजारियों के नियंत्रण में नहीं था। अतः उपासना-प्रणाली भक्त की इच्छा पर निर्भर रहती थी। स्वार्थ से प्रेरित उपासकों को जो सहायक मालूम पड़ते, वे ही आराध्य बन जाते थे। मुरुगन (सब्रह्मण्य), मायोन (विष्णु), इन्द्र, कोरखं (काली), शिव, अय्यपन, चातन आदि आराध्यों की श्रेणी में आ सके। धीरे-धीरे भक्ति-परक साहित्य में नाग, मछली, बंदर आदि जन्तुओं, वृक्षों तथा पत्थरों का देवी-देवताओं से निकट-संबंध स्थापित किया गया।

ऐसे तो उत्तर-बिहार में नाग-पंचमी (श्रावण-शुक्ल पंचमी) कुछ लोग मनाते हैं, किन्तु यह प्रथा शनैः-शनैः लुप्त हो रही है। किन्तु दक्षिण-भारत और विशेषकर केरल में सर्प-पूजा का प्रमुख स्थान है। केरल में सर्प-पूजा की परंपरा की मूल कथा दक्षिण-भारत में आर्यों के प्रवास के साथ जुड़ी हुई है। पौराणिक कथाओं के अनुसार ब्राह्मण संत-योद्धा परशुराम क्षत्रियों पर विजय प्राप्त करने के बाद दक्षिण चले गए। वहाँ उन्होंने महासागर में से गोआ के दक्षिण में गोकरणम् से लेकर कन्याकुमारी तक फैली भूमि को एक नई सृष्टि की। वही भूखंड केरल कहलाया। तब परशुराम ने उसे चौंसठ नंबूदिरि ब्राह्मण-परिवारों को दान कर दिया। किन्तु वहाँ बसनेवालों को पीने योग्य पानी का अभाव खटका; क्योंकि पानी खारा था। इसपर परशुराम ने परमेश्वर का ध्यान किया और प्रार्थना की कि जल को शुद्ध और पेय बना दिया जाए। भगवान ने परशुराम से सर्पराज वासुकि की आराधना करने को कहा। परशुराम ने वासुकि को प्रसन्न करने के लिए कठिन तप किया। इसपर वासुकि ने प्रसन्न होकर केरल के जल को तो शुद्ध कर दिया, लेकिन बदले में सर्पों के लिए ऐसे शरण-स्थलों की माँग की, जहाँ वे निरापद रह सकें। वासुकि ने परशुराम से वचन ले लिया कि उनके भक्त और अनुचर उन स्थलों का कभी अतिक्रमण नहीं करेंगे और उनमें रहनेवाले सर्पों को कभी और किसी तरह की हानि नहीं पहुँचाएँगे। परशुराम ने आश्वासन दिया कि केरल में सर्पों की पूजा ओर रक्षा की जाएगी। जिस स्थल पर परशुराम ने तपस्या की थी, वहाँ उन्होंने सर्प-विहार बनवाया और सर्पों के राजा और रानी—नागराज और नागलक्ष्मी—का मंदिर स्थापित किया।

एक समय भयंकर आग लगी। स्त्रियाँ सर्प-विहार को उस समय तक सींचती रहीं जबतक धरती शीतल नहीं हो गई। सर्प अपने रक्षकों से, विशेषकर स्त्रियों से, बहुत प्रसन्न हुए। इनको अनवरत वंश-बेल और चिरस्थायी संपदा का वर दिया।

कोचीन जानेवाले राजमार्ग से कुछ दूर हटकर त्रिवेन्द्रम से लगभग पैंतालीस मील उत्तर एक छोटे-से शांतिपूर्ण गाँव में सर्प-विहार (मन्नारशाला) अब तक है। आज भी प्राचीन नंबूदिरि-वंश का परिवार वहाँ रहता है और मन्नारशाला की देखरेख करने की परंपरा का पालन करता है। इन दिनों भी वहाँ प्रतिवर्ष 'अयाल्यम-पूजा' की जाती है और श्रद्धालु यात्रियों का ताँता बंध जाता है। परिवार की ज्येष्ठ कन्या, जिसपर पौरोहित्य का भार होता है, प्रतिदिन सर्पों को अपने हाथ से हल्दी मिश्रित-चावल के आटे की खीर अर्पित करती है। सर्पों को खीर खाते तो स्यात् किसी ने देखा हो, पर यह तो नित्य का क्रम है कि निश्चित एवं सुरक्षित स्थान पर रखे गए खीर से भरे पीतल के पात्र दूसरे दिन सवेरे खाली मिलते हैं।

यह सच है कि केरल और उसके निकटवर्ती प्रदेशों में सर्प बहुतायत संख्या में पाए जाते हैं। कहा जाता है कि आजतक मन्नारशाला के पुरोहित-वंश का कोई व्यक्ति सर्प-दंश से नहीं मरा। असंख्य नर-नारी आज भी इस सर्प-विहार की यात्रा करते हैं। भेंट-पूजा में चढ़ाई हुई सामग्री यों ही खुले में पड़ी रहती है, पर बिना अनुमति के कोई उसमें से एक तिनका भी उठाने का साहस नहीं कर सकता। कहते हैं कि यदि कोई ऐसा अपराध कर बैठे तो उसे ऐसा महसूस होने लगता है कि उसके सारे शरीर पर साँप रेंग रहे हैं और उसके लिए कोई कार्य करना असंभव हो जाता है।

केरल में नंबूदिरि ब्राह्मणों का एक प्राचीन-परिवार संतान के लिए की जानेवाली विशेष पूजा का पौरोहित्य भी करता है।

केरल में हर जगह बहुत तरह के साँप होते हैं, अजगर से लेकर साधारण चेरा साँप तक, जो घरों के अंदर पाए जाते हैं। साँप के काटने का आयुर्वेदिक उपचार करनेवाले तीन सौ से अधिक विष-वैद्य' केरल में हैं। गाँव के लोग पुराने संस्कारों के कारण विष-वैद्यों पर ही अधिक भरोसा करते हैं। विष-वैद्यों

तक उनकी पहुँच सुगम भी होती है। इन विशेषज्ञों को राज्य-सरकार के आयुर्वेद-विभाग की ओर से अनुदान भी मिलता है। विष को दूर करनेवाले इस अति प्राचीन उपचार में बहुत प्रवीणता प्राप्त की जा चुकी है। यदि इसका वैज्ञानिक अध्ययन और शोध किया जाए और दुर्लभ जड़ी-बूटियों की औषधियों के रहस्य की खोज की जाए तो संसार का कल्याण होगा।

दुर्योधन तथा रावण के मंदिर और उनकी पूजा

महाभारत के नायकों अर्थात् पांडवों को सभी वन्दनीय मानते हैं, किन्तु हमारे देश में एक भू-भाग ऐसा भी है, जहाँ पांडवों की निन्दा तथा दुष्ट प्रकृति-वाले कौरवों की पूजा होती है। उत्तराखंड के अन्तर्गत एक लघु भू-भाग में पांडवों का घोर तिरस्कार किया जाता है और उन्हें शत्रु समझा जाता है तथा इसके विपरीत दुर्योधन को कुलदेवता की तरह पूजित किया जाता है। टेहरी-गढ़वाल और हिमाचल-प्रदेश की प्राकृतिक सीमा बनाती हुई एक विशाल उपत्यका है, जिसे राम-द्वार घाटी कहते हैं। अपने नाम के ही अनुरूप यह घाटी अत्यन्त दुर्गम है और यहाँ पहुँचना अत्यधिक कष्टसाध्य है। इसी घाटी के निचले भाग में टाँस नदी प्रवाहित होती है। टाँस नदी आगे चलकर देहरादून के समीप कालसी में यमुना में मिल जाती है। इसी नदी की घाटी में अल्प आबादी के लगभग दो दर्जन गाँव हैं। इन्हीं गाँवों में दुर्योधन को आराध्य इष्ट-देव माना जाता है और उनके पक्के मंदिर बने हुए हैं, जहाँ विशेष अवसरों पर दुर्योधन की विधिवत् पूजा आयोजित होती है। एक गाँववाले मूर्ति को सुसज्जित पालकी में बैठाकर गाजे-बाजे के साथ नृत्य और गान करते हुए दूसरे गाँव ले जाते हैं। दूसरे गाँववाले उसे उसी भाँति आगे के गाँव में पहुँचा देते हैं। यह क्रम चलता रहता है। निर्धारित गाँव में पहुँचने पर लोग मूर्ति का विशेष रूप से पूजन तथा सामूहिक रूप से नृत्य और गायन करते हैं।

इसी तरह बस्तर के गोंडों की एक बड़ी शाखा रावण की पूजा करती है। (विस्तृत विवरण के लिए देखिए 'धर्मयुग', ३ अक्टूबर, १९६५ ई०)

हम ऊपर कह आए हैं कि आदिम-निवासियों की धार्मिक चेतना प्रतीक-पूजा एवं सर्वचेतनवाद पर आधारित है। बंदर, साँप, गरुड़, मछली आदि जीव-जन्तुओं तथा वृक्षों की वे पूजा करते हैं। मानव-मन में वे प्रतीक भय अथवा आश्चर्य पैदा करने में आदिम-काल में सफल हुए। बिना आयुध के

आदिमानव का सिर इनके सामने भय अथवा श्रद्धा से झुक गया और उन्होंने अपने अविकसित मस्तिष्क से उनके पूजन का विधान प्रस्तुत किया। उन्हें यह भी विश्वास होने लगा था कि वृक्षों पर नाना प्रकार के प्रेत निवास करते हैं। अतः पितृ-पूजा, लिंग के प्रति श्रद्धा, नाग-पूजा, वृक्ष-पूजा, जीव-बलि नर-बलि तथा भूतावशेष से आराध्यों से संपर्क रखने की प्रथा आदि तो समझ में आती है, किन्तु महान आततायी राक्षस रावण तथा अत्यन्त दुराचारी दुर्योधन की पूजा की प्रथा का कारण अगम्य-सा ज्ञात होता है। अधिक-से-अधिक यही हो सकता है कि इन दो समाज-विरोधी आत्माओं की पूजा उनके अवशिष्ट अनन्य अनुचर करते हों और अपने को सारे मानव-समाज से बचाकर दुर्गम स्थान में जा बसे हों। फिर भी यह अद्भुत तो है ही।



तीसरा परिच्छेद

भारतीय प्रतीक-पूजा का चित्र, मूर्ति एवं स्थापत्य-कला पर प्रभाव

ललित कला का संबंध मनुष्य के मानसिक विकास से है। अतः यह उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना कही जा सकती है। इस कला के अन्तर्गत वास्तुकला, मूर्ति-कला, चित्रकला, संगीत-कला और काव्य-कला सम्मिलित हैं। इन कलाओं का आनंद केवल कलाकारों को ही नहीं, वरन् इनके उपभोक्ताओं को भी प्राप्त होता है। किसी सुन्दर प्रतिमा के कमनीय कलेवर, सुविशाल नेत्र, क्षीण कटि और अलंकारादि यदि दर्शक को विभोर नहीं कर सके तो मूर्तिकार का प्रयत्न निष्फल समझना चाहिए। इसी प्रकार यदि संगीत या काव्य चित्त पर अपेक्षित प्रभाव नहीं डाल सका, तो संगीतज्ञ या कवि की वाणी त्रुटिपूर्ण समझनी चाहिए।

चित्रकला

उपर्युक्त कलाओं की श्रेष्ठता के क्रम में विद्वानों में मतभेद रहा है। वात्स्यायन अपने 'काम-सूत्र' नामक ग्रंथ में चित्रकला को तीसरा स्थान देते हैं। परन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्रकला को कलाओं में सर्वश्रेष्ठ एवं धर्मार्थ-काम-मोक्षादि प्रदायिनी माना गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के ४३वें अध्याय में चित्रकला की श्रेष्ठता के विषय में उल्लिखित है कि जिस प्रकार पर्वत-मालाओं में सुमेरु, पक्षियों में गरुड़ और मनुष्यों में राजा श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार कलाओं में चित्रकला सर्वश्रेष्ठ और मान्य है।

चतुर चित्रकार मनुष्य के प्रायः संपूर्ण भावों को सजीव बना देने की सामर्थ्य रखता है। संस्कृत-नाटककार भवभूति ने अपने उत्तर-रामचरित नाटक में लिखा है कि लक्ष्मण द्वारा श्रीराम को उनके जीवन की घटनाओं का जो चरित्र अंकित कर दिखलाया गया, वह इतना सजीव था कि उसे देखकर राम का प्रिया-वियोग पुनः जाग्रत हो उठा और वे सहसा कह उठे—

तदध्यैतस्माद् विरम विरमातः परं न क्षमोऽस्मि।
प्रत्यावृत्तः पुनरपि स मे जानकी विप्रयोगः॥

अर्थात्—'हे लक्ष्मण ! इस चित्र को हटा लो । अब मैं इसे अधिक देर तक नहीं देख सकता । इस चित्र के अवलोकन से मानों सीता का वियोग पुनः लौट आता है ।' इसी प्रकार उत्तर-रामचरित में अन्य कई स्थानों पर बड़ी रसिकता के साथ चित्रकला के रहस्यों का उद्घाटन किया गया है ।

चित्र-लक्षण-ग्रंथ में चित्रकला की उत्पत्ति के संबंध में दो कथाएँ आई हैं । पहली कथा के अंत में राजा भयजित को ब्रह्मा ने आशीर्वाद दिया कि चित्रकला की विद्या द्वारा संसार का बहुत कल्याण होगा और ब्रह्मा के आदेशानुसार विश्वकर्मा ने राजा को चित्रकला की शिक्षा दी । विश्वकर्मा ने देवलोक में चित्रकला की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार किया—"विश्व की सृष्टि करने के बाद ब्रह्मा ध्यानावस्थित हुए । उनके ध्यान से विष्णु, महादेव, इन्द्रादि देवता भी दिव्य प्रभाव से संपन्न हो गए । उन लोगों ने अपने-अपने प्रभाव से श्रीसंपन्न आकृतियाँ आविर्भूत कीं । उन आकृतियों ने पृथक-पृथक रूप धारण किया और अलौकिक वस्त्रालंकारों से सुशोभित हुईं । उन देवताओं के हाथों में उन्हीं के अनुरूप अनेक प्रकार के आयुध थे । अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार उनमें भिन्न-भिन्न गुण भी व्यक्त हुए । देवता लोग अपना-अपना चित्र देखकर बड़े प्रसन्न हुए । इसपर ब्रह्मा ने कहा कि संसार के प्राणी इन्हीं चित्रों को पूजोपहार देकर कृतकृत्य होंगे और देवताओं ने ब्रह्मा की बात मान ली ।"[1]

दूसरी कथा विष्णुधर्मोत्तर के प्रथम खंड के १२९वें अध्याय में आई है, जिसका सार है कि ऋषि नर-नारायण ने तप से भ्रष्ट करने के लिए आई हुई अप्सराओं को लज्जित करने के लिए चित्र द्वारा रूपवती रमणी उर्वशी को उत्पन्न किया और तत्पश्चात् देव-शिल्पी विश्वकर्मा ने चित्र-विद्या की शिक्षा दी ।

कहा जाता है कि चित्रकला उतनी ही प्राचीन है, जितना यहाँ का साहित्य । यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि तीसरी शताब्दी के पूर्व इसकी ख्याति हो चुकी थी; क्योंकि वात्स्यायन ने अपने काम-सूत्र में चौंसठ कलाओं के साथ चित्र-कला का भी उल्लेख किया है ।

"चित्र-प्रेम प्रागैतिहासिक काल से हमारे जीवन को ओत-प्रोत करता आ रहा है । सिन्धु-घाटी की सभ्यता में, आज से कम-से-कम पाँच हजार पूर्व, विभिन्न

1. **श्रीविष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्रकला :** श्री बदरीनाथ मालवीय, पृ० ५

भांडों पर अनेक प्रकार की ज्यामिति लिखाई मिलती है, जिससे उस युग में हमारे पूर्वजों के जीवन से उसका अत्यन्त गहरा संबंध लक्षित होता है।

"उसके बाद हमारी वैदिक संस्कृति में चित्रों का प्रेम कम न रहा होगा। उत्तर-वैदिक काल से ईसवी सन् तक और उसके बाद हमारे वाङ्मय में जो समाज प्रतिबिंबित हुआ है, उसमें सर्वत्र समाज चित्र-विद्या में निष्णात है। घर-घर में चित्रावलियाँ थीं, प्रत्येक सुसंस्कृत नागरिक चित्र की विशेषताओं से परिचित होता और स्वयं चित्र अंकित करने में समर्थ होता। उन युगों के चित्रमय अवशेष न जाने कहाँ चले गए? पर इस अभावात्मक साक्ष्य से हमें इस निर्णय पर नहीं कूद पड़ना चाहिए कि तब चित्र बनते ही न थे—भविष्य में होनेवाले शास्त्रीय शोध की हमें धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए।

"इस समय हमें पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में बिखरी हुई गुफाओं और उनकी चित्रित भित्तियों से ही संतोष करना होगा, जो अबतक प्रकाश में आई हैं। अनुमानतः इनका समय पहली शताब्दी ई० पूर्व से शुरू होता है। इनमें अनेक गुफाओं—जैसे भाजा, पाण्डुलेण, विदिशा, नासिक इत्यादि—में ऐसे चित्र रहे होंगे, जिनके बहुत ही अस्पष्ट अवशेष मिलते हैं। ये अवशेष इतने सूक्ष्म हैं कि इनसे कुछ भी अर्थ नहीं निकलता। फलतः हमें अपनी खोजों को अजंता तक ही सीमित रखना पड़ता है।"[1]

वाल्मीकीय रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय चित्रकला अपने उज्ज्वल रूप में थी। राम के महलों में भित्ति-चित्रों का उल्लेख है (२।१५।३५)। कैकेयी के कनक-भवन में तो अलग चित्रगृह बने हुए थे (२०।१०।१३)। उत्तर-रामचरित में तो उल्लेख है कि सीता को प्रसन्न करने के लिए राम ने अपनी जीवन-लीलाओं के चित्र बनाए थे।

कुछ विद्वानों का मत है कि नर्मदा की घाटी के पाषाण प्रकोष्ठों में प्राप्त चित्रकला लगभग दस हजार वर्ष पुरानी है। विद्वानों के इस अभिमत में अतिशयोक्ति भी हो सकती है, किन्तु मध्यप्रदेश की अनेक गुफाओं में प्रागैतिहासिक लोगों के बनाए हुए चित्र मिलते हैं। यहाँ के गुफा-मंदिर की छतों पर अंकित

1. **अजंता के चित्रकूट : रायकृष्ण दास, राय आनंदकृष्ण, पृ० १-२**

हाथी, रथ, वृक्ष तथा नग्न स्त्री-पुरुषों के अनेक चित्र हैं, जिन्हें सर जॉन मार्शल प्रथम शताब्दी के मानते हैं।

छोटानागपुर-क्षेत्र के सिंगनपुर नामक स्थान की एक गुफा के अंदर भी कुछ प्रागैतिहासिक चित्र-कृतियाँ प्राप्त हुई हैं, जो यत्र-तत्र चट्टानों पर अंकित हैं। ये नर्मदा-घाटी की चित्रकला से भिन्न हैं। इन चित्रों में कुछ-कुछ युद्ध या शिकार के दृश्य अंकित हैं। इन सबकी रचना चाहे जब हुई हो, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि इनमें कला के कई एक उत्कृष्ट उदाहरण देखने को मिलते हैं।

किन्तु यह तो निर्विवाद है कि हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों की खुदाई से प्राप्त मिट्टी के बरतनों तथा सिक्कों पर पशुओं के जा चित्र अंकित हैं, वे उस समय के मनुष्यों का चित्रकला-प्रेम प्रकट करते हैं, वे कम-से-कम ३,००० वर्ष पुराने हैं। इससे ज्ञात होता है कि सिन्धु नदी-घाटी के प्राचीन निवासियों में प्रचलित चित्रकला की एक अलग शैली थी, जो भारत की प्रागैतिहासिक कला का एक प्रबल उदाहरण प्रस्तुत करती है। इन बरतनों पर सिंह, चीता, वराह, बारहसिंगा, बैल, मछली तथा पक्षियों के चित्र अंकित पाए गए हैं, और इन कृतियों के साथ वनस्पति-वर्ग एवं रेखागणित की आकृतियों को जिस कौशल से अंकित किया गया है, वह बड़ा ही विलक्षण है। इस कला के अंदर यथार्थता तथा सजावट की प्रवृत्ति अपनी विशेषता रखती है।"

श्री चक्रवर्त्ती का विचार है कि "ऐसा कोई आधार तथा सूत्र नहीं प्राप्त होता है, जिससे कला की इस प्रणाली को वैदिक चित्रकला के साथ, जिसका उद्गम बाद का है, संबद्ध किया जा सके।

यह तो हुई पौराणिक और प्रागैतिहासिक काल की बातें। किन्तु जब हम ऐतिहासिक घटनाओं की ओर दृष्टि करते हैं तो पता चलता है कि भारत जैसे विशाल देश में चित्रकला की शृंखलाबद्ध परंपरा के इतिहास पर प्रकाश डालना बड़ा ही दुरूह कार्य है। इसका कारण यह है कि भारत एक देश नहीं है, प्रत्युत इसे एक उपमहादेश कहना चाहिए; क्योंकि इसके अंदर विभिन्न संस्कृतियों के प्रदेश हैं और भिन्न-भिन्न प्रदेशों की चित्रकला में जो अंतर पड़ता है, उससे कुछ ऐसा आभास मिलता है कि देश की समष्टिगत चित्रकला की ऐतिहासिक शृंखला विच्छिन्न है। किन्तु ईसा के २०० वर्ष पूर्व निर्मित अजंता की

गुफाओं की भास्कर्य-कला तथा कांगड़ा एवं गढ़वाल कि राजपूतकालीन चित्रकला को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय चित्रकला की परंपरा विच्छिन्न हुई है। भारतीय चित्रकला के ऐतिहासिक अनुसंधान के फलस्वरूप कुछ नए तथ्य प्रकट हुए हैं, जिनसे पता चलता है कि भारत की चित्रकला का एक शृंखलाबद्ध इतिहास है, जो कम-से-कम २,००० वर्षों तक अविरल गति से चलता रहा है।

इन्हीं तथ्यों से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि हमारे देश की चित्रकला की विकास-धारा प्रारंभिक उद्भवकाल, यदि अधिक नहीं तो ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व, से अबतक अविरल गति से प्रवाहित होती रही। चित्रकला के इस प्रवाह-मार्ग में कला के रूप यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार के थे, उनकी शैलियाँ और प्रणालियाँ भी एक-दूसरे से मिलती-जुलती नहीं थीं, बाह्य स्वरूप भिन्न-से प्रतीत होते थे; तथापि सभी रूपों में, सूक्ष्मतः स्वरूप में तादात्म्य था। आर्य और वैदिक सभ्यता के अंतर्गत जब चित्रकला को विशेष स्थान प्राप्त हुआ, उससे बहुत पहले से ही इस भूमि पर चित्रकला अपने विकसित स्वरूप में विद्यमान थी। आर्यों के पूर्ववर्ती भारतीय आदिवासी, जो इस देश के विभिन्न भागों में निवास कर रहे थे, चित्रकला में प्रवीण थे।[1] किन्तु आदिकाल से चित्रकला की प्रवृत्ति भले ही मनुष्य में हो, किन्तु यह निर्विवाद है कि चित्रकला का उत्थान मूर्ति-पूजा के विकास के बाद हुआ।

बौद्धधर्म और चित्रकला :

बौद्धधर्म के भिक्षुक अपने धर्म का प्रचार चित्र द्वारा किया करते थे। वे अपने साथ तैल-चित्रपट रखते थे, जिनपर जातक-कथाएँ (भगवान बुद्ध के ५५० वर्ष पूर्व की कथाएँ) चित्रित रहती थीं। इसी कारण बौद्ध कालीन नालंदा तथा तक्षशिला सदृश बड़े-बड़े शिक्षा-केन्द्रों में अन्य विद्याओं के साथ चित्र-विद्या की भी शिक्षा दी जाती थी। इस काल में चित्रकला के प्रधान विषय महात्मा बुद्ध थे। चित्रकार अपनी भक्ति-पुष्पांजलि भगवान बुद्ध के चरणों में अर्पित करते थे।

भारतीय कला के अभ्युदय का इतिहास पहली सदी ईसा-पूर्व के आरंभिक वर्षों में लगभग एक साथ गांधार और मथुरा में बुद्ध, शिव और

---

1. **मोहेंजोदड़ो से कांगड़ा तक :** श्री श्यामाप्रसाद चक्रवर्ती
(प्राची, साप्ताहिक)

कृष्ण की प्रतिमाओं के विकास के रूप में हुआ। भारतीय आधुनिक कला का सर्वप्रथम प्रतिमान यही थे। लगभग इसके ५०० वर्ष पश्चात् गुप्त-सम्राटों के समय सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ और भारत समृद्ध बना। यह भारतीय कला के उत्थान का द्वितीय काल है। इसी काल में अंकित चित्रकला के अपूर्व और दर्शनीय उदाहरण अजंता, बादामी, एलोरा आदि दर्शनीय गुफाओं में आज भी विद्यमान हैं। इसी समय सार्वभौम कल्पनाओं और भारत की राष्ट्रीय उत्कर्षशील संस्कृति की अभिव्यक्ति बौद्ध तथा हिन्दू-कलाओं में हुई।

विख्यात वैयाकरण पाणिनि (ईसा के ४००—३०० वर्ष पूर्व) के ग्रंथों में कृष्ण-लीला-संबंधी चित्रों का उल्लेख मिलता है। कृष्ण-लीला के ये चित्र ब्राह्मण-युग की प्राचीनतम कला-कृतियाँ माने जाते हैं। पाणिनि ने अपने ग्रंथों में 'सौमिक' नामक जन-समुदाय का उल्लेख किया है। इस समुदाय का काम चित्र-प्रदर्शन का था और इन लोगों के पास श्रीकृष्ण-जीवन तथा उनके साहसिक कार्यों के सभी चित्र रहते थे। उन्हीं चित्रों से ये लीला-प्रदर्शन करते थे। बाद के युग में राजपूताना तथा उड़ीसा में कुछ ऐसे ताशों (Playing cards) का प्रचलन हुआ, जिनपर कृष्ण-लीला संबंधी चित्र बने हुए थे। इसी प्रकार जन-संप्रदाय के चित्र-प्रदर्शक भ्रमणशील दलों को 'भंखा' कहा जाता था। इससे १४० वर्ष पूर्ववाले काल मे महर्षि पतंजलि ने भी इसी व्यवसाय में संलग्न एक जन-समुदाय का उल्लेख किया है।

"प्रारंभ में बौद्ध-संन्यासियों के लिए भौतिकता से नितांत अलग रहकर आध्यात्मिकता में पूर्णरूप से रत रहना आवश्यक था। किन्तु भिक्षुकों में सर्जनात्मक प्रतिभावाले कुछ ऐसे लोग भी थे, जो अपने आराधना-स्थलों और आश्रमों को तूलिका और छेनी के कौशल से सजाकर रखने में आनंद की अनुभूति प्राप्त करते थे। धीरे-धीरे इसका प्रचार बढ़ गया और इसे भक्ति की अभिव्यक्ति को एक विद्या के रूप में मान्यता मिल गई। लगभग नौ सौ वर्षों की सारी बौद्धकला का सृजन अकेले भिक्षु कलाकारों के वश की बात नहीं थी। काल पाकर इस कला को राज्याश्रय मिला और तत्कालीन प्रसिद्ध चित्रकार तथा मूर्तिकार भी इस काम में लग गए।

"तभी कुछ ऐसा हुआ कि प्राचीन भारत के कुछ कलाकार धार्मिक सिद्धान्त के कट्टर अनुशासन में न चलकर, रंग और रेखाओं की शक्ति के उपयोग में

आनंद लेने लग गए। उनकी कला में एक नई ताजगी आई, जो ऐन्द्रिक भी थी और संवेदनपूर्ण भी। अनुराग एवं विराग की भूमिकाओं का अद्भुत समन्वय इसमें हुआ। ऐसी कला-कृतियों में अजंता-कला-मंडप सर्वोपरि स्थान रखते हैं।"[1]

अजंता की गुफाएँ—महाराष्ट्र-राज्य के औरंगाबाद जिले में अजंता की गुफाएँ स्थित हैं। मध्य रेलवे के दिल्ली-बम्बई पथ पर भुसावल से आगे पचोरा से जानेवाली छोटी लाइन पर पाहूर स्टेशन मिलता है, जिसके समीप ही फर्दापुर गाँव है। फर्दापुर से अजंता साढ़े तीन मील पर है। फर्दापुर में यात्रियों के लिए सुविधा-संपन्न डाक-बँगला है।

अजंता में कुल मिलाकर तीस गुफाएँ हैं, जो पहाड़ को चंद्राकार काटकर बनाई गई हैं। गुफाओं के नीचे बहती हुई बघोरा नदी ने अजंता की प्राकृतिक शोभा में विशेष वृद्धि की है। यह बड़ा एकान्त स्थान है। पुरातत्त्व के विद्वानों का मत है कि दूसरी सदी ईसवी-पूर्व से गुफाएँ काटी जाने लगी थीं। यह कार्य सातवीं शताब्दी तक चलता रहा। बौद्धों की ये गुफाएँ उसी सपने का साकार रूप हैं, जो बौद्ध-कला के प्रत्येक युग का प्रतिनिधित्व करती हैं। चीनी यात्री फाहियान और ह्यु एनसाँग ने अपने यात्रा-विवरण में इन कला-मंदिरों का उल्लेख किया है। लॉरेंस बिनयान के अनुसार अजंता की कला एशिया की कला के इतिहास में उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, जितना यूरोप में यूरोपीय कला का है।

इतनी महत्त्वपूर्ण कला-कृतियाँ लगभग एक हजार वर्षों तक कला-जगत की अनभिज्ञता का शिकार रहकर अचानक सन् १८१९ ई० में कैसे प्रकाश में आईं, इसकी भी अजब कहानी है। मद्रास-फौज के एक अवकाश-प्राप्त ऑफिसर ने चीते के आखेट में गुफा-द्वार पर पहुँचकर घनी हरीतिमा के अंतराल में बैंगनी पत्थरों के खंभों के बीच, सुनहरे लाल रंग में कुछ ऐसी चीज देखी, जिसने कप्तान को जिज्ञासा-पूर्ण उत्साह से भर दिया। वे यह सोचकर गौरवान्वित हुए कि वे संसार को एक ऐसी चीज का पता देने जा रहे हैं, जो वास्तुकला की दृष्टि से निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। तब से परवर्ती कुछ वर्षों में दर्शकों द्वारा अजंता के चित्रों का जितना नाश हुआ, उतना संभवतः विगत बारह-चौदह सौ वर्षों में भी नहीं हुआ

1. अजंता के गुह्य चित्र कैसे बने? : श्री कन्हैयालाल नन्दन

होगा। वस्तुतः जहाँ तक मनुष्य के हाथ पहुँच सकते है, वहाँ तक के अधिकांश चित्र मिट चुके हैं।

कुछ काल बाद अजंता के समुचित संरक्षण का भार निजाम-सरकार ने अपने हाथों में ले लिया और वहाँ ठहरने की, अध्ययन करने की एवं उसे प्रकाशित करने की समुचित योजनाएँ बनीं। संप्रति अजंता को राष्ट्रीय महत्त्व का प्राचीन अवशेष (नेशनल मॉन्युमेण्ट) मान लिया गया है और हैदराबाद देशी राज्य के भारत में विलीन होने के बाद उसके संरक्षण तथा प्रबंध का भार भारत-सरकार द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर वहन किया जा रहा है।

अजंता महाराष्ट्र के औरंगाबाद नगर से सत्तर-बहत्तर मील पर है। वस्तुतः वहाँ इस शब्द का उच्चारण 'अजिण्ठा' है, जिस नाम का वहाँ एक छोटा-सा ग्राम बसा हुआ है। वहाँ दर्शनार्थियों के लिए एक सुन्दर विश्राम-गृह का प्रबंध है, जहाँ से यात्री-बस द्वारा सुविधा से प्रायः दो मील की यात्रा करके अजंता की गुफाओं तक पहुँचा जा सकता है। सत्तर-बहत्तर मील का यह सारा रास्ता प्राकृतिक सौंदर्य से भरा हुआ है—ऊँचे-ऊँचे श्यामवर्ण पहाड़, बीच-बीच में मैदानों को घेरे हुए हैं। साल, सागवान और विशेष रूप से पारिजात अपनी सुरभि का प्रतिदान किया करते हैं।

अजंता के ये कला-मंदिर इसलिए अधिक महत्व रखते हैं कि इनमें एक साथ वास्तु, मूर्ति और चित्र-कलाओं के नमूने देखने को मिल जाते हैं। किन्तु मुख्यतः अजंता की विश्वव्यापी प्रसिद्धि उसकी चित्रकला के कारण है। यह विशेष उल्लेखनीय है कि जो युग संस्कृत-साहित्य का स्वणयुग कहा जाता है, वही अजंता के चित्रों के निर्माण का युग है।

विभिन्न विद्वानों ने अजंता की कला का अध्ययन कर उसे विश्व की कला-कृतियों के संदर्भ में देखा है और अनेक निष्कर्ष निकाले हैं। चित्रों का मुख्य विषय बुद्ध का वास्तविक जीवन तथा उनके पुनर्जन्म की कथाओं (जातकों) का चित्रण है। अजंता की कला अपने-आप में बिलकुल मौलिक है।

अजंता के चित्रों में कथाएँ कही गई हैं, जिनमें विषय से संबंधित पुरुषों और उनके विषयों को सही रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आश्चर्य होता है यह देखकर कि दीवालों पर ऊपर-नीचे ब्रश के सहारे खींची गई लंबी और सशक्त मोड़ खानेवाली रेखाएँ इन कलाकारों ने खींची कैसे होगी।

अजंता के चित्र तत्कालीन चित्रकला के विविध रूपों और रंगों को ही नहीं, वरन् समाज के रहन-सहन आदि के भी द्योतक हैं। अजंता का चित्रकार जहाँ कुछ दृष्टियों से आदर्शवादी या रहस्यमय-सा प्रतीत होता है, वहीं समाज के रहन-सहन के चित्रण में वह पूर्णतया यथार्थवादी है।

श्री कन्हैयालाल नंदन के शब्दों में—"अजंता के कलाकार रेखाओं के धनी थे। उन्हें एक-एक रेखा की स्थिति का ज्ञान था। अजंता में हाथों का चित्रण उनके इसी ज्ञान का परिणाम है, जहाँ हाथों-हाथ में सारी बात स्पष्ट कर देने की क्षमता है। मनःस्थितियों और भावों के अनुसार बदलती त्वचा के एक-एक रेशे के परिवर्त्तन को इन कलाकारों ने रेखाओं में बाँधने का प्रयास किया है।

पशु-पक्षियों के चित्रण में कलाकारों ने असाधारण प्रतिभा दिखाई है। चूँकि जातक-कथाओं के अनुसार पूर्व-जन्मों में बुद्ध हरिण, हाथी, हंस आदि रह चुके हैं; इसलिए कौन कह सकता है कि किस पशु-पक्षी में इन कलाकारों को यह महान आत्मा निवास करती नहीं दिखाई पड़ी ?"[1]

अजंता के चित्रों में बुद्ध-चरित्र से संबंधित चित्रों की बहुलता है। वे वस्तुतः अद्वितीय हैं। अजंता के चित्रों में जातक-कथाएँ अनुपम ढंग से चित्रित की गई हैं। इनमें बुद्ध का एक चित्र है, जो ऐसे विचित्र रूप में निर्मित किया गया है कि उसे हम किधर से भी देखें, वह भी हमें देख रहा है—ऐसा नजर आता है, मानों बुद्ध संसार को सम-दृष्टि से देख रहे हैं। उनमें आकर्षण है। रंग से इतनी बारीकी से काम किया हुआ है कि देखते ही बनता है।

बुद्ध से संबंधित विषयों के अतिरिक्त नारी-चित्रण अजंता की चरम उपलब्धि है। नारी-चित्रण किसी प्रत्यक्ष धार्मिक या साहित्यिक दृष्टिकोण से नहीं हुआ, मात्र चित्रण के आनंद के लिए हुआ है।

केश विन्यास भी अजंता की कला में अपना प्रमुख स्थान रखता है। अनेक प्रकार के वेणी-विंदु और उन्हें पुष्पसज्जित करने की विधियाँ आज के भारतीय महिला-समाज को अभी युगों तक नई-नई उपलब्धियों की शिक्षा दे सकती हैं।

अजंता की चित्रकारी में हाथों के माध्यम से भाव-व्यंजना में अत्यधिक सहायता ली गई है। हाथ की अगुलियों के बनाने में चित्रकार ने कमाल कर

1. **अजंता के गुह्य चित्र कैसे बने ? : श्री कन्हैयालाल नंदन।**

दिया है। प्रत्येक अंगुली का अपना एक पृथक कार्य प्रतीत होता है। मुँह के बिना हाथ अकेले ही भाव-व्यंजना में समर्थ है। यद्यपि आँख, नाक, कान बनाने की प्रविधि (तकनीक) एक है, तब भी भाव-व्यंजना के कारण उनमें इतनी विविधता आ गई है कि वे एक-से नहीं लगते।

"अजंता के कलाकारों ने विश्व की निगाहों में पनपते, हरे-भरे वसंतोत्सव मनाते, पौधों, चिड़ियों, बंदरों, हिरनों, हाथियों, खेतों, पहाड़ियों, नगरों और राजमहलों के बीच पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का, विभिन्न मनःस्थितियों में जो चित्रण किया है, उनमें वे अपनी अभिव्यक्ति की सजीवताएँ छलकाते दीख पड़ते हैं। इन चित्रों में अंकित सारा भौतिक जीवन अपनी हँसी और रुदन के बीच आध्यात्मिक जीवन का प्रादुर्भाव प्रदर्शित करता है, उस आध्यात्मिक जीवन का, जहाँ करुणा और दया का साम्राज्य है। वहाँ त्याग की आत्मा प्रदर्शित है, पर भौतिक जीवन से दूर भागकर घृणा के रूप में नहीं। यह त्याग उस राज कुमार के जीवन से उदित होता है, जिसकी आँखों में तेज है, जिसने तपस्वी जीवन बिताकर भौतिकता से दूर भागने के बजाय उसी के बीच रहकर निर्वाण के रास्ते को खोज निकाला, जो इन भौतिकताओं के बीच खड़ा किसी विशेष दृश्य पर आँख नहीं गराए है; मगर सारा विश्व उनकी आंखों के सामने है। इन चित्रों में मानव के द्वित्व की छाया एक साथ दिखाई पड़ती है। एक ओर भौतिक क्रियाशीलता के प्रति उसकी उत्साह-भावना, जिज्ञासा, सौंदर्य और आनंद की पिपासा और ऐन्द्रिक सुख की अभिलाषाएँ हैं, तो दूसरी ओर उसी जगह इन्हीं सबके त्याग में प्रकाश की अनवरत खोज का अद्भुत उपदेश। भौतिक और आध्यात्मिक मिलन कला के एक ऐसे संसार में लाकर हमें छोड़ देता है, जहाँ न अनुरक्ति की प्रधानता है, विरक्ति की; जहाँ चरम अनुराग और चरम विराग एक तन हो गया है।

"चित्रकला मानवीय कल्पना की नितान्त रोमांचकारी सचित्र साहस-गाथा है। किन्तु कला के मूल्यांकन और रसास्वादन-संबंधी धारणाओं में समय-समय पर परिवर्त्तन भी होता रहता है, जैसा कि स्वयं चित्रांकन की रीतियों और शैलियों में भी परिवर्त्तन हुआ करता है। प्रत्येक युग के अपने मन-पसंद बिंब होते हैं, अपनी भावनाएँ होती हैं। परिवर्त्तन की इसी प्रक्रिया में मानव का सौंदर्य-विवेक परिमार्जित और विकसित होता है। काल की तुला पर तौलने पर

कई बार अतीत के माने हुए दिग्गज कलाकारों के चित्र आज की कला-रुचि को तृप्त करने में असफल सिद्ध हो सकते हैं।

"किन्तु कुछ चित्रों में ऐसी कोई खूबी होती है कि कोई बड़े-से-बड़ा आलोचक भी उनमें मीन-मेष नहीं निकाल सकता और उनकी महानता अक्षुण्ण बनी रहती है। अजंता के बोधिसत्व पद्मपाणि और भिक्षापात्रधारी बुद्ध ऐसे ही महान चित्र हैं। इनकी समूची कल्पना अत्यंत उदात्त है।"[1]

श्रीपुर नगर की कला—इसी प्रकार के चित्र मध्यभारत के छत्तीसगढ़ के श्रीपुर नगर में हैं। श्रीपुर नगर का प्राकृतिक सौंदर्य अलौकिक है। इसकी शोभा निरखते ही बनती है। यहाँ पर लक्ष्मण-देवालय का पवित्र मंदिर है, जिसकी शिल्प-कला अजंता की शिल्पकला से भी बढ़कर है। इसको देखकर विदेशी शिल्प-मर्मज्ञ भी दंग रह जाते हैं। इसके चारों तरफ जंगल-ही-जंगल है। उसकी परिक्रमा करती हुई महानदी बहती है, मानों वह भी उस कला को देखकर विस्मय से आत्म-विभोर होकर चारों ओर उस शिल्पकार को ढूंढ़ रही हो, जो अभी सामने से चला गया है। कला के प्रसिद्ध पारखी श्री रायकृष्ण दास का अजंता की कलाकृति पर कथन है—"अजंता की परिक्रमा करने के बाद हमें दो विषयों पर विचार करना चाहिए। एक तो अजंता में जो रूप प्रस्तुत किए गए हैं, उनका आदर्श क्या है? यह तो निश्चित है कि उस रूप का आदर्श चित्रण-मात्र है। फिर भी हम यह नहीं मान सकते कि चित्रकार ने ऐसा लोक उपस्थित किया है, जिसकी जड़-मिट्टी में न हो। हम गुप्तकालीन साहित्य में रूप-चयन की प्रायः चर्चा पाते हैं। जान पड़ता है कि इस रूप-चयन से एक ऐसी अलौकिक सुन्दरता-वस्तु-विशेष की प्राप्ति हुई थी, जिसे हम तत्कालीन कला में प्रतिफलित पाते हैं। इस प्रकार यह कलाकार के मानस और दृश्य जगत का सुन्दर समन्वय था। कहीं-कहीं पर इसमें अतिरंजना है, फिर भी इन आकृतियों में हृदय की धड़कन मौजूद है।

"अजंता की शैली का बौद्ध-कला के पक्ष में कोई ऐसा तर्क नहीं है; जिसे महत्त्व दिया जाए। फिर भी कला के इतिहासकार यहीं तक सीमित नहीं रहे।

1. **महान चित्रों का साक्षात्कार ('नवनीत' नवम्बर, १९६७) : बी० पी० सन्याल।**

उन्होंने यहाँ तक निर्णय दे डाला कि चित्रकार बौद्ध भिक्षु रहे होंगे। अजंता के चित्रों में तत्कालीन गुप्त-शैली समाविष्ट है, जिसमें ब्राह्मण, बौद्ध, जैन सभी के समान उदाहरण मिलते हैं, जो किसी प्रकार पृथक नहीं। वस्तुत: अपनी कलाओं में किसी युग में भी धार्मिक विभाजन नहीं हुआ। हम जिसे बौद्ध-कला कहते हैं, उसका मूल बौद्ध-धर्म से संबंधित नहीं; क्योंकि प्रारंभिक बौद्ध-धर्म कलाओं के प्रति असहिष्णु न होता तो एक नई बौद्ध-शैली की उद्भावना संभव थी।

"बौद्ध-भिक्षुओं के अंकन की बात तो हास्यास्पद है। हम स्थान-स्थान पर देखते हैं कि आलेखनों में जैसी विशेषता है, वह प्रकांड चित्राचार्यों द्वारा ही संभव है, इतर जनों द्वारा नहीं। जो मनोविनोद के लिए व धार्मिक भावना के कारण आलेखन करते हैं, उन आलेखनों का परंपरा से, पूर्व-काल और उत्तर-काल से, ऐसा घनिष्ठ संबंध है, जो परंपरागत चित्रकारों को ही सुलभ है।"[1]

राजपूत-शैली—राजपूत-शैली हिन्दू-जीवन-दर्शन के प्रस्तुत करने में प्रसिद्ध रही है। उसमें पौराणिक तथा ऐतिहासिक चित्र भी बनाए गए हैं। राम और कृष्ण की लीलाओं के चित्र तो पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। राजपूत-पेंटिंग के अनुसार एक चित्र में वैकुंठ में निवास करनेवाले विष्णु का चित्र है। लक्ष्मी पास में बैठी है। शिव, गणेश और ब्रह्मा भी वहाँ दिखाई देते हैं। ब्रह्मादि देवता विष्णु से अवतार ग्रहण करने की प्रार्थना कर रहे हैं।

रामलीला को चित्रित करने के लिए राम की गाथा और सीता की अग्नि-परीक्षा के चित्र बनाए गए हैं। राधा-कृष्ण की लीलाओं को सुन्दर रूप में चित्रित किया गया है। कृष्ण के प्रति गोपियों की प्रेमाभिव्यक्ति के अनेक चित्र बन गए। कृष्णलीला के रास-मंडल, चीर-हरण, गोवर्धन-धारण, गोपियों के साथ जल-विहार, राधा-कृष्ण-मिलाप, कृष्ण द्वारा कालिय का दमन, दावानल का उपचयन जैसे चित्र अपने अनुपम रूप में पाए जाते हैं, जो कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं।

पलायन के बाद जब हुमायूँ भारत लौटा तब वह अपने साथ दो ईरानी चित्रकारों को भी लाया, जिनके प्रयास से भारत में नई चित्रशैली का जन्म

---

1. अजंता के चित्रकूट : श्री रायकृष्ण दास, पृ० ५८-५९

हुआ। यद्यपि मुगल-चित्रशैली और राजस्थानी (राजपूत) शैली में भारी अंतर है, तथापि यह निश्चित है कि राजस्थानी शैली पर मुगल-शैली का प्रभाव पड़ा। उत्तर-पश्चिम भारत अर्थात् गुजरात तथा उसके आसपास की चित्रशैली का ह्रास हुआ और इधर कृष्ण-भक्ति के प्रभाव से राजस्थान में चित्रकला को नवजीवन प्राप्त हुआ। सोलहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्णलीला पर राजस्थान में चित्र बनाए जाने लगे। सत्रहवीं शताब्दी में कृष्ण और राधा को नए अर्थों में चित्रित किया जाने लगा। कृष्णलीला के साथ-साथ रासलीला, रागमाला, नायिका-भेद, बारहमासा, रामायण आदि के कथा-चित्र बनाए जाने लगे।

राजपूत-कलम के अधिकतर चित्रकार मुसलमान थे। जब औरंगजेब ने ललित कलाओं को संरक्षण देना बंद कर दिया तब मुगल-दरबार से पलनेवाले चित्रकार राजपूतों की शरण में जा बसे।

राजस्थानी चित्र-शैली के मुख्य केन्द्र मेवाड़, बीकानेर, जोधपुर, बूंदी, उदयपुर, किशनगढ़, जैसलमेर आदि थे। इन्होंने रामायण, महाभारत, विष्णु तथा शिव के धार्मिक आख्यानों से विषय का चुनाव किया और उन्हें रेखाओं और रंगों में पूरित कर दिया। संपूर्ण रामायण—राम के जन्म से लेकर अयोध्या के राजा होने तक—की एक-एक कथा चित्रित मिलती है। इसी प्रकार कृष्ण का सपूर्ण जीवन-चरित्र चित्रों में चित्रित है। गीता-प्रेस, गोरखपुर में इन चित्रों की प्रतिलिपियों का सुन्दर संग्रह सुसज्जित है।

राजपूत-चित्रशैली में कोमलता, मोहकता एवं सूक्ष्मता है। राधा और कृष्ण के माध्यम से नारी और पुरुष के शाश्वत प्रेम का चित्रण किया गया है। मंदिरों और राजभवन की दीवारों पर भी अनेक चित्र अंकित हैं। धार्मिक कथनों और राजाओं के जुलूस, दरबार आदि के चित्रों से भित्तियों को सुसज्जित किया गया है।

किशनगढ़-कलम—राजपूत-नरेश जहाँ रणक्षेत्र में कालभैरव बनते थे, वहाँ सुख-मंदिरों में बैठकर तूलिका की थिरकती चाल को परखा करते थे। इसीलिए राजस्थान की रक्तरंजित भूमि में लघु-चित्रों की अमर बेल रोपी जा सकी। किशनगढ़ की राजपूत-कलम अपने पूर्ण यौवन को प्राप्त हुई। किशन-गढ़ के श्रीकृष्णलीला-संबंधी चित्र नितांत नए, विमुग्धकारी और रहस्यपूर्ण

हैं। अनेक चित्रांकन १८वीं एवं १९वीं शताब्दी के चित्रों से भिन्न हैं। कुछ चित्रों का सृजन एक ही कलाकार द्वारा हुआ था; इनके पीछे कवित्त भी लिखे हैं। प्रश्न उठता है कि वह अज्ञात कवि कौन था, जिसकी कलम से ऐसे नयनाभिराम मौलिक चित्रों का अंकन हुआ। इस समस्या का समाधान करते हुए बाला सहाय शास्त्री ने बताया कि इस चित्रकला के उन्नायक स्वयं किशनगढ़-नरेश सावंत सिंह थे, जो वल्लभ-संप्रदाय के भक्त कवियों में कवि नागरीदास के नाम से प्रसिद्ध हैं।

महाराज सावंत सिंह (१६९९-१७६४ ई०) ने 'नागरीदास' उपनाम से चित्र और काव्य का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया। आसपास ब्रज में अभी भी वल्लभ-संप्रदाय के वैष्णव मंदिरों में इनके रचे पद गाए जाते हैं। इन्होंने मनोरथ-मंजरी, रसिकरत्नावली और बिहारी-चंद्रिका—इन तीन ग्रंथों की रचना की। इन्हीं ग्रंथों ने किशनगढ़ की चित्रकारी को रसमय विषय प्रदान किए। यदि किशनगढ के चित्रों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाए तो उनमें प्रेम की बाँकी पीर अँगड़ाई लेती हुई नजर आती है। इस चित्र-शैली में एक प्रकार की नारी-जागृति का चित्रण हुआ है।

महाराज सावंत सिंह को चौदह वर्ष की एक अपूर्व सुन्दरी बाला से प्रेम हो गया। कालान्तर में सावंत सिंह कवि नागरीदास हो गए और वह गायिका किशोरी 'वणीठणी' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उस किशोरी को सावंत सिंह प्रेम से ''वानी' कहकर पुकारते थे, अंत में सावंत सिंह अपने पुत्र को राजगद्दी देकर वृन्दावन चले गए। नागरीदास और वानी ने वृन्दावन-विहारी के चरणों में गीत गाते हुए अपने जीवन को समर्पित कर दिया। इस सलोनी कहानी ने किशनगढ़ के चित्रों में जान डाली। इस युगल-छवि को इनके महान प्रेम के कारण ही चित्रों में राधा-माधव की जगह चित्रित किया गया।

सावंत सिंह ने चितेरे अमल सुरध्वज निहालचंद को प्रेरित-प्रभावित किया। इस चित्रकार ने कृष्णलीला-संबंधी अनेक चित्र बनाए। इनके सहायक अमरचंद और सीताराम ने मंदिरों के लिए सुन्दर पिछवाइयों का भी ताना-बाना बुना। —डॉ० रामावतार अग्रवाल

नाथद्वारा (उदयपुर) की पिछवाइयाँ—नाथद्वारा-शैली का भारतीय चित्रकला में एक विशिष्ट स्थान है। यहाँ के चित्रकारों ने कागज और कपड़ा

—दोनों पर ही श्रीनाथ जी का चित्रांकन किया है । कपड़े पर की यह चित्रकारी विश्व-भर में प्रसिद्ध है । बेहतर बनाए गए चित्र, जो पिछवाई के नाम से विख्यात हैं, बड़े आकर्षक होते हैं । नाथद्वारा के सैकड़ों परिवार इस चित्रकला में निष्णात हैं । बालक से लेकर वृद्ध तक परिवार का हर सदस्य चित्रकारी जानता है और पिछवाई बनाने में सहयोग देता है ।

पिछवाई की कला का जन्म भी मथुरा और वृन्दावन में हुआ । पिछवाई पर श्रीनाथ जी का चित्रांकन काफी समय से होता चला आ रहा है । श्रीनाथ जी के दर्शन के लिए आए हुए तीर्थयात्री कागज अथवा कपड़े पर अंकित श्रीनाथ जी का चित्र सौगात के तौर पर ले जाते रहे हैं । मथुरा में आजकल भी पिछवाई का काम कहीं-कहीं होता है । पिछवाई मंदिरों में श्रीनाथ जी की प्रतिमा के पीछे दीवार पर लटकाने के काम में लाई जाती है । नाथद्वारा के मंदिर में दैनिक अष्ट-दर्शन के समय श्रीनाथ जी की मूर्ति के पीछे लटकाई जानेवाली पिछवाई दिन में आठ बार बदली जाती है ।

उन्नीसवीं शताब्दी की बनी कुछ पिछवाइयों पर राजस्थान की चित्रशैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । स्त्रियों की आकृतियों पर बुंदी चित्रशैली का प्रभाव है । पुरुषों की आकृतियाँ कोटा-कलम से मिलती-जुलती है, जबकि आँखों की बनावट पर किशनगढ़-कलम का प्रभाव है ।

उन्नीसवीं शताब्दा में बनी एक पिछवाई में श्रीनाथजी के चारों ओर भक्तिभाव से ओत-प्रोत भक्तिनियों का समूह चित्रित किया गया है ।

यद्यपि किशनगढ़ और नाथद्वारा की चित्र-शैलियों का विकास वल्लभाचार्य के दर्शन के प्रभाव से हुआ, तथापि इन दोनों कलमों की विषय-विवेचना सर्वथा भिन्न है ।

श्रीनाथ जी के मंदिर में आजकल भी लाखों रुपए मूल्यवाली पिछवाइयों का प्रयोग किया जाता है । ये पिछवाइयाँ अपनी कलात्मकता के कारण बहुत मूल्यवान हैं ।

पिछवाई की कला नाथद्वारा के चित्रकारों की अपनी विशेषता है, लेकिन संभवतः संरक्षण के अभाव के कारण बढ़िया किस्म का काम धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है । —सुभाषिणी आर्य

इस प्रकार राजपूत-कलम भारत की राष्ट्रीय कला-प्रवृत्ति से फूटकर निकली है । उसमें जीवन-साधन, सौंदर्य और धार्मिकता है । उसमें श्रृंगार का पुट भी है, परन्तु मुगल-शैली के सदृश भोग और उल्लास नहीं है ।

कहते हैं कि मुगल और राजपूत-कलमों के मेल से पहाड़ी कलम निकली। कुछ लोगों का मत है कि राजपूत-कलम के दो क्रीड़ा-क्षेत्र थे—एक हिमालय की तराई में तो दूसरा राजस्थान के मैदान में। कांगड़ा-शैली में पहाड़ी कलम परिपक्व हुई, तो जयपुर-शैली में राजपूत-कलम।

इस प्रकार मूर्ति-पूजा के प्रचार के परिणाम-स्वरूप भारतीय चित्रकला के अनुसार रामायण, महाभारत और भागवत-पुराण की घटनाओं के आधार पर अनेकों नयनाभिराम चित्र बनाए गए। वर्त्तमान काल में रवि वर्मा का चित्र लोकप्रिय हुआ। बौद्ध-धर्म के भिक्षुओं द्वारा बौद्ध-धम-प्रचार की तरह विष्णु और उनके अवतारों की लीलाओं के रूप में चित्रकला प्राचीनकाल में धर्म-प्रचार का आवश्यक अंग मानी जाती थी।

लेपाक्षी मंदिर की भित्तिकला—भारत में भित्ति-चित्रों के निदर्शन बहुत कम पाए जाते हैं। अजंता के गुफा-मंदिरों के प्रसिद्ध भित्ति-चित्रों तथा श्रीपुर सदृश छिट-फुट स्थानों के भित्ति-चित्रों को छोड़कर भारत में और कहीं भी भित्ति चित्रों का अस्तित्व जनसाधारण की जानकारी में नहीं है। हाल ही में तमिलाडु में लेपाक्षी देवी का अपूण और उपेक्षित पड़ा हुआ मंदिर प्रकाश में आया है, जिसकी ओर पुरातत्त्ववेत्ताओं और कला-पारखियों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। वहाँ अद्भुत पूणता है; कौशल और ताजगी से ओत-प्रोत भित्ति-चित्रों का अंकन है; महाविष्णु और भगवान शिव के अनेक अवतारों तथा रामायण और महाभारत की कथाएँ इन चित्रों का प्रधान विषय हैं। इतिहास, संस्कृति, कला-शिल्प और शृंगार-प्रसाधन के विद्यार्थियों को इन चित्रों में प्राचीन भारत की वेशभूषा, रीति-रिवाज, जीवन-चर्या, शृंगार, अलंकार, गृह-सज्जा, सामाजिक जीवन आदि विषयों के अध्ययन की प्रचुर सामग्री मिल सकती है।

यह मंदिर तमिलनाडु में गुंतकल-बंगलोर रेलवे-पथ पर हिन्दूपुर स्टेशन से दस मील की दूरी पर लेपाक्षी नामक ग्राम में पाया गया है। कूर्मशैल नामक एक पहाड़ी पर यह बना हुआ है। आज इसके गोपुर, परकोटे आदि ध्वस्त हो चुके हैं। लोगों का ध्यान इस मंदिर की कला की ओर पहले आकृष्ट नहीं हुआ था। सन् १९३५ ई० में राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद वहाँ गए थे और वहाँ के कला-शिल्प से बहुत प्रभावित हुए थे।[1]

1. लेख ('धर्मयुग', ८ अक्टूबर, १९५९) : एम० एल० राव।

मूर्तिकला

यह दिखाई देनेवाला जगत परमात्मा का स्थूल रूप है। यह अमूर्त ही मूर्तरूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। यहाँ के चर-अचर में भी वह सूक्ष्म रूप में समाया हुआ है। स्थूल जगत अव्यक्त ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करता है। इसी तरह देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी ईश्वर के स्थूल रूप को दिखाने के लिए बनाई गई हैं। अर्थात् जिस तरह जगत को देखने से उसके रचयिता ईश्वर की याद ताजा हो जाती है, उसी तरह मूर्ति के सामने आते ही उसके सूक्ष्म रूप का स्मरण हो आता है। कलाकार जिस मूर्ति का निर्माण करता है, वह तो वास्तव में उसके मन और हृदय में रहती है। वह तो केवल उसकी भावना का प्रतीकात्मक रूपान्तर-मात्र है।

"विष्णु और उनके अवतारों की मूर्तियों का निर्माण भी इस बुद्धिमत्ता से किया गया है कि उनसे समस्त कथावस्तु का बोध हो सकता है, उनकी आकृति अध्यात्म के गुह्य रहस्यों को खोलनेवाली सिद्ध होती है। वेद-शास्त्रों में विष्णु के जिस रूप का प्रतिपादन किया गया है, वही रूप हमारे सामने व्यक्त में दिखाई देता है। मूर्तियाँ उनकी पूर्व-कथा का प्रतिबिंब मात्र हैं। इसलिए नारद-पुराण में इस जगत को विष्णु का मूर्तरूप कहा गया है। विष्णु-पुराण में भी इन विचारों की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि सर्वव्यापी एवं निराकार विष्णु स्थूल रूप धारण करके देवताओं, मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों आदि के विविध रूपों में यहाँ दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

"विष्णु की मूर्तियों में उनके विराट रूप के दर्शन होते हैं। पिंड में ब्रह्माण्ड की भावना को व्यक्त करना ही पुराणकारों की विशेषता रही है।"[1]

"गुप्तकालीन विशाल मंदिर, जो अलंकृत ईंटों, मृण्मय मूर्तियों एवं फलकों द्वारा निर्मित हैं, आज भी कला के महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं—कानपुर के निकटस्थ भीतरगाँव का मंदिर, सोरपुर का लक्ष्मण-मंदिर, सारनाथ का छोटा मृण्मय स्तूप, पहाड़पुर का बृहद स्तूप, जिसके अलंकरण में सहस्रों मृण्मय मूर्तियाँ लगी हैं। महास्थान की कलायुक्त मृण्मय मूर्तियाँ प्रस्तर-शिला-युक्त मूर्तियों

---

1. **देववाद का वैज्ञानिक स्वरूप — विष्णु-रहस्य : डॉ० चमनलाल गौतम, पृ० १२९-३०**

से किसी प्रकार कम नहीं हैं। अहिच्छत्रा के शिव-मंदिर में प्रयुक्त मिट्टी के फलक उन्नत कला के परिचायक हैं। सिंध के मीरपुर खास में स्थित विशाल स्तूप के भग्नावशेष मृण्मय मूर्तियों का कलात्मक सौष्टव प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार गुप्त-युगीन ईंटें तथा मिट्टी की मूर्तियाँ गंगाघाटी में बिखरी पड़ी हैं। ....अहिच्छत्रा के शिव-मंदिर से लगी हुई गंगा-यमुना की बृहद् मृण्मय मूर्तियाँ हैं। इनके अतिरिक्त राजघाट से अनेक गुप्त-युगीन मृण्मय मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। एक में झूला झूलती हुई युवती का अंकन है तो दूसरी मृदंग-वादन करती हुई सुन्दर नारी-मूर्ति है।"[1]

भारतीय मूर्तिकला के विकास के संबंध में विख्यात विद्वान डॉ० राधा कमल मुखर्जी का विचार है—"भारतीय कला के अभ्युदय का इतिहास पहली शताब्दी ईसा-पूर्व के आरम्भिक वर्षों में, लगभग एक साथ गांधार और मथुरा में बुद्ध, शिव और कृष्ण की प्रतिमाओं के विकास के रूप में प्रारंभ हुआ। भारतीय कला के सर्वप्रथम प्रतिमान यही थे। कला का विकास इन्हीं प्रतिमाओं के साथ ६०० ई० तक लगभग तीन शताब्दियों तक हुआ। इन मूर्तियों में एक ओर तो मानव की उत्कृष्ट नैतिक भव्यता की अभिव्यक्ति हुई तथा दूसरी ओर, मानव-शरीर की लय एवं सुन्दरता की। लगभग इसके ५०० वर्ष पश्चात् गुप्त-सम्राटों के समय सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ और भारत समृद्ध बना।"

उसी समय सार्वभौम कल्पनाओं और भारत की राष्ट्रीय उत्कर्षशील संस्कृति की अभिव्यक्ति बौद्ध तथा हिन्दू-कलाओं में हुई। यह संवेदनशील, धर्म-निरपेक्ष और सगुणवादी कला थी; किन्तु सार्वभौम चेतना की अभिव्यक्ति भी इसमें हुई।

अश्वघोष, कालिदास और भारवि के धीरोदात्त नायक-नायिकाओं की लक्षणाओं और विविध कल्पनाओं में रूपकारों की आध्यात्मिक भव्यता, और विविधता गुप्त-कालीन मंदिरों के देवी-देवताओं की मूर्तियों में भी मौजूद है।

भारतीय मूर्तिकला में पहले के लोकप्रिय प्रतीकों के समन्वय की स्पष्ट अभिव्यक्ति क्लासिकी प्रवृत्ति के कारण हुई। यह समन्वय-युग की नवीन

---

1. **प्राचीन भारत की मृण्मयी मूर्तियाँ ('कादबिनी'**, अगस्त, १९६७) : **राजेन्द्र पांडेय**

साहित्यिक एवं शास्त्रीय रुचियों और परंपराओं के बल पर संभव हो सका था। मथुरा के वेदिका-स्तंभों की यक्षिणियों की मांसल कामुकता को गुप्त-मूर्तिकला की विमोहक कन्याओं तथा चाँवरधारिणी कुमारिकाओं के त्रिभंग-मुद्रात्मक प्रतीकों में पुनः प्रस्तुत किया गया।

गुप्त-कालीन साहित्य के समान, गुप्त-कला में भी मानव के शारीरिक नहीं, वरन् आध्यात्मिक सौंदर्य के प्रतिमान स्थापित किए गए हैं।········गुप्त-काल में निर्मित नारी की अनेक नग्न मूर्तियाँ लयात्मक दैहिक सौंदर्य से कंपित, किन्तु फिर भी निर्मल और संयत हैं।

तांत्रिक मूर्तियों में न तो प्रेम में विषयासक्ति है और न काम को लेकर नाक-भौं ही सिकोड़ी गई है। उसमें नर-नारी असंख्य प्रकार के आलिंगनों में दिखाए गए हैं, जो ईश्वर में हो रही आत्मा के परमानंद के प्रतीक हैं।

तांत्रिक परंपरा का, विशेषतया उसके सहज रूप का, भारतीय कला पर जो प्रभाव पड़ा, उसका सर्वश्रेष्ठ रूप उत्तर-मध्ययुग (ईसवी सन् की लगभग ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी) के पूर्वी भारत की शिव और उमा की संयुक्त प्रतिमाओं में मिलता है। उसमें लालित्य और शक्ति का, मानवीय संवेदनशीलता और आत्मिक भावमग्नता का, शारीरिक कोमलता और कमनीयता तथा आकार-मातृका और रूप के कड़े संयम का अद्भुत संयोजन हुआ है।

इससे बहुत पहले हमें उमा-सहित प्रतिमाएँ गुप्तकालीन देवगढ़-मंदिर के द्वार-मार्ग और सुदूर इण्डोनेशिया में लगभग छठी शताब्दी के समय की मिलती हैं, जिनपर पल्लव-कला का प्रभाव है। तांत्रिकवाद ने भी पूरे देश में एक रोमांटिक अभिव्यजंनवादी कला को जन्म दिया था। तांत्रिक कला में सुर-सुन्दरी, अप्सरा या नायिका की मूर्ति के प्रतीकों द्वारा विश्वमोहिनी माया की अभिव्यक्ति आकर्षक ढंग की हुई। मध्ययुगीन मंदिरों के हर आले, दीवारों या कोने में इस कला के चित्र हमें मिलते हैं।

भारतीय कला के प्रतीकात्मक रूप की शायद सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति एलिफैंटा की गुफा (ई० सन् की आठवीं शताब्दी) में शिव-महेश्वर की विख्यात आध्यात्मिक मूर्ति में हुई है। इस प्रतिमा में बीच का मुख स्वयं-प्रभावित, निरपेक्ष और पारलौकिक तत्पुरुष सदाशिव का है; दायाँ मुख उग्र, भृकुटी ताने हुए तथा वैराग्य और विनाश की भावना से उधृत अघोर भैरव का है, और

बायाँ मुख है शिव की संगिनी, परम सौंदर्यमयी, आभूषण-युक्त उमा का। ……इस आध्यात्मिक त्रिमूर्ति के कुछ दूसरे रूप में, प्रशांत योगी के रूप में सदाशिव तो मध्य में हैं, किन्तु दाईं ओर हैं खप्पड़ से रक्त-पात करते हुए महाकाल तथा बाईं ओर एक दर्पण में प्रतिबिंबित ब्रह्माण्ड के रूप में अपने सौंदर्य का अवलोकन करती हुई महामाया। …… यह शिव-त्रिमूर्ति भारतीय संस्कृति की विशिष्ट विषय-वस्तु का अद्वितीय और व्यापक प्रतीक है।[1]

अतः प्राचीन भारतीय कला की शाश्वत स्थिति के भीतर केवल मानव की चिर-भावनाओं का मूर्त रूप ही नहीं है, वरन् उसकी आध्यात्मिकता की आधार-शिला भी सन्निहित है। सौंदर्य ही ईश्वर है, वही सत्य है; भद्दापन ही तो पाप है, चाहे वह भद्दा आचरण हो, भद्दा भाव या रूप। कला हृदय और मस्तिष्क की अचेतन अवस्था के आंतरिक सुप्त तारों को झंकृत करती है और उनकी भावना को प्रकट करती है। इसलिए भारतीय कला में मानव की आध्यात्मिक कल्पना की सिद्धि का ही रूपान्तर मिलता है। भारतीय कला धार्मिक संस्कृति और नैतिक आदर्शों का वाहन रही है और समाज के विभिन्न अंगों को उत्तेजित करती रही है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि यथार्थ कला समाज की आत्मकथा है, उसके जीवन और आत्मा का प्रतिबिंब है। कला की श्रेष्ठता के लिए यह जरूरी है कि उसे देखकर दर्शक के हृदय और मस्तिष्क पर एक विशेष प्रकार की छाप पड़े। भारतीय कला सदा धर्म की सहचरी रही है। आर्य या हिन्दूधर्म की अद्‌भुत सहिष्णुता और संस्कृतियों ने विशिष्ट गुणों को आत्मसात करने में योग्यता दिखाई है, जिसके परिणाम-स्वरूप हिन्दू, बौद्ध तथा जैन-कला को साथ-साथ पनपने का अवसर मिलता रहा। भारतीय आचार्यों और दार्शनिकों ने इस स्थूल सत्य को भी मान लिया कि अधिकतर सभी व्यक्तियों का बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास एक-सा नहीं होता, किन्तु अपने निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति में प्रत्येक व्यक्ति की एक ही अभिलाषा उचित और प्रशंसनीय है। इसलिए हिन्दू-धर्म में अपने-अपने अधिकार और योग्यता के आधार पर धर्मपंथ की विभिन्न पगडंडियाँ निर्धारित की गईं अथवा मान ली गईं। एक स्तर के धर्मार्थियों के लिए जहाँ मूर्ति की आवश्यकता

1. **भारतीय कला—प्रतीक और प्रतिमान** ('नवनीत', नवम्बर, १९६०) : **राधाकमल मुखर्जी**

अनिवार्य है, वहाँ पहुँचे हुए अध्यात्मवादियों के लिए मूर्ति का सहारा अत्यन्त आवश्यक है।

हिन्दू-धर्म भक्ति-प्रधान धर्म है। भक्तिपंथ के आरंभ और विकास का इतिहास विवादग्रस्त है, जैसाकि हम इस ग्रंथ के पूर्व पृष्ठों में देख चुके हैं। भक्तिपंथ का मूलाधार व्यक्ति की अपने विशेष इष्टदेव पर अटूट श्रद्धा है और वह अपने देवता में ही सब गुणों और सभी शक्तियों का अस्तित्व मानता है। वह अपने देवता की मूर्ति में इसी भाव और शक्ति की प्रतिच्छाया देखना चाहता है। इसलिए भगवान के अद्भुत रूप और अगणित पौराणिक चमत्कारों का सादृश्य प्रकट करने के प्रयास में अनेक देवी-देवताओं के अनेक रूपों की मूर्तियाँ बनने लगीं।

यूनानी कला से तुलना—यह सत्य है कि मानव-समुदाय मूलतः एक है, फिर भी मानव-जाति की प्रत्येक शाखा ने अपनी संस्कृति और अभिव्यक्ति के साधन और तरीकों को विभिन्न रूपों में अपनाया है। इसी कारण भारतीय और यूनानी कला एक-दूसरे से दूर हैं। यूनानी मूर्ति-कला की विशेषता है प्राकृतिक सौंदर्य का यथार्थ दिग्दर्शन। यूनानी देवी-देवताओं की नग्न मूर्तियों में हम शारीरिक सौंदर्य, सुघड़ और आकर्षक चेहरे और पूर्ण विकसित मांसल पुष्ट शरीर की वस्तुतः निर्दोष आकृतियाँ देखते हैं। आँखों को सुन्दर और आकर्षक लगनेवाली ये मूर्तियाँ इतनी वास्तविक हैं कि इनके कलाकारों की प्रशंसा करना स्वाभाविक है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यूनानी कला यथार्थवादी (Objective) है। इसके विपरीत भारतीय कला में यथार्थवादिता कम और भावनात्मकता (Subjectiveness) पूर्ण रूप से विकसित है। इसीलिए कहीं-कहीं भावना को पूरी तरह प्रदर्शित करने के लिए काल्पनिक रूपों का भी सहारा लिया गया है, जिसके कारण यथार्थता गौण से गौणतम होकर रह गई है। इसी के फलस्वरूप आज के भौतिकतावादी युग में भारतीय कला का मखौल भी उड़ाया जाता है। पर प्राचीन भारतीय कला का आदर्श और उसकी परंपरा दूसरी है। भारतीय कलाकार यथार्थ और प्राकृतिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति-मात्र को ही अपना इष्ट नहीं मानते थे। वे मूर्तियों में सौंदर्य की अपेक्षा आंतरिक भावों को सुन्दर और पवित्र मानकर उन्हें मूर्ति के रूप में

प्रकाशित कर अपनी कृति को सफल मानते थे। चार हाथवाले विष्णु, अष्ट-भुजी दुर्गा, नटराज शिव, योगासन में बैठे बुद्ध की भू-स्पर्श मुद्रा अथवा तीर्थंकरों के शान्त रूप में हम आंतरिक भावों की अद्‌भुत झलक देखते हैं। हाँ, यह आवश्यक है कि मूर्ति में प्रकट किए गए भावों को समझने के लिए मूर्तिकार-सी आँखें और उनके-सा मस्तिष्क भी होना चाहिए। भारत में मंदिरों के पुजारी मूर्ति के दर्शनार्थियों को मूर्ति के भावों को समझाते पाए जाते हैं। इस प्रकार भारतीय और यूनानी कला में बहुत बड़ा अंतर और भेद है। पहले में आत्मा की प्रधानता है तो दूसरे में मस्तिष्क की। यूनानी उदाहरणों में हम आंतरिक सौंदर्य से विलग होकर शारीरिक कमनीयता और उसके अंगों की पुष्टता के चकाचौंध में ही पड़कर रह जाते हैं और मूर्ति के भीतर छिपी आत्मा को पहचान ही नहीं पाते। हमारी दृष्टि और हमारा दिमाग मानव-शरीर की इस विलक्षण बनावट पर ही स्थिर होकर रह जाता है। पर भारतीय कला द्वारा बनाई गई मूर्ति को देखने के साथ ही शरीर-रचना से हटकर उसमें अभिव्यक्त भावों, आदर्शों एवं आध्यात्मिकता की ओर हमारा मन अग्रसर हो जाता है। बाह्य दृष्टि से अधिक हमारी आंतरिक दृष्टि को तृप्ति मिलती है। यहाँ की मूर्तियों के दर्शन करने पर हमारा चंचल मन निर्मल और शान्त हो जाता है और हमें आध्यात्मिक प्रेरणा मिलनी शुरू हो जाती है। प्रतिमाएँ दर्शक और भक्त को ध्यानावस्था और आत्मिक तत्त्वों के ज्ञान की ओर ले जाती हैं। वास्तव में ये प्रतिमाएँ तो मूक हैं, मानव-निर्मित हैं और निर्जीव हैं। पर सत्यता यह है कि कलाकार उन प्रतिमाओं में ऐसा हाव-भाव भर देता है कि दर्शक भूल जाता है कि वह एक मूक तथा निर्जीव मूर्ति के सम्मुख खड़ा है, बल्कि वह तो अपने इष्ट की शरण में अपने को पाता है, जो उसके दुःख-दर्द को मिटाने में समर्थ है, जो उसकी कामनाओं को पूर्ण करने में अपनी सारी ममता को उड़ेलता मालूम पड़ता है, जो उसे पारलौकिक सुख का आश्वासन देता है। यूनानी मूर्ति-कला में भावात्मक तत्त्व का बड़ा अभाव है। 'मेरी माँ' की प्रतिमा में 'पवित्र मेरी' सिर्फ एक निर्दोष नारी दीख पड़ती है। किन्तु बुद्ध की मूर्ति में आध्यात्मिक उड़ान के द्वारा ईश्वर की अगोचर महिमा का साक्षात् किया जा सकता है। आध्यात्मिकता से अनुप्राणित कला का महत्त्व देश और काल से परे है।

मूर्तिकला और स्थापत्य-कला के कुछ प्रमुख स्थान

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक मंदिरों में मूर्ति-कला एवं स्थापत्य-कला का ज्वलंत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इनमें (१) कोणार्क, (२) खजुराहो, (३) एलोरा, (४) दिलवारा, (५) रामेश्वरम्, (६) जैसलमेर, (७) बोधगया, (८) श्रवणबेलगोल, (९) मीनाक्षी, (१०) शिवखोरी, (११) कुम्भकोणम्, (१२) वेलूर, (१३) त्रिपुरी, (१४) एकलिंग, (१५) चिदम्बरम्, (१६) ग्वालियर, (१७) आमेर, (१८) बृन्दावन, (१९) दशपुर, (२०) क्रिम्ची, (२१) एलिफैंटा, (२२) डिपचली, (२३) नेपाल और (२४) साँची और भरहुत प्रमुख हैं।

१. कोणार्क—कोणार्क का सूर्य-मंदिर भारतीय वास्तुकला के इतिहास का एक स्वर्णिम तथा शाश्वत पृष्ठ है। उड़ीसा में चंद्रभागा नदी के तट पर निर्मित यह अनुपम मंदिर भारतीय जीवन, संस्कृति, दर्शन और समाज के साथ प्रणय और वीरता का प्रतीक है।

बारह सौ शिल्पियों ने निरंतर सोलह वर्षों तक इसके निर्माण में श्रम किया और तत्कालीन राजा ने अपने राज्य का बारह वर्ष का लगान इसमें खर्च किया। इसमें लगा धन, श्रम और समय व्यर्थ नहीं गए। कोणार्क की भव्यता, विशालता, सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति, सज्जा, यथार्थ दर्शन एवं कल्पना-शक्ति पिछले सात सौ वर्षों से कला-विवेचकों और सामान्य दर्शकों को समान रूप से मुग्ध करती आई हैं।

सूर्यदेव का यह विशाल मंदिर अन्य मंदिरों से इस बात में भिन्न है कि इसमें कोई मूर्ति नहीं है। फिर भी उड़ीसा के जन-जीवन में आज भी इसका जीवंत स्थान है। वर्ष में एक बार माघ-शुक्ल सप्तमी को कोणार्क के प्रांगण में भक्ति-भाव से भरे नर-नारियों की विशाल भीड़ एकत्र होती है। इस तरह इस दिन यह मंदिर अपरिमित भीड़ द्वारा सूर्य देवता के प्रति प्रकट की गई श्रद्धा से मुखरित हो उठता है। इसकी जीर्ण दीवारों से सूर्य भगवान के जय-जयकार तथा स्तोत्रों एवं मंत्रों की ध्वनियाँ टकराकर गूँज उठती हैं और सच्चे हृदयों एवं भाव कंपित कंठों से निकले भजन इसके विशाल प्रांगण को भक्तिरस की लहरों से प्लावित कर देते हैं।

मंदिर के रथ के पहिए, उसमें गुते सात घोड़े और उसपर सारथि के बैठने का स्थान कलात्मक दृष्टि से बने हैं। इसीलिए यह सूर्य-मंदिर अपनी

कला के लिए विश्व का सर्वश्रेष्ठ मंदिर कहे जाने का अधिकारी है। इसकी स्थापत्य-कला अद्भुत है। नवग्रह की मूर्तियाँ, जो एक ही अखण्ड शिला में हैं, दर्शकों को आश्चर्यित कर देती हैं। मंदिर के चारों ओर निम्न भाग में घोड़े-हाथी सदृश पशुओं तथा भयंकर युद्धों के सुन्दर तथा आकर्षक दृश्य अंकित हैं। इन दृश्यों के देखने से सर्वत्र विजय, शौर्य और आत्म-विश्वास का उल्लास दृष्टिगोचर होता है। युद्ध का ऐसा सजीव और सशक्त दृश्य उड़ीसा के किसी अन्य मंदिर में देखने को नहीं मिलता। कुशल हाथों द्वारा निर्मित इस शिल्प-कृति के अवशेषों को देखकर आज भी दर्शक आश्चर्य से स्तंभित हो उठते हैं और उनका हृदय शिल्पियों के प्रति प्रशंसा से भर उठता है और वे इस अलौकिक कला को देखकर अपने को कृतकृत्य मानते हैं।

कोणार्क-मंदिर का प्रमुख आकर्षण इसकी प्रणय-मूर्तियाँ हैं। प्रेमार्पण की विभिन्न उल्लसित मुद्राओं, सुख-विनिमय के सम्मोहक क्षणों और प्रणयी मन की संवेदनशीलता को इस कुशलता से अंकित किया गया है कि दर्शक दाँतों-तले अंगुली दबाकर रह जाते हैं, मानों इन मूर्तियों का निर्माण मानव-शिल्पियों ने नहीं, वरन् महान प्रेमी आत्माओं ने किया होगा।

शिल्पियों की कुशलता एवं रस-सृजन-क्षमता चुम्बन आदि शृंगारिक विषयों में नहीं, अपितु सैनिकों की पत्नी और बच्चों से बिदाई, गायकों एवं संगीतज्ञों का उल्लास आदि विषयों में भी अपूर्व रूप से प्रकट हुई हैं। प्रभात, मध्याह्न और सायंकाल के सूर्य की तीन मूर्तियाँ अपने भाव-सौंदर्य की अमिट छाप दर्शकों पर छोड़ती हैं। पशुओं तथा पक्षियों का चित्रण भी उतनी ही भावनाशीलता के साथ किया गया है। हाथियों का अंकन इसका नमूना है।

मंदिर के बाहर 'संसार' नाम की एक मूर्ति है, जिसमें लौकिक जीवन से संबंधित प्रत्येक वस्तु को अंकित किया गया है। प्रणय के प्रत्येक बंधन और उसकी आकांक्षा की इसमें जीवंत तथा समर्थ अभिव्यक्ति है।

वस्तुतः संपूर्ण मंदिर उस युग के स्थपतियों के इंजीनियरी-कौशल का द्योतक है। मंदिर में सौ फुट से लेकर चार सौ फुट तक की ऊँचाई के अनेक शिला-खंड लगाए गए हैं। आधुनिक क्रेनों और वाहनों के बिना इतने अत्यन्त भारी सामान वहाँ किस तरह उठाकर लाए गए तथा दीवारों में जोड़े गए, यह कल्पनातीत और विस्मय से पूर्ण है।

आकार, श्रम, शिल्प और कला—सभी दृष्टियों से कोणार्क महान है। कला ही इसे काल के क्रूर और कठोर प्रहारों के बावजूद आज तक अमर बनाए हुई है।

कोणार्क पुरी से ५४ मील और भुवनेश्वर से ४४ मील की दूरी पर है। मंदिर से ग्राम ४ मील पर है। यहाँ ठहरने की सुविधा नहीं है। अतः यात्री उसी दिन पुरी या भुवनेश्वर चले आते हैं। भारत-सरकार के पर्यटन-विभाग की ओर से एक सुन्दर विश्रामालय बनवाया गया है। इसमें ठहरने और भोजन, दोनों की सुव्यवस्था है, पर इसका व्यय इतना अधिक पड़ता है कि संपन्न यात्रियों को छोड़कर शेष इसका उपयोग करने में असमर्थ होते हैं। इस मंदिर से समुद्र-तट एक मील दूर है।[1]

(२) खजुराहो—खजुराहो या खजरहा मध्य-भारत के छतरपुर जिले में एक छोटा-सा गाँव है, जो पन्ना-छतरपुर-मार्ग से ७ मील दूर उत्तर की ओर स्थित है। एक हजार वर्ष पूर्व यह एक विस्तृत नगर था। इसका एक द्वार दो खजूर-वृक्षों से अलंकृत होने के कारण यह खजुराहो के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस नगरी में कुल मिलाकर ८५ मंदिरों का निर्माण हुआ था, जिनमें अब लगभग २५ मंदिर बच गए हैं। आठ मील के क्षेत्र में फैले खजुराहो के मैदानों में, खेतों में, खलिहानों में, कुओं, बावलियों एवं मकानों में अनगिनत मूर्तियाँ सुरक्षा के अभाव में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं।

खजुराहो के मंदिरों का निर्माण-काल दसवीं और ग्यारहवीं सदी है। उस समय चंदेल-वंशवालों का वहाँ प्रभुत्व था। भारतीय इतिहास में यह उत्तर-मध्यकाल कहा जाता है। इसको हम यदि मंदिर-युग कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस युग में कोणार्क, भुवनेश्वर, पुरी, आबू, हालोविद, तंजोर, प्रभास-पट्टनम, गिरनार, शत्रुंजय, भेड़ाघाट, अमरकंटक, ग्वालियर, उदयपुर आदि स्थानों में भी भिन्न-भिन्न शैलियों के मंदिरों का बड़ी संख्या में निर्माण-कार्य प्रारंभ हुआ। खजुराहो की मंदिर-निर्माण-शैली उत्कृष्ट और अनुपम है। ये मंदिर शिखर-शैली के अनूठे और विशुद्ध नमूने हैं। यहाँ के मंदिर विशाल होने पर भी बहुत कलात्मक बने हैं। इनकी शैली उत्तर भारतीय ढंग की, पर विकसित रूप में है। भवन-निर्माण-कला की दृष्टि से यह अद्वितीय है। प्रत्येक

1. **पत्थरों में निबद्ध गीत** ('**नवनीत**', नवम्बर, १९६७) : **सुशीला ठाकुर**

मंदिर काफी ऊँची कुर्सी पर स्थित है और उसका बाहरी भाग उभरी हुई नक्काशी से अलंकृत है। अकेले कंधारिया मंदिर में ही ५६० के लगभग चित्रकारियाँ हैं।

हिन्दू, जैन और बौद्ध—तीनों धर्मों के मंदिरों का निर्माण खजुराहो में हुआ। चंदेल-वंशी राजे शैव थे और उनकी कुलदेवी मनिया थीं। स्वभावत: यहाँ शैव और शाक्त संप्रदायों की कृतियों की अधिकता और प्रमुखता थी। अर्द्ध-मंडप, मंडप, महामंडप, अंतराल, विमान, गर्भगृह और शिखर—इन मंदिरों का शैली-वैशिष्ट्य है। कंठधरिया महादेव का मंदिर इन सब मंदिरों में मुख्य है। यह खजुराहो का सबसे विशाल और सबसे सुन्दर मंदिर है और पंचायत-शैली पर बना है। जमीन से ११६ फुट ऊँचा उठकर जिस सुदृढ़ता से यह खड़ा है, वह देखते ही बनता है। कारीगरों ने इसकी विशाल विस्तृत कुर्सी के नीचे भारी-भारी चबूतरे देकर इसकी शान और भी बढ़ा दी है। इसके क्रम से छोटे होते गए एक के ऊपर दूसरे शिखर-समूह बड़े ही भव्य मालूम पड़ते हैं। इस कला में कैलास-पर्वत की अभिव्यक्ति होती है। प्रदक्षिणा-पथ में सुन्दर-सुन्दर स्तंभ हैं तथा चारों तरफ भव्य ऊँचे झरोखे बने हैं। मंदिर का चप्पा-चप्पा आलंकारिक अभिप्रायों से परिपूरित मूर्तियों से ढका है। पूरे मंदिर की लंबाई १०३ फुट और चौड़ाई ६७ फुट है।

लक्ष्मण वर्मन द्वारा निर्मित लक्ष्मण-मंदिर दूसरा प्रमुख स्थान रखता है। यह विष्णु को समर्पित है। राजा लक्ष्मण सेन ने कन्नोज के राजा देवपाल से विष्णु भगवान की प्रतिमा प्राप्त करके इसमें प्रतिष्ठित कराई थी।

मातंगेश्वर महादेव का मंदिर पवित्रतम माना जाता है। इसका निर्माण ग्यारहवीं सदी में हुआ था। तब से आज तक यह उसी प्रकार पुण्य और पूज्य है। आठ फुट ऊँचा और ३ फुट ८ इंच गोला शिवलिंग चमकीला और ओपदार है। चित्रगुप्त या भरत जी का मंदिर उतना ऊँचा और विशाल नहीं है, फिर भी शोभनीय है। भगवान सूर्य की पाँच फुट ऊँची प्रतिमा इसमें प्रतिष्ठित है। भगवान सूर्य सप्ताश्व-रथ पर सवार हैं और उनके पैरों में बड़े तथा ऊँचे जूते हैं। इसी तरह अल्मोड़ा के पास कठारमल में भी भगवान सूर्य ऊँचे जूते पहने दिखाए गए हैं।

विश्वनाथ-मंदिर का नंदी-मंडप अनुपम है। ३१ × ३१ वर्गफुट के विस्तृत मंडप में स्थित चमकीले ओपदार सजीव नंदी के दर्शन कर आँखें वहीं उलझी

रह जाती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि नंदी महाराज अपने स्वामी विश्वनाथ के चरणों में शांत और भाव-विभोर होकर बैठे हैं। इस प्रतिमा की ऊँचाई ६ फुट, और लंबाई सवा सात फुट है। इसमें भी अधिक कौतूहल और आश्चर्य की वस्तु है वहाँ स्थित वराह-प्रतिमा। यह भी एक ही पत्थर के खंड से निर्मित है। इसकी माप २० ३/४' × १६' है। उन्नत-ग्रीव वराह के शरीर-भर में देवताओं की छोटी-छोटी प्रतिमाएँ हैं। हिरण्याक्ष ने पृथ्वी का भक्षण कर लिया था और पृथ्वी के उद्धार के लिए विष्णु भगवान ने वराह का रूप धारण कर हिरण्याक्ष का वध किया था—वही दृश्य यहाँ दर्शाया गया है।

छह फर्लांग दूर गाँव की दूसरी ओर जैन-मंदिरों का समूह है। इनमें आदिनाथ, पार्श्वनाथ और शांतिनाथ के मंदिर मुख्य हैं। १५ फुट ऊँची शांतिनाथ की मूर्ति की ध्यानस्थ अवस्था अतीव शांति प्रदान करती है। आदिनाथ और पार्श्वनाथ के मंदिर हिन्दू-शैली से मिलते-जुलते हैं। इनके बाह्य भाग भी उभरी हुई नक्काशी और सुन्दर मूर्तियों से भरे हैं। इन मूर्तियों में बलखाती भंगिमा इतनी अतिरंजित है कि वास्तविकता से उसका कोई संबंध नहीं रह जाता, पर उसमें आसक्तता छू तक नहीं गई है।

जैन-मंदिरों में अश्लील मूर्तियों का कोई स्थान नहीं है, जबकि हिंदू-मंदिरों में उनकी भरमार है; क्योंकि तांत्रिकों का प्रभाव हिंदू-मंदिरों के निर्माण पर पड़ा था। इन तांत्रिकों ने अपने कुत्सित कर्मों को धर्म की आड़ में प्रश्रय देकर शिव और शक्ति के संभोग से संसार की उत्पत्ति के सिद्धान्त का जिस बीभत्स रूप में प्रदर्शन किया, उसमें आध्यात्मिक विचारवाले पुरुषों की क्या स्थिति रहेगी ?[1]

(३) **एलोरा**—एलोरा पहले निजाम के हैदराबाद, राज्य में था, किंतु उसके भारत में विलीन हो जाने के पश्चात् अब यह महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद जिले के अंतर्गत है। एलोरा जाने के लिए मध्य रेलवे के दिल्ली-बंबई रेल-पथ के मनमद रेलवे स्टेशन पर उतरना पड़ता है। यहाँ से छोटी लाइन द्वारा, जो सिकंदराबाद तक जाती है, औरंगाबाद तक जाना होता है। यहाँ से बस द्वारा वारुल, जो एलोरा का स्थानीय नाम है, जाना पड़ता है। मार्ग में दौलताबाद का किला पहाड़ के ऊपर दीख पड़ता है।

1. **मंदिरों का खजुराहो नगर ('धर्मयुग', जुलाई, १९५१) : बालचंद्र जैन**

एलोरा में आठवीं सदी में कैलास-मंदिर का निर्माण हुआ था, जो पूरा-का-पूरा पर्वत काटकर बनाया गया था। मंदिर का आँगन २६० फुट लंबा और १६० फुट चौड़ा है। इस आँगन के बीचोबीच एकलिंग देवालय है, जो ९६ फुट ऊँचा है। इसके आगे १६ खंभों पर स्थित एक मंडप है। इसी के सामने एक पृथक नंदी-मंडप है, जो कम सुन्दर नहीं है। शिव की लीलाओं तथा विविध अवतारों की मूर्तियाँ, जो मंदिर के भीतर विद्यमान हैं, कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। सबसे आकर्षक और महान यही गुफा-मंदिर है। इसके अलावा कतिपय हिंदू, जैन और बौद्धगुफा-मंदिर हैं।

एलोरा की गुफाओं की संख्या ३४ है। इनके पास पक्की सड़क बनाई गई है। पहाड़ पर एक बँगला बना है। नीचे ठहरने के लिए छोटी-छोटी गुमटियाँ बनाई गई हैं। सड़क पहाड़ पर स्थित बँगले तक गई है। यहाँ के दर्शनीय गुफा-मंदिर को देखने के लिए दूर-दूर से देश-विदेश के यात्री आते हैं। इन ३४ गुफाओं में एक से लेकर दस तक बौद्धों के अधिकार में हैं। उनमें बुद्ध तथा अन्य बौद्ध देवताओं की विशाल मूर्तियाँ हैं। ११ से २८ तक सनातन वैदिक धर्मावलंबियों के इष्टदेवों के मंदिर तथा मूर्तियाँ एवं गुफाएँ हैं। २९ से ३४ तक की गुफाओं में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं। इन सबमें महान कैलास-मंदिर-गुफा है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। ये गुफाएँ पहाड़ काट-काटकर कितनी कठिनता, परिश्रम और व्यय से बनाई गई होंगी, इसका अंदाज लगाना आसान नहीं है। पर आज, जन-शून्यता के कारण यहाँ भयंकरता घोर रूप में निवास करती है। अकेले-दुकेले मनुष्य को इसमें घुसते ही भय आक्रांत कर लेता है। इसके कुछ प्रमुख गुफा-मंदिरों का वर्णन इस प्रकार है—

(१) जगन्नाथ-गुफा—इसके प्रवेश-द्वार पर प्रायः तीन हाथ लंबी श्रीजगन्नाथ की ध्यानस्थ मूर्ति है। गुफा के भीतर दो घर हैं। भीतरवाले घर में १२ खंभे हैं और नाना प्रकार की मूर्तियाँ हैं। इसका प्रवेश-द्वार ३ फुट ऊँचा है।

(२) आदिनाथ-गुफा—गुफा के ऊपर श्री लक्ष्मी-नारायण की मूर्ति है और भीतर तीन हाथ ऊँची तीर्थंकर आदिनाथ की मूर्ति है।

(३) इन्द्रसभा-गुफा—इसके भीतर और भी कई गुफाएँ हैं। यह बहुत सुन्दर गुफा है। यह गुफा पहाड़ काटकर मंदिर के रूप में बनाई गई है। बीच के सिंहासन पर ध्यान-निरत एक मुनि-मूर्ति है। दक्षिण तरफ एक हाथी और

तपस्वियों की मूर्तियाँ हैं। थोड़ी दूर पर ऐरावत हाथी की मूर्ति के ऊपर इन्द्र की मूर्ति है और उसके पास सिंह पर बैठी चार सखियों से युक्त इन्द्राणी हैं। इन्द्राणी की गोद में एक बालक है। इसमें १२ खंभे हैं।

(४) **परशुराम-गुफा**—यह अतीव मनोहर है।

(५) **कैलास या नीलकंठेश्वर-गुफा**—इसमें प्रवेश-द्वार पर नंदीश्वर की मूर्ति और भीतर एक विशाल शिवलिंग है। इसके अतिरिक्त इसमें कार्त्तिकेय, गणेश, सरस्वती प्रभृति देव-देवियों की भव्य मूर्तियाँ हैं।

(६) **श्री रामेश्वर-गुफा**—इसके द्वार पर भी नंदीश्वर-मूर्ति है। मूर्ति की बगल में एक जलपूर्ण कुंड है और भीतर गुफा में शिवलिंग है। इस गुफा के भीतर और भी आश्चर्यप्रद मूर्तियाँ हैं।

(७) **जनवास-गुफा**—इसमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, वराहदेव और कुंभकरण की एक भयंकर मूर्ति है।

(८) **दशावतार-गुफा**—इस गुफा में दशावतारों की लीला तथा गणेश, पार्वती, सूर्य आदि अनेक देवों की मूर्तियाँ स्थापित हैं।

देखने से यह ज्ञात होता है कि मध्य में और ठीक स्थान पर होने के कारण हिन्दुओं के गुफा-मंदिर सबसे प्राचीन हैं। अनंतर बौद्ध और जैन-धर्मावलंबियों ने स्पर्द्धावश अपने मंदिर बनाए थे। यह धारणा इस बात से भी पुष्ट होती है कि इन ३४ गुफा-मंदिरों में सबसे महान कैलास-मंदिर है और वह प्रायः मध्य में स्थित है। जहाँ-जहाँ जो जैन-मंदिर हैं, वे कला और सौंदर्य के दर्शनीय नमूने हैं, किन्तु एलोरा के जैन-गुफा-मंदिर हिन्दू और बौद्ध-गुफा-मंदिरों की तुलना में अपेक्षाकृत साधारण हैं। ज्ञात होता है कि किसी समय यह स्थान कोई महत्त्व रखता था, जिसके कारण हिन्दू-मंदिरों के निर्माण के बाद बौद्धों और जैनियों ने भी यहाँ अपने-अपने गुफा-मंदिर बनवाए।

पास ही लगभग एक मील दूर श्री घुरमेश्वर ज्योतिर्लिंग तीर्थ है। यहाँ इनको घृष्णेश्वर जी कहते हैं। किन्तु कथानक से ज्ञात होता है कि इनका शुद्ध नाम घुरमेश्वर जी है। भगवान घुरमेश्वर जी का मंदिर पत्थर का बहुत सुदृढ़ बना हुआ है। यह रानी अहल्याबाई की सुकीर्ति है। मंदिर बस्ती से बाहर है और चारों ओर सामान्य जंगल-सा है। मंदिर की बनावट सुन्दर है। सभा-मंडप में गच पर कच्छप-मूर्ति है। भगवान घुरमेश्वर जी की मूर्ति एक हाथ से कुछ अधिक ऊँची है।

(४) **दिलवारा**—अहमदाबाद-दिल्ली रेल-पथ पर आबू रोड है। वहाँ से लगभग १८ मील दूर पहाड़ पर माउण्ट आबू नामक पहाड़ी नगर है। नगर सुन्दर, स्वच्छ और दर्शनीय है। यहाँ से सूर्यास्त का दर्शन बड़ा ही मनोहर होता है। इस दृश्य के अवलोकन हेतु दूर-दूर से लोग यहाँ आते हैं। लेकिन, यहाँ आकर एक जगत्प्रसिद्ध जैन-मंदिर देखने का प्रलोभन नहीं रोक सकते।

माउण्ट आबू से डेढ़ मील पर दिलवारा गाँव है। यहीं पर वह जगत्प्रसिद्ध जैन-मंदिर है। इस मंदिर की कारीगरी को देखकर मन विस्मय विभोर हो उठता है। ताजमहल को छोड़कर भारत में अन्यत्र पूरा संगमरमर का बना कोई भवन या मंदिर कारीगरी में इस मंदिर की स्पर्द्धा नहीं कर सकता। यहाँ की संगमरमर पर की गई पच्चीकारी अद्‌भुत है। सबसे आश्चय की बात तो यह है कि किस तरह इतने ऊँचे पहाड़ पर पत्थर के विशाल भारी-भरकम टुकड़े पहुँचाए गए! अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि इस मंदिर के निर्माण में कितनी धन-राशि का व्यय किया गया होगा। किसी भी संप्रदाय के लोग बेरोक-टोक इस मंदिर के भीतर जाकर दर्शन कर सकते हैं।

विमलसाह-जिनालय में तीर्थंकर आदिनाथ की अत्यन्त भव्य मूर्ति है। मूर्ति की आँखों की पुतलियाँ जवाहरात की हैं और गले में बहुमूल्य रत्नों का हार है। मंदिर के ठीक सामने एक बड़ा सभा-मंडप है। इसके खंभों पर सुन्दर कारीगरी तथा पच्चीकारी की गई है। मानों कठोर पत्थर को भी मोम की भाँति मुलायम बनाकर बारीक काम किए गए हैं। इन कामों को मंत्रमुग्ध होकर देखनेवाले दर्शकों का घंटों का समय कब बीत गया, पता नहीं चलता। वास्तव में भारत की स्थापत्य-कला का यह एक अनोखा नमूना है। इस मंदिर के चारों तरफ बावन छोटे-छोटे मंदिर हैं, जो एक समान दीखते हैं। भिन्नता केवल मूर्ति की पालथी के निचले भाग से प्रकट होती है। एक हाथी है, जिसमें प्रस्तर की दस हाथी-मूर्तियाँ हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन कारीगरी में कितना अंतर है, यह दीवारों पर जगह-जगह की गई मरम्मत से स्पष्ट हो जाता है, मानो नए कपड़े में पुराना पेबंद लगा दिया गया हो। बड़े मंदिर के बनवाने में छप्पन लाख रुपए खर्च हुए थे।

यहाँ का दूसरा प्रसिद्ध मंदिर श्री नेमिनाथ भगवान का है। इस मंदिर में देवरानी और जेठानी के 'गाँख' बहुत प्रसिद्ध है। सिर्फ इसी की कारीगरी में सवा लाख

रुपए खर्च हुए थे। इसका कला-शिल्प उच्च कोटि का है, जिसकी प्रशंसा विदेशी यात्री भी खूब करते हैं।

(५) **रामेश्वरम्**—रामेश्वरम् भारत के अंतिम छोर समुद्र के दक्षिण-पूर्व तट पर है। मद्रास से गाड़ी सीधे रामेश्वरम् जाती है। भगवान शिव के बारह ज्योतिर्लिंगों में ग्यारहवाँ ज्योतिर्लिंग रामेश्वरम् में स्थापित है। यह मद्रास से दक्षिण ४१८ मील की दूरी पर है।

यहाँ का शिव-मंदिर विशाल है। मंदिर के चारों ओर एक ऊँचा परकोटा है। इसमें गोपुर (प्रवेश-द्वार) बने हुए हैं। इन गोपुरों पर कलात्मक मूर्तियाँ बनी हुई हैं। पूर्व का गोपुर सबसे उत्कृष्ट और १२९ फुट ऊँचा है। मुख्य मंदिर का घेरा १,००० फुट लंबा, ६०० फुट चौड़ा और १०० फुट ऊँचा है।

मंदिर की परिक्रमा के लिए चारों ओर विशाल बरामदा है। इसके दालानों में चालीस-चालीस फुट ऊँचे खंभे लगे हैं, जो पत्थर के एक ही टुकड़े के बने हैं। इन खंभों पर रंग-बिरंग के देवताओं और जानवरों के चित्र बने हैं। इसके बरामदे की लंबाई संसार में अपनी बराबरी नहीं रखती। इस मंदिर के सम्मुख एक स्वर्ण-मंडित खंभा है और उसके पास ही सोने से अलंकृत सफेद पत्थर का नंदी है। यह एक विशाल मूर्ति है, जो ८ फुट लंबी, ९ फुट चोड़ी और १३ फुट ऊँची है।

स्वयं रामेश्वर की मूर्ति एक बहुत सुन्दर स्फटिक लिंग के रूप में है। यह स्फटिक अल्प-पारदर्शी भी है। हिन्दुओं का महान तीर्थस्थान होने के अतिरिक्त यह भारतीय स्थापत्य-कला का एक उत्कृष्ट नमूना है।

(६) **जैसलमेर**—दसवीं सदी में यवनों के आक्रमण से यदि उत्तर-भारत का कोई राज्य विनष्ट नहीं हुआ, तो वह जैसलमेर था। यह जैसलमेर के साहसी एवं वीर निवासियों के दृढ़ संकल्प का ही परिणाम था कि वे विदेशियों के चंगुल से विमुक्त रहे। फलस्वरूप वहाँ की प्राचीन संस्कृति और कला अक्षुण्ण रह गई। यह नगर जैन-मंदिरों और जैन-संप्रदाय का केन्द्र रहा है। यहाँ के जैन-ग्रंथ तालपत्रों पर संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में लिखे गए थे, जो संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

अपनी शिल्प-कला के लिए जैसलमेर प्रसिद्ध है। जैन-मंदिरों, राजभवनों, नगर की हवेलियों तथा किलों में पत्थरों पर जो बारीक कारीगरी की गई है, वह इतने ऊँचे दरजे की है कि उसने भारत की कला-कृतियों में चार चाँद लगा

दिया है। यहाँ के पत्थरों पर की गई उत्कृष्ट खुदाई का सांगोपांग वर्णन 'इंडियन ऐण्टिक्वेरी' नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक में किया गया है। जैन-मंदिरों के तोरणों, खंभों, प्रवेश-द्वार आदि पर लगे पत्थरों पर जो बारीक खुदाई पंद्रहवीं सदी में की गई थी, वह अद्वितीय है और उसकी प्रशंसा जितनी की जाए, थोड़ी ही होगी। इस कला में सौंदर्य के साथ-साथ गांभीर्य का भी यथेष्ट मात्रा में मिश्रण है। इसी कारण एक मंदिर में एक हजार मूर्तियों के रहते हुए भी दृश्य में सघनता अथवा अव्यवस्था नहीं मालूम पड़ती। जावा, सुमात्रा आदि पूर्वी द्वीपों में, जिनका संबंध भारत के साथ अति प्राचीन है, पुरातन भारतीय शिल्प-कला के जो नमूने प्राप्त हुए हैं, वे जैसलमेर की शिल्प-कला के साथ सादृश्य रखते हैं।

जैसलमेर से चार मील दूर अमर सागर के मंदिर के मकरानी-पत्थर पर निर्मित जालियाँ शिल्पकला की दृष्टि से श्लाघनीय हैं। यहाँ से दस मील दूर लाद्रवा नगर में प्राचीन भारत का विश्वविद्यालय था। यहाँ शिव-पार्वती के ८०० वर्ष पुराने मंदिर हैं, जिनकी बनावट भव्य एवं विलक्षण भी है। इनमें तोरण-शैली का व्यवहार प्रचुरता के साथ किया गया है। यहाँ मेहराव दीख नहीं पड़ते। मंडप की छत पद्मों में विभाजित है। विभिन्न मुद्राओं में निर्मित मूर्तियाँ मानव-जीवन की उच्चतम प्रेम-भावना को प्रकट करती हैं। चौबीस तीर्थंकरों की जीवन-गाथा उनकी प्रतिमाओं की विभिन्न मुद्राओं में पढ़ी जा सकती है। यहाँ के स्तंभों, छतों एवं शिखरों के एक-एक पत्थर छोटे-छोटे मंदिरों के दृश्य उपस्थित करते हैं। मंदिर का भाग होने पर भी यहाँ के तोरण अपने-आप में एक पूर्ण इमारत हैं। यहाँ के भवन सुन्दर होते हुए भी इतने मजबूत हैं कि ८०० वर्ष पुराने होने पर भी ये अच्छी स्थिति में हैं।

यहाँ का किला संवत् १२१२ वि० में निर्मित हुआ था। उसमें एक हजार गृह बने हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि इस विशाल मरु-प्रदेश में, जहाँ पानी तथा आवागमन के साधनों की बड़ी कठिनाई है, स्थापत्य-कला का इतना उत्कृष्ट नमूना क्योंकर निर्मित हो सका। आज के भारतीयों के लिए यह अच्छा उदाहरण है कि संघर्ष तथा अभाव के बीच में भी रहकर मनुष्य परिश्रम के द्वारा ऊँची-से-ऊँची चीज प्राप्त कर सकता है। जैसलमेर ने स्थापत्य-कला के क्षेत्र में भारत का गौरव कितना बढ़ाया, यह देश-विदेश के पर्यटकों के मुख से उसकी उत्कृष्टता की प्रशंसा से ही मालूम पड़ता है।

जैसलमेर राजस्थान के उत्तर-पश्चिमी छोर पर स्थित है। पाकिस्तान की सीमा इससे मिलती है। पश्चिमी रेलवे के पोकारन स्टेशन से यह ५० मील दूर है।

(७) **बोधगया**—बोधगया बौद्धों का सबसे महान तीर्थ है। यहीं पर सिद्धार्थ ने बुद्धत्व प्राप्त किया था। बोधगया गया से १० कि० मी० पश्चिम है। यहाँ का बुद्ध-मंदिर अति प्राचीन है। इसमें भगवान बुद्ध की एक भव्य मूर्ति है। विशाल काले पत्थर के एक टुकड़े को तराश-तराश कर भगवान बुद्ध के रूप में उसे परिणत कर दिया गया है। उस दिन जो पत्थर काल के अंतराल में छिपा पड़ा था, उसे भारतीय कारीगरों ने अपने कुशल हाथों से एक पवित्र मूर्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया, जिसके श्रद्धापूर्ण दर्शन के लिए क्या दूर और क्या नजदीक, सभी जगहों से यात्री नित्य आया करते हैं, और उस स्थान का गौरव बढ़ा रहे हैं। किसी तीर्थ की महत्ता वहाँ पर बने मंदिर और उसमें स्थापित मूर्ति के कलात्मक स्पर्श से कई गुनी बढ़ जाती है। बोधगया का मंदिर तथा उसमें बुद्ध की मूर्ति भारतीय स्थापत्य-कला का एक नमूना-मात्र है, परंतु उसमें बोधिसत्व की भावना इतनी अधिक है कि वहाँ पर दर्शनार्थियों एवं पर्यटकों की नित्य भीड़ लगी रहती है।

बोधगया-मंदिर की वेष्टन-वेदिकाओं (रेलिंग) पर उत्कीर्ण चित्र उल्लेख्य हैं। इस पवित्र और प्रसिद्ध मंदिर में सूर्य का चित्र है, जो धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक है। सूर्य का रथ चार घोड़ों द्वारा खींचा रहा है। रथ एक पहिए का है। रथ पर बैठे सूर्य के पीछे एक चक्र-सी चीज उत्कीर्ण है। सूर्य के दोनों ओर एक-एक नारी-मूर्ति धनुष-बाण लिए हुई हैं, जो उषा और प्रत्युषा हैं। कुछ घायल इधर-उधर पड़े हैं। सूर्य के द्वारा अंधकार की शक्तियों के नाश का यह दृश्य है। घोड़ों की उठती टापों तथा मुद्रा से अविराम गति, स्फूर्ति और शक्ति की अभिव्यक्ति होती है, तथा घायलों के द्वारा अंधकार पर प्रकाश की विजय प्रतिपादित होती है। उत्तर-भारत की अधिकांश सूर्य-मूर्तियों में पैर से ठेहुने तक फीतादार बूट और कमर में अव्यङ्ग पड़ा है। यही वराहमिहिर द्वारा उल्लिखित उद्दीच्य-वेश है। यह पहनावा निश्चित ही ईरानी है। शक-कुषाण लोगों ने इस पहनावे का प्रचार भारत में किया। भविष्य-पुराण से भी यही पुष्टि होती है कि शक-स्थान में विश्वकर्मा ने सूर्य की मूर्ति बनाई।

दक्षिण-भारत में सूर्य-मूर्ति-विज्ञान की एक अलग परंपरा है। बोधगया की मूर्ति भी उद्दीच्य-वेश में नहीं है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि ईरानी पहनावे

में सज्जित सूर्य की मूर्ति बनाने के पहले ही भारत में अपनी एक खास परंपरा थी। बोधगया की सूर्य-मूर्ति में जुते चार घोड़े चार युगों का संकेत करते हैं। चार घोड़ों का रथ शक और यूनानी परंपरा में है, पर इस सादृश्य के अतिरिक्त भारतीय और विदेशी उदाहरणों में कोई मेल नहीं है। रथ का पहिया एक है, जिससे एक वर्ष का बोध होता है।........इस प्रकार मौर्य-कालीन पाटलिपुत्र की सूर्य-मूर्ति और शुंग कालीन बोधगया की वेष्टन-वेदिका (रेलिंग) पर उत्कीर्ण सूर्य-मूर्ति उद्दीच्य-वेशधारी सूर्य-मूर्ति की विदेशी परंपरा से भिन्न और प्राचीन है। जान पड़ता है कि प्राचीनकालीन सूर्य-मूर्तियाँ भारतीय परंपरा के अनुसार बनाई गईं और बाद में ईरानी परंपरा के अनुसार, जब उत्तर-भारत में उसका बोलबाला हुआ। फिर भी दक्षिण-भारत में विशुद्ध भारतीय परंपरा ही जीवित रही।

बोधगया-मंदिर की वेष्टन-वेदिका के स्तंभों पर वृत्ताकार पदक-सदृश कमलों पर राशियों की मूर्तिमान आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। इनमें मेष, वृष, मिथुन, कर्क, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन सहज ही पहचाने जा सकते हैं। प्राचीन पाषाण रेलिंग पर तुला, सिंह, कन्या, वृष और मकर स्पष्ट हैं। कन्या के लिए फूलों की माला पहने, पुष्प-मुकुट-युक्त कुमारी बाला का चित्र अत्यन्त आकर्षक है। एक मसनद के सहारे बैठे व्यापारी से तुला राशि का ज्ञान होता है। मृग-शरीर वाले धनुर्धर से धनु-राशि का बोध होता है। स्त्री तथा पुरुष के प्रणयपूर्ण व्यवहार से मिथुन राशि की भावना व्यक्त की गई है। प्रकृति और मानव को एक ही सौहार्दपूर्ण भावना से देखना भारतीय कला की आध्यात्मिकता और महती उदारता का ज्वलन्त प्रमाण है। बोधगया की वेष्टन-वेदिका पर उत्कीर्ण चित्रों से भी इन्हीं विशिष्ट गुणों की पुष्टि होती है। मिथुन राशि का बोध सिंह और सिंहिनी के प्रेमालाप के चित्र से किया गया है। सत्ताईस नक्षत्रों का भी चित्रण हुआ है। प्राचीन पाषाण वेष्टन-वेदिका पर अश्व और मृग के चित्र उत्कीर्ण हैं। इसी पर बौद्ध-देवी श्रीमाँ का भी चित्र उत्कीर्ण है। श्रीमाँ-देवता के पैर एक-दूसरे से सटे हैं। घुटने जमीन से कुछ ऊपर हैं। उसके बायें हाथ में कमल की खिलती कली है। इसी प्रकार हाथियों से अभिषिक्त देवी की मूर्तियाँ भी खुदी हुई हैं, जो गज-लक्ष्मी के प्रतिरूप-सी हैं। हिन्दू-लक्ष्मी की मूर्ति की कल्पना बौद्धों की श्रीमाँ देवता से हुई थी।"[1]

1. **भारतीय कला को बिहार की देन** : डॉ० विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिन्हा; पृ० ८१—८३

(८) **श्रवणबेलगोल**—दक्षिण-मध्य रेलवे की बंगलोर-हरिहर-पूना लाइन पर आरसीकेरे स्टेशन से ४२ मील, मैसूर से ६२ मील और बंगलोर से १०२ मील तथा हासन से ३१ मील दूर श्रवणबेलगोल है। इन सब स्थानों से बसें भी जाती हैं। यहाँ अन्तिम श्रुत केवली श्री भद्रबाहु स्वामी ने मरण-समाधि ली थी। यहाँ एक घेरे के भीतर श्री भद्रबाहु जी की विशाल मूर्ति है। यह सत्ताईस फुट ऊँची दिगम्बर मूर्ति विश्व की सबसे बड़ी मूर्ति है। मूर्ति पर्वत-शिखर को काटकर बहुत सुडौल बनाई गई है। इस भव्य मूर्ति का निर्माण चामुण्ड राय नामक राजा ने कराया था।

यह स्थान दिगम्बर जैनों का गोम्मट-तीर्थ है। अन्य मूर्तियों के अलावा यहाँ तीन तीर्थंकरों—आदिनाथ, शान्तिनाथ तथा नेमिनाथ— की मूर्तियाँ हैं।

(९) **मीनाक्षी देवी**— मदुरा दक्षिण-भारत (तमिल-प्रदेश) के नगरों में एक है। यह मद्रास-रामेश्वरम रेल-पथ पर स्थित है। यह मंदिर अपनी निर्माण-कला की भव्यता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है।

गोपुर में प्रवेश करने पर पहले एक मंडप मिलता है, जिसमें फल-फूल की दुकानें रहती हैं। उसे नगर-मंडप कहते हैं। उसके आगे अष्ट-शक्ति मंडप है। इसमें स्तंभों के स्थान पर लक्ष्मी की आठ मूर्तियाँ छत का आधार बन रही हैं। मंदिर के दाहिने सुब्रह्मण्यम् और बाएँ गणेश की मूर्तियाँ हैं। इसके आगे मीनाक्षी-नायकम् मंडप है। इस मंडप के पीछे अँधेरा मंडप मिलता है। अँधेरा मंडप के आगे स्वर्ण-पुष्करिणी सरोवर है। सरोवर के चारों ओर मंडप हैं। इन मंडपों में तीन ओर भित्तियों पर भगवान शंकर की ६४ लीलाओं के चित्र बने हैं।

मंदिर के सम्मुख मंडप के स्तंभों में पाँचो पाण्डवों की मूर्तियाँ (एक-एक स्तंभ में एक-एक) और सात स्तंभों में सिंह की मूर्तियाँ हैं। सरोवर के पश्चिमी भाग का मंडप किलिकुण्ड मंडप कहा जाता है। यहाँ एक अद्भुत सिंह-मूर्ति है। सिंह के मुख में एक गोला बनाया गया है। सिंह के जबड़ों में अंगुली डालकर घुमाने से यह गोला घूमता है। पत्थर में इस प्रकार का शिल्प-नैपुण्य देखकर चकित रह जाना पड़ता है।

पाण्डव-मूर्ति मंडप को पुरुष-मृग-मंडप कहते हैं; क्योंकि उसमें एक मूर्ति ऐसी बनी है, जिसका आधा भाग पुरुष का और आधा मृग का है। इस मंडप

के सामने मीनाक्षी देवी के निज मंदिर का द्वार है। द्वार के दक्षिण छोटा-सा सुब्रह्मण्यम्-मंदिर है, जिसमें सुब्रह्मण्यम् तथा उनकी दोनों पत्नियों की मूर्तियाँ हैं।

कई ड्योढ़ियों को पार करने पर श्री मीनाक्षी देवी की भव्य मूर्ति है। बहुमूल्य वस्त्राभरणों से देवी का श्याम विग्रह सुभूषित रहता है। निज मंदिर के परिक्रमा-मार्ग में ज्ञान-शक्ति तथा बल-शक्ति की मूर्तियाँ हैं। मीनाक्षी-मंदिर की परिक्रमा करने के बाद सुन्देश्वर-मंदिर मिलता है। दोनों मंदिरों के बीच गणेश जी का मंदिर है।

सुन्देश्वर-मंदिर के प्रवेश-द्वार पर द्वारपाल की मूर्तियाँ हैं। सुन्देश्वर-मंदिर के सम्मुख पहुँचने पर पहले नटराज के दर्शन होते हैं। उन्हें वेल्लिअम्बलम् (चाँदी से मढ़ा हुआ) कहते हैं। ताण्डव नृत्य करते हुए भगवान शिव की यह मूर्ति चिदम्बरम् के नटराज की मूर्ति से बड़ी है।

मुख छोड़कर सर्वांग चाँदी के आवरण से ढका है। चिदम्बरम् के नटराज का वाम पद ऊपर उठा है, पर यहाँ दाहिना पद।

सुन्देश्वर-मंदिर के सामने भी स्वर्ण-मंडित स्तंभ है और मंदिर का शिखर भी स्वण-मंडित है। कई ड्योढ़ियों के भीतर अर्घे पर सुन्देश्वर सुशोभित हैं। उनके भाल पर स्वर्ण का त्रिपुण्ड्र है, जो अत्यधिक आकर्षक है।

मंदिर के बाहर जगमोहन में आठ स्तंभ हैं, जिन पर भगवान शंकर की विविध लीलाओं की अत्यन्त सजीव मूर्तियाँ हैं। इसका शिल्प-नैपुण्य अद्भुत है। यहीं पर चार स्तंभोंवाला एक मंडप है, जिसमें पत्थर की शृंखला बनाई गई है। इस शृंखला की कड़ियाँ लोहे की शृंखला के समान घूम सकती हैं। यहाँ वीरभद्र एवं अघोरभद्र की विशाल उग्र मूर्तियाँ हैं। इस मंडप में भगवान शंकर के ऊर्ध्व नृत्य की अद्भुत कलापूर्ण विशाल मूर्ति है। ताण्डव नृत्य करते हुए शंकर का एक चरण ऊपर कान के समीप तक पहुँच गया है। पास ही काली की एक बड़ी मूर्ति है। इसी मंडप में एक ओर कारकौल अम्मा नामक शिवभक्त की मूर्ति है। नवग्रह-मंडप में नवग्रहों को मूर्तियाँ हैं। मंदिर के दक्षिण-पश्चिम उत्सव-मंडप में श्री मीनाक्षी, सुन्देश्वर, गंगा और पार्वती की स्वर्ण-मूर्तियाँ हैं। परिक्रमा में पश्चिम की तरफ एक चन्दनमय महालिंग है।

मंदिर के सम्मुख एक मंडप में नंदीमूर्ति है। यहाँ से सहस्र-स्तंभ मंडप का मार्ग है। यह नटराज का सभा-मंडप है। इस मंडप में मनुष्याकार से भी ऊँची शिव-भक्तों और देव-देवियों की मूर्तियाँ हैं। इनमें विराग-धारिणी सरस्वती की मूर्ति बहुत कलापूर्ण और सौम्य है। इस मंडप में श्री नटराज का श्याम-विग्रह प्रतिष्ठित है। भक्त कदाणप्प की भी मूर्ति है। मंदिर के पूर्व गोपुर के सामने मंडप है। इसे वसन्त-मंडप कहते हैं। इसके प्रवेश-द्वार पर घुड़सवारों तथा सेवकों की मूर्तियाँ हैं। भीतर शिव-पार्वती के पाणि-ग्रहण की पूरे आकार की मूर्ति है। पास ही भगवान विष्णु की मूर्ति है। नटराज की भी मनोहर मूर्ति है। इस प्रकार संपूर्ण मंदिर की स्थापत्य-कला अत्यन्त सूक्ष्म और आकर्षक है।

(१०) **शिवखोरी**—सृष्टि के आदि में गुफाओं से आदिमानव का संबंध रहा है। गुफाएँ आज भी मनुष्यों में असीम कौतूहल जगाती हैं। लेकिन पिछले दिनों उन गुफाओं की विशेष चर्चा रही है, जो जमीन के अंदर मीलों तक चली गई हैं, और जिनमें लाखों वर्ष से प्रकृति के विविध परिवर्त्तनों ने अजब-अजब रहस्यों की सृष्टि की है। ऐसी एक गुफा काश्मीर के जम्मू अंचल में भारत-पाक युद्ध के दिनों में बहु-चर्चित अखनूर के पास है। यह आश्चर्य-जनक गुफा शिवखोरी है, जिसके अंदर पत्थरों की विचित्र बनावटें और जल के अद्भुत इन्द्रजाल हैं।

यह पवित्र गुफा लगभग छह फर्लांग लंबी है और इसका मुखद्वार ३० फुट चौड़ा तथा ३० फुट ऊँचा है। गुफा में घुसते ही दाईं ओर दो कुण्ड दिखाई देते हैं। ये नरक-कुण्ड और स्वर्ग-कुण्ड के नाम से विख्यात हैं। नरक-कुण्ड में प्रवेश करने पर यात्री गर्मी अनुभव करता है, पर स्वर्ग-कुण्ड में प्रवेश करने पर वह शीतल वायु के स्पर्श से आनंदित हो मग्न हो जाता है। इससे लगभग एक फर्लांग आगे जाने पर तीन छोटी-छोटी सीढ़ियाँ मिलती हैं, जिनके निकट बहुत बड़ा गहरा गड्ढा है। और आगे जाने पर गुफा का दूसरा भाग आरंभ होता है। यह अति सुन्दर है। यहाँ प्राकृतिक रूप से बने देवी-देवताओं के चित्र देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है। पास ही शिवलिंग स्थापित है, जिसकी ऊँचाई लगभग छह फुट है। यह लिंग १०० फुट लंबे और ८० फुट चौड़े कमरे के बीचोबीच स्थित है। हाल ही में दीवारों पर सुन्दर नक्काशी की गई है, जिसमें पौराणिक तथा ऐतिहासिक चित्रों के नमूने हैं।

कहीं शिवजी ताण्डव कर रहे हैं और कहीं गणेश जी विराजमान हैं। कहीं श्री कृष्ण की बाल-क्रीड़ा के दृश्य हैं, तो कहीं रामावतार के चित्र हैं। यह चित्रकारी और नक्काशी किसी मूर्तिकार के कुशल हाथों द्वारा किए गए कठिन श्रम को स्पष्ट ही बता रही हैं। वास्तव में ऐसा कुछ है नहीं, यह सब तो प्रकृति की कलम की करामात है। दीवार के एक तरफ गजेन्द्र के पाँव और ग्राह का मुँह हैं, जो गज-ग्राह-युद्ध की ओर इशारा करते हैं।[1]

शिवलिंग के ठीक ऊपर कामधेनु का मुख है। इसके चारों स्तनों से बारी-बारी से शिवलिंग पर एक-एक बूँद दूध या जल हमेशा टपकता रहता है। कामधेनु के स्तनों के जरा ऊपर विष्णु भगवान की मूर्ति है, जिसके मुख से भी एक-एक बूँद जल शिवलिंग पर निरंतर टपकता रहता है। अनंत काल से लिंग को स्नान कराने की दोनों क्रियाएँ होती चली आ रही हैं। यह दृश्य इतना प्रभावोत्पादक है कि थोड़ी ही देर के लिए सही, दर्शक का शीश स्वतः श्रद्धा से नत हो जाता है।

शिवखोरी गुफा में बाबा रामभरोसे रहते हैं। हर शिवरात्रि को यहाँ एक बड़ा मेला लगता है। पूजा यहाँ सारी रात चलती रहती है। 'जय शिव-शंकर, जय भोले बाबा' के नाद से घाटी गूँजने लगती है।[2]

(११) **कुंभकोणम्**—तमिलनाडु (मद्रास) में कुंभकोणम् एक प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ कुंभेश्वर, शार्ङ्गपाणि, नागेश्वर, चक्रपाणि और रामस्वामी के मुख्य मंदिर हैं।

रामस्वामी मंदिर में श्रीराम-लक्ष्मण-सीता की बड़ी सुन्दर मूर्तियाँ हैं। इस मंदिर में श्रीराम के राज्याभिषेक-काल की संपूर्ण लीलाओं के तिरंगे चित्र दीवारों पर बने हैं। खंभों पर विविध लीलाओं को व्यक्त करनेवाली बहुत सुन्दर एवं कलापूर्ण मूर्तियाँ हैं। मंदिर अपनी कला के लिए प्रसिद्ध है।

(१२) **वेलूर**—मैसूर राज्य के तीर्थों में वेलूर का एक विशिष्ट स्थान है। यह बंबई-हरिहर-पूना रेल-पथ के बाणावर स्टेशन से १८ मील दक्षिण-पश्चिम है। हालोविद से बस वेलूर जाती है। यह स्थान विभिन्न स्थलों से आनेवाली बसों का केन्द्र है।

---

1. **आदिम गुफा-यात्रा** (**'धर्मयुग'**, दीवाली-अंक, १९६६) : राज
2. **शिवखोरी की गुफा** (**'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'**) : आशा रानी जैन

चेन-केशव मंदिर यहाँ का मुख्य मंदिर है। विष्णुवर्द्धन हायरुल ने इस मंदिर की प्रतिष्ठा की थी। मंदिर नक्षत्र की आकृति का है। भगवान की मूर्ति लगभग ७ फुट ऊँची और चतुर्भुज है। उनके साथ उनके दाहिने भूदेवी और बाएँ लक्ष्मी देवा और श्रीदेवी हैं।

यह मंदिर एक ऊँची दीवार के घेरे में चबूतरे पर स्थित है। यहाँ की मूर्ति-कला अद्भुत है। मंदिर की पिछली एवं बगल की भित्तियों में जो मूर्तियाँ अंकित हैं, वे सजीव-सी लगती हैं। इतनी सुन्दर मूर्तियाँ अन्यत्र कठिनाई से मिलती हैं। मंदिर के जगमोहन में बहुत बारीक खुदाई का काम है। पूरा मंदिर कला-नैपुण्य का एक श्रेष्ठ प्रतीक है।

(१३) **त्रिपुरी**—जबलपुर से लगभग ८ मील पश्चिम की ओर स्थित आज का तेवर नामक छोटा-सा ग्राम ईसवी-पूर्व तीसरी सदी से लेकर १३वीं सदी तक त्रिपुरी के नाम से एक प्रसिद्ध वैभवशाली नगर था। कलचुरी-वंश के राजाओं की यहाँ राजधानी थी। त्रिपुरी में हिंदू-प्रतिमाओं के साथ-साथ जैन और बौद्ध-धर्म की प्रतिमाएँ भी पाई जाती हैं। इससे प्रतीत होता है कि कलचुरी राजे धर्म-सहिष्णु थे और उनके राज्य में जैन, बौद्ध तथा शैव—तीनों धर्मों का अबाध प्रचार था।

पाशुपत शैवों की वाममार्गी साधना का ज्वलंत प्रतीक यहाँ चौंसठ योगिनी का मंदिर है। इसके आँगन में स्थित बौद्धनाथ-मंदिर स्थापत्य-कला का अनुपम उदाहरण है। यह मंदिर तांत्रिक प्रयोगों द्वारा बनाया गया है। चौंसठ योगिनियों की मूर्तियों के बीच बना गौरी-शंकर का मंदिर 'मत्त-मयूर' शैली का कहा जाता है। इस मंदिर के भीतर शिव-पार्वती की एक सजीव चातुर्यपूर्ण प्रतिमा पाई जाती है। शिव और पार्वती नंदी पर सवार हैं। मूर्ति के नीचे खुदे हुए लेख से ज्ञात होता है कि वह बटेश्वर की मूर्ति है। मूर्ति के नीचे की आकृतियों के देखने से पता चलता है कि अनेक व्यक्ति नाचते हुए आनंद-विभोर मुद्रा में दिखाई दे रहे हैं। गौरी के हाथ में आरती है और वह शंकरजी की ओर निहार रही हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यह दूल्हे के रूप में भगवान शंकर की मूर्ति है। इसमें विवाह के बाद गौरी-शंकर के लौटने का दृश्य अंकित है। बटेश्वर के आसपास तारा, हरगौरी, गणेश, कार्त्तिकेय आदि की मूर्तियाँ हैं।

इस स्थान के पास ही संसार-प्रसिद्ध भेड़ाघाट जल-प्रपात है। भेड़ाघाट जल-प्रपात में कलकल निनादिनी नर्मदा लगभग २५ फुट की ऊँचाई से गिरकर अपने

निर्मल जल को धवल दुग्ध में परिणत कर देती है। आगे चलने पर बंदरकुदनी का अनुपम दृश्य मानव को अलौकिक आनंद प्रदान करता है। बंदरकुदनी में पुण्य-सलिला, प्रेम-प्रसविनी नर्मदा के दोनों तटों पर संगमरमर की भीमकाय बहुरंगी चट्टानें बड़ा सुन्दर प्रतीत होती हैं। श्वेत संगमरमर पर सूर्य की सप्तरंगी किरणें चाँदी में परिणत हो जाती हैं और रेवा का गहरा नील जल बन जाता है। इसमें नृत्य करती हुई लोल लहरें सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की अनुपम झाँकी प्रस्तुत करती हैं। कितने ही महामुनियों और ऋषियों के आश्रम यहाँ विद्यमान हैं।

(१४) **एकलिंग**—उदयपुर से उत्तर १४ मील की दूरी पर विद्यमान एकलिंग का शिवालय, मेवाड़ का ही नहीं, समूचे भारत के प्रमुख देवस्थानों में है। यह स्थान पहले मेवाड़ की प्राचीन राजधानी नागदा की सीमा में था। नागदा के सास-बहू के मंदिर की अद्भुत शिल्पकला को देखकर पर्यटक का चित्त चकित हो उठता है।

शिल्प-शास्त्र के अद्वितीय विद्वान महाराणा कुंभकरण (कुंभा) के समय में एकलिंग जी के मंदिर का पुनरुद्धार हुआ। यहाँ महाराणा कुंभा का बनाया हुआ शिल्पकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एक वैष्णव-मंदिर भी विद्यमान है, जो मुख्य मंदिर के पास उतर की ओर है और उसे मीराबाई का मंदिर कहते हैं।

एकलिंग के मंदिर से दक्षिण की ओर एक सबसे प्राचीन लकुलीश शिव-मंदिर है। इस मंदिर के सामने सुन्दर तोरण एक के बाद एक क्रम से बनाए गए हैं। इन मंदिरों के अतिरिक्त यहाँ (नागदा) के जैन-मंदिर की भी मनोहारी शिल्पकला है।

(१५) **चिदंबरम्**—यह प्रसिद्ध शैव-तीर्थ मद्रास-रामेश्वरम् रेल-पथ पर स्थित है। यहाँ नटराज शिव का मंदिर ही प्रधान है। इस मंदिर का घेरा करीब सौ बीघे में है। इस मंदिर के पाँच घेरे हैं। दूसरे घेरे का गोपुर (प्रवेश-द्वार) नौ-मंजिला है। उसपर नाट्यशास्त्र के अनुसार निर्मित विविध नृत्य-मुद्राओं की मूर्तियाँ हैं।

तीसरे घेरे के द्वार पर गणेश जी का मंदिर है। गोपुर के सामने उत्तर की ओर एक मंदिर में नंदी की विशाल मूर्ति है। इसके आगे नटराज के निज मंदिर का घेरा है, जो पाँचवें घेरे के अंदर है। सामने नटराज का सभा-मंडप है। आगे एक स्वर्ण-मंडित स्तंभ है। नटराज के सभा-मंडप के स्तंभों में सुन्दर मूर्तियाँ निर्मित हैं। आगे एक आँगन के मध्य में कसौटी के काले पत्थर पर

श्री नटराज का निज मंदिर है। उसके शिखर पर स्वर्ण-पत्र चढ़ा है। मंदिर में नृत्य करते हुए भगवान शंकर की बड़ी सुन्दर स्वर्ण-मूर्ति है। श्री नटराज की झाँकी बहुत ही भव्य है।

श्री नटराज की दाहिनी ओर काली भित्ति में यंत्र खुदा है। वहाँ सोने की मालाएँ लटकती हैं। यह नीला शून्याकार आकाश-तत्त्व ही लिंग माना जाता है। इस स्थान पर प्रायः पर्दा पड़ा रहता है। लगभग ११ बजे दिन में अभिषेक के समय तथा रात्रि के अभिषेक के समय इनके दर्शन होते हैं। यहाँ संपुट में रखे दो शिवलिंग हैं, जिनमें एक स्फटिक का और दूसरा नीलम का है। इन दोनों प्रतिमाओं को क्रमशः चन्द्रमौलेश्वर तथा रत्न-सभापति कहते हैं। इस प्रकार का लिंग एकमात्र चिदंबरम् में ही है।

(१६) **ग्वालियर**— ग्वालियर मध्य रेलवे के दिल्ली-बंबई-मार्ग पर स्थित है। इसका प्राचीन किला एक नगरी ही है। किले के कुछ स्मारकों को पुरातत्त्व-विभाग ने काफी सुरक्षित कर रखा है। सास-बहू के दो मंदिर ऐसे ही स्मारक हैं। इन दोनों मंदिरों में फर्क यही है कि एक बड़ा है और दूसरा छोटा। स्थापत्य-कला की दृष्टि से सास-बहू के मंदिर अति सुन्दर हैं। यहाँ महाबलिपुरम् के मंदिरों के समान रथाकृति है। प्रवेश करने की सीढ़ी से लेकर भीतर प्रत्येक स्तंभ, दीवार और कंगूरों पर बड़ी नाजुक नक्काशी की गई है। कहीं फूलों के और कहीं देवी-देवताओं के चित्र बने हैं। सारांश यह कि मंदिर का कोई भी भाग चित्रों से शून्य नहीं है।

सास-बहू के मंदिर के दक्षिण तेलिका-मंदिर है। प्राचीन भारत में आने-जाने के साधन कम थे। फिर भी सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता रहता था। तेलिका-मंदिर में ऐसे आदान-प्रदान के नमूने मिलते हैं। 'तेलिका' का आदि-स्रोत 'तेलिंगा' है। यह नर्मदा नदी के दक्षिण का प्रदेश है। इस मंदिर का गोपुर वैसा ही है जैसा दक्षिण-भारत में पाया जाता है। इस मंदिर का आयताकार आधार, आले और ऊपरी चपटे हिस्से यह सिद्ध करते हैं कि यह मंदिर एकदम दक्षिण-भारत की शैली का है। गोपुर काफी कलापूर्ण है।

(१७) **आमेर**—आमेर जयपुर की पुरानी राजधानी है। यह रमणीय भव्य स्थान चारों ओर पहाड़ियों से घिरा हुआ है। इन पहाड़ियों के प्राकृतिक दृश्यों के बीच यह स्थान स्फटिक मणि-सा लगता है। विशाल चटट्ानों के मुख के पास इसकी स्थिति माँ के पास बैठे भोले शिशु की-सी लगती है। एक

बार इस दृश्य को देख लेने पर आँखें इससे दूर नहीं हटतीं और बार-बार इसी दृश्य का अवलोकन करने की इच्छा बलवती हो उठती है।

यहाँ के प्रसिद्ध मंदिर दो हैं, जो वास्तुकला के बहुत ही उत्कृष्ट नमूने हैं। इनकी नक्काशी, पच्चीकारी तथा मूर्ति-कला अति प्राचीन हैं। प्रथम मंदिर का नाम अम्बिकेश्वर है, जिसमें शिव की प्रतिमा है और बाहर की ओर चौर का बहुत सुन्दर चौखटा बना हुआ है। मंदिर के बाहर जो अष्टधातु का घंटा और घंटियाँ लगी हुई हैं, उनसे सहज ही पता लग जाता है कि यहाँ के कारीगर धातु-विज्ञान में भी कितने बढ़े-चढ़े थे। दूसरा मंदिर जगत-शिरोमणि जी का है, जो कोई देवता प्रतीत होते हैं। इस मंदिर के ऊपर का गुंबज दो बहुत ही प्राचीन पत्थरों से तराशा हुआ है। ध्यान से देखने पर मालूम होता है कि वह एक ही पत्थर का बना हुआ है। इस मंदिर की नक्काशी बहुत प्राचीन एवं श्लाघनीय है। आमेर का पूर्व-वैभव और इसकी शान का पता इन मंदिरों के देखने से ही चल जाता है।

आमेर के महलों के भीतर की नक्काशी की बारीकी और इसके अद्‌भुत सौंदर्य को देखते ही टकटकी-सी लग जाती है। राजपूत-वास्तुकला-शैली से संबंधित महलों में ग्वालियर के बाद इसी का स्थान है। यहाँ के महलों के जालीदार झरोखे की नक्काशी और पच्चीकारी राजपूत-कालीन कारीगरी की शान है। नक्काशी और मूर्तिकला की तराशी सर्वथा सजीव है। वस्तुतः यह स्थान राजस्थान की प्राचीन कला का संगम है।

(१८) **वृन्दावन**—यह भगवान कृष्ण की लीला-स्थली है। कृष्णभक्तों का तो यह पवित्रतम तीर्थ है। यहाँ हजारों मंदिर हैं। इसे मंदिरों की नगरी कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इन मंदिरों में से कतिपय कलापूर्ण हैं और उनमें स्थापित मूर्तियाँ दर्शकों के मन को मोह लेनेवाली हैं।

यहाँ का प्रमुख और सर्वमान्य मंदिर श्री बिहारीलाल जी का है। इसे राजा मानसिंह ने विक्रम-संवत् १६४७ में बनवाया था। यह लाल पत्थर का बना है। इसकी जोड़ाई देखकर आधुनिक इंजीनियर भी चकित रह जाते हैं। भारत की प्राचीन स्थापत्य-कला का यह एक सुन्दर उदाहरण है। यहाँ की प्राचीन पूज्य मूर्ति औरंगजेब की असहिष्णु धार्मिक नीति के कारण जयपुर भेज दी गई। तब से वह वहीं विराजमान है। वृन्दावन के वर्तमान दर्शनीय मंदिरों में इसका विशिष्ट स्थान है। मान-सम्मान और कला की दृष्टि से भी इसका गौरव अधिक है।

कला की दृष्टि से दूसरा दर्शनीय मदिर शाह बिहारीलाल जी का है। संपूर्ण मंदिर संगमरमर का बना है। इसकी कारीगरी श्लाघनीय है। संगमरमर के टेढ़े बलदार खंभे यात्रियों को बरबस आकर्षित करते हैं। दस लाख रुपए की लागत से इस मंदिर का निर्माण हुआ है।

(१६) **दशपुर की अष्टमुखी शिव-मूर्ति**—शैव-दर्शन की कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से पहली शताब्दी की मथुरा की अर्द्धनारीश्वर की मूर्ति, आठवीं शताब्दी की एलिफैंटा की त्रिमूर्ति और दसवीं शताब्दी की चिदम्बरम् की नटराज-मूर्ति अनुपम हैं। अर्द्धनारीश्वर और नटराज की प्रतिमाएँ अन्यत्र भी उपलब्ध हैं। एकमुखी, त्रिमुखी, चतुर्मुखी और पंचमुखी शिवलिंग भी देखने को मिलते हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्रतिमाएँ भारत की आध्यात्मिक, धार्मिक तथा कलात्मक समृद्धि के परम प्रमाण हैं। डॉ० राधाकमल मुखर्जी ने तो त्रिमूर्ति को भारतीय संस्कृति का परम प्रतीक माना है। नटराज की प्रतिमा सर्व-खल्विद शिव-तत्त्व की लीलामयी अभिव्यंजना प्रतीत होती है। डॉ० आनन्द कुमारस्वामी ने अपने 'The Dance of Shiva' नामक ग्रंथ में इस प्रतिमा की विविध व्याख्या की है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अर्द्धनारीश्वर की वैदिक, दार्शनिक एवं पौराणिक व्याख्याएँ हिन्दी-विश्वकोष में पर्याप्त विस्तार से प्रस्तुत की हैं। इस तरह के न जाने कितने अनुपम रत्न भारतीय वसुन्धरा के कोष हैं, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है। दशपुर की अष्टमुखी शिव-प्रतिमा ऐसे ही अनुपम रत्नों में एक है।

दशपुर नगर में विजय-स्तंभों के अतिरिक्त अभयकूप, दुर्ग-स्थित तोरण-स्तंभ, विशाल शिवमूर्ति एवं शिवना नदी से प्राप्त अष्टमुखी शिव-प्रतिमा आदि कई ऐतिहासिक एवं पुरातन अवशेषों से यह स्पष्ट है कि यहाँ चारों ओर शैवमत का प्रबल प्रचार था। उपासकों की साधना का प्रबल प्रतीक यहाँ की अष्टमुखी शिव-प्रतिमा है, जो नगर को ऐतिहासिक ख्याति देने के साथ-साथ एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक तीर्थ की श्रेणी में लाती है। काल-कराल के कितने ही थपेड़ों से अविचलित यह प्रतिमा इसे गरिमामय स्थान दिलाने की क्षमता रखती है। शिवना नदी के रम्य तट पर अवस्थित यह विशालतम देव-प्रतिमा अनूठी, अद्भुत एवं दर्शनीय तो है ही, वास्तुकला की भी अन्यतम धरोहर है।

यह प्रतिमा शैवमत की प्रतिपाद्य विकसित कला एवं दर्शन की अभिव्यक्ति की दृष्टि से आज तक अद्वितीय है। शिवना के विशाल पाट में यह प्रतिमा

कब से और क्यों समाधिस्थ हुई, यह कोई नहीं जानता, किन्तु समय के प्रवाह ने इस अष्टमुखी प्रतिमा की समाधि को भंग किया। संवत् १९९७ वि० में इसे नदी से निकालकर वर्तमान महादेव घाट के समीप श्री शिवदर्शन लाल अग्रवाल के खेत में रखा गया, जहाँ २० वर्षों तक यह अपने उद्धार की प्रतीक्षा करती रही। अंततोगत्वा संवत् २०१८, मिति मार्गशीर्ष कृष्ण पंचमी को अष्टग्रही योग के समय इस भव्य प्रतिमा की स्थापना जनता के तन-मन-धन से सहयोग से तथा स्वामी प्रत्यक्षानंद जी की प्रेरणा से संभव हुई।

संपूर्ण भारत में तो क्या, संपूर्ण विश्व में भी ऐसी भव्य मूर्ति कहीं दृष्टिगत होना असंभव है। यह प्रस्तर-प्रतिमा एक ही पाषाण-खंड द्वारा निर्मित है, जिसका वजन १२५ मन है और जिसकी ऊँचाई सवा छह फुट तथा मोटाई ११ फुट है।

शिल्प, कला एवं भावाभिव्यंजना की दृष्टि से भी यह प्रतिमा अद्वितीय है। प्रतिमा एक ऐसी अद्भुत शिला से निर्मित है, जिसके वर्ण-वैचित्र्य को देखकर यह आभास एवं आशंका होती है कि कहीं शिला विविध रगों से रजित तो नहीं की गई। यह आशंका इस शिला की वर्ण-रमणीयता का स्वतः प्रमाण है। वर्ण-सौष्टव इसमें सहज है। यह सवतः सुप्रसिद्ध है कि यह मूर्ति प्रधानतः गाढ़े रक्त वर्ण की है, साथ ही श्वेत तथा श्याम धारा एवं लहरियाँ इसमें विद्यमान हैं, जो साधारण शिवलिंग में होती हैं। फलतः डॉ० तिवारी के शब्दों में इस प्रस्तर-मूर्ति में 'श्वेत-श्याम-रतनार' वर्ण की मनोहारी रमणीयता है।[1] इस वर्ण-विलास में केवल कला ही नहीं, दर्शन का गाम्भीर्य भी है, जो भारतीय कला का अपना वैशिष्ट्य है। दर्शन और कला का यह अद्भुत सौंदर्य सत्यं, शिवं और सुन्दर के अपृथकत्व की सिद्धि है, जिससे यह साबित होता है कि इसका उद्गम एक ही परम तत्व के परिप्रेक्ष्य से है।

"यद्यपि यह अतीव रमणीय प्रतिमा मदनमार की है, तथापि किसी भाव-धनी शिल्पी ने इतनी अनिर्वचनीय शृंगार और सत्य की समृद्धि इस शिव की शिला-शक्ल में संवरित की है कि यह भी संशय होने लगता है कि यह मदनमार की प्रतिमा है या मदनमोहक की।

1. **शिव की अष्टमुखी मूर्ति** : डॉ० रामचन्द्र तिवारी
हिन्दू-विश्व, अक्टूबर, १९६७)

सचमुच कार्तिक की पूर्णिमा के अवसर पर विशेषतः कमनीय वर्ण-भरण विन्यासमयी इस मूर्ति की अनोखी झाँकी देखकर महाकवि कालिदास के ये प्रश्न मचल उठते हैं—

अस्या सर्गविधौ प्रजापतिरभूश्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ।
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।।

—अर्थात् इसकी रचना प्रजापति ने की या रसरूप दाता विधु ने की या शृंगाररस-प्रधान मदन ने की या सुमन-सम्पत्तिवाले वसंत ने ?"

ऐसा लगता है, मानों यह प्रतिमा शिव का, सौंदर्य-रूपी शिवा के साथ, शिलामय अवतार हो। एलिफेंटा की त्रिमूर्ति में पार्वती की रचना अलग से वाम भाग में करनी पड़ी, किन्तु यहाँ वह सुन्दरी स्वयं व्यंजित है। अर्द्ध-नारीश्वरी में भी पार्वती प्रियतम के साथ एक न हो सकी। प्रियतम भी प्रियतमा के अणु-परमाणु में अद्वैत-भाव से न आ सका। किन्तु डॉ० तिवारी का कथन है कि इस अष्टमुखीप्रतिमा में शिव और सौंदर्य का ऐसा अद्वैत है, मानों शृंगार के व्याज से शिवा झाँकती है, जैसे मुक्ता का लावण्य झलकता है।

वैसे ही शिवा या शक्तिशृंगार-समृद्ध इस ६ फुट ऊँचे विजय-स्तंभ के सदृश ठोस चट्टान से निर्मित शैवलिंग की कला से व्यंजित होती है। ऐसी विशाल और कला तथा दर्शन की गूढ़ व्यंजनाओं से भरपूर लिंग-प्रतिमा विश्व में अन्यत्र नहीं है।[1]

प्रतिमा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि साक्षात् ब्रह्मा भी इतनी सरसता, इतनी सजीवता तथा इतनी मोहकता व्यक्त नहीं कर सकते। ऐसा आभास होता है कि मानों यह शिला स्वयं शिव के सौंदर्य-रूप शिवा के रूप में अवतरित हुई है। चारों वदनों की निर्मिति द्वैत और अद्वैत के कितने ही मधुर संबंधों को स्पष्ट करती परिलक्षित होती है।

प्रतिमा के आठ मुख द्रष्टव्य हैं—चार मुख ऊपर तथा चार उन्हीं मुखों के लगभग एक फुट नीचे। नीचे के चार मुख अस्पष्ट हैं। ऊपर के चार मुखों की आकृति, भावाभिव्यक्ति एवं केश-सज्जा भव्य एवं सुस्पष्ट हैं। विभिन्न वदन भिन्न-भिन्न भंगिमाएँ प्रदर्शित करते हैं। सर्वप्रथम पूर्व की ओर उन्मुख मुख समाधिस्थ शिव की शान्त मुद्रा का दिग्दर्शन कराता है, जिसपर मालाओं के

---

1. **शिव की अष्टमुखी मूर्ति** : डॉ० रामचन्द्र तिवारी

बंध हैं तथा जटाओं की कलात्मक ग्रंथियाँ हैं, गले में सर्प सुशोभित हैं तथा अधर मौन, मुग्ध और विकार-रहित है। किन्तु तृतीय नेत्र की अविरक्तता प्रचण्डता का स्पष्ट संकेत करती है, मानों कामदेव को अनंग करने को तत्पर हो। उत्तर मुख हास्यरस का व्यंजक है। भंग की भंगिमा का विलास दीख पड़ता है। लगता है, औघर बाबा खिलखिला रहे हैं। फूले हुए गाल, केश-सज्जा में मोटी लटें, लंब-रूप से वृत्ताकार एवं कर्ण-रध्रों में दुबके हुए सर्प, समस्त विशेषताएँ अल्हड़-स्वरूप दिखाती हैं। सृष्टि के संहारक शिव का रौद्ररूप हमें पश्चिमी मुख में लक्षित होता है। यह मुख पूर्णतः रक्तिम है तथा इसका तृतीय नेत्र अन्य मुखों के नेत्रों की अपेक्षा अधिक उभरा है। केश-सज्जा विषधरों की हल-चल द्वारा दर्शायी गई है। केवल इस मुख में केशों के मध्य 'ओम्' है, जिसके दोनों ओर दो सर्प अंकित हैं। सृष्टि के संहार के उपरांत परमतत्त्व का दिग्दर्शन ओम् से होता है। आशुतोष की रम्य एवं मनोहारी भाव-भंगिमाओं की अभि-व्यक्ति दक्षिण मुख से होती है। शक्ति को समाहित किए शिव की केश-सज्जा अत्यंत सुन्दर बनी है, जिसे द्वितीया के चाँद से सुशोभित किया गया है। विषधर रहित यह मुख विधुरी षोडशी कला का सुन्दरतम स्वरूप लिए है। शृंगार-रस का पूर्ण परिपाक है, जो मानव-मन को मोह लेता है। इस प्रकार प्रत्येक मुख जीवन के चार परम तत्त्वों को दर्शाता है, जिनसे शृंगार, शांत, रौद्र और बीभत्स व्यंजनाओं का सामुख्य होता है। कहा जा सकता है कि इन चारों रसों का अद्भुत समन्वय इस भव्य प्रतिमा में अद्भुत कौशल का परिचायक है।[1]

डॉ० तिवारी का कथन है कि "विशुद्ध दर्शन, कला और धर्म की दृष्टि से यदि हम देखें तो निष्पक्षतया यह कहना पड़ता है कि यह अष्टमुखी-मूर्ति आजतक शैव-कला और दशन की दृष्टि से अद्वितीय है।"

(२०) **क्रिम्ची**—जम्मू नगर से चालीस मील दूर क्रिम्ची नामक स्थान पर पाँच भव्य कलात्मक पाषाण-मंदिर हैं। सुन्दर नक्काशी एवं कलापूर्ण प्रतिमाओं से सज्जित ये मंदिर अतीत में उत्तर तथा दक्षिण के सांस्कृतिक संबंधों के साक्षी हैं। अबतक यह ज्ञात नहीं हो सका कि क्रिम्ची-जैसे निर्जन स्थल पर ऐसे श्रेष्ठ कलापूर्ण देव-मंदिर कैसे निर्मित हुए और इनके शिल्पी कौन थे।

चतुर्दिक नदियों द्वारा घिरे एक निर्जन पठार में स्थित इन देवालयों में पुरातत्त्ववेत्ताओं तथा कलाप्रेमियों के लिए अन्वेषण योग्य बहुत सामग्री है।

1. **देवाधिदेव पशुपति एवं दशपुर (हिन्दू-विश्व, मई १९६८) : श्री कैलासचन्द्र शर्मा**

इसमें कोई संदेह नहीं कि इनपर उत्कीर्ण विपुल नक्काशी तथा यहाँ की मूर्ति-कला उच्च कोटि की है।

इन मंदिरों के स्थापत्य एवं मूर्ति-कला का निरीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि ये दसवीं सदी के हैं। बताया जाता है कि इसी सदी के लगभग बनोर के भव्य मंदिर बनाए गए थे, जो क्रिम्ची से २० मील दक्षिण-पूर्व में हैं।

क्रिम्ची के देव-मंदिरों की नक्काशी भास्कर्य-विद्या का मनोहर नमूना है। प्रत्येक नमूना दो-दो, चार-चार पाषाण-खंडों पर उत्कीर्ण किया गया है। क्रिम्ची के बड़े मंदिर में तो विशेष रूप से ऊपर से नीचे तक ऐसी ही विस्तृत नक्काशी है। इसके अंदर की दीवारों पर बहुत सी नक्काशियों पर पत्थर लगे हैं। इनमें से प्रत्येक पत्थर स्वयं ही पूर्ण मंदिर के रूप में प्रतीत होता है। इनके शिखरों पर पूर्ण विकसित कमल या सूर्य की आकृतियाँ पाषाण की ही बनी हैं। क्रिम्ची के ये मंदिर मधुमक्खियों के छत्ते की भाँति दिखाई देते हैं।

जितनी मूर्तियाँ अबतक उपलब्ध हो सकी हैं, उनसे प्रतीत होता है कि उनके शिल्पकार बहुत ही निपुण और प्रवीण थे। श्री सूरज प्रसाद ने दो प्रतिमाएँ स्वयं इधर-उधर बिखरे पत्थरों के बीच से निकाली हैं। उनका कथन है कि इनमें से एक तो विष्णु के वराह-अवतार की है, जो सुन्दर रमणी-रूपी पृथ्वी को राक्षस रूपी सागर से बचाने के लिए अपने कंधे पर उठाए हुए हैं और राक्षस को अपने पैरों-तले रौंद रहे हैं। दूसरी, एक मनुष्याकार शिव-प्रतिमा है। ये मूर्तियाँ शिल्प-कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

बड़े देवागार में टाकर-भाषा में लिखित एक शिला-लेख भी है। किन्तु यह आजतक पढ़ा नहीं जा सका। इसके पढ़े जाने पर मंदिरों के निर्माण-काल पर प्रकाश पड़ेगा।

(२१) **एलिफेंटा**—धारापुरी द्वीप, जो एलिफेंटा के नाम से प्रसिद्ध है, बंबई से ४ मील दूर समुद्र में है। रविवार को इस द्वीप के भाउचा-धक्का बंदरगाह पर स्टीमर जाती है। स्टीमर-घाट से लगभग एक मील पर पहाड़ को काटकर गुफा में प्रतिमा, स्तंभ, मंदिर आदि बनाए गए हैं, जो अद्वितीय हैं।

यहाँ की गुफाओं में त्रिमूर्ति-गुफा मुख्य है। यह एक विशाल गुफा है। यहाँ पास-पास ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की विशाल मूर्तियाँ हैं। एक कमरे में १४ फुट ऊँची अर्द्धनारीश्वर शिव-पार्वती की मूर्ति है। इसके दाहिने ब्रह्मा जी तथा बाएँ गरुड़ पर विराजमान विष्णु जी हैं।

भारतीय कला के प्रतीकात्मक रूप की शायद सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति शिव-महेश्वर की विख्यात आध्यात्मिक त्रिमूर्ति में हुई है। इस प्रतिमा के बीच का मुख स्वयं प्रभावित, निरक्षेप और पारलौकिक तत्पुरुष सदाशिव का है। दायाँ मुख अग्रभृकुटी ताने हुए तथा वैराग्य एवं विनाश की भावना से उद्धत अघोर भैरव का है। बायाँ मुख है शिव की संगिनी, परम सौंदर्यमयी आभूषण-युक्त उमा का।

''भारतीय संस्कृति में उमा अथवा शक्ति, जिनके हाथ में सदैव कमल रहता है, अर्थ और काम अर्थात् सम्पत्ति, सौंदर्य और जीवन-सौख्य की देवी हैं। अपनी अंगुलियों में साँप लपेटे अघोर भैरव धर्म और मोक्ष के प्रतीक हैं। आत्मलीन पुरुष के लिए सृजन और संहार, क्रिया और शांति का सतत गतिशील चक्र केवल क्षणिक माया है, जो जनमती, बढ़ती और अन्य सभी माया की आकृतियों की भाँति तत्पुरुष में ही विलीन हो जाती है। इस आध्यात्मिक त्रिमूर्ति के कुछ दूसरे रूपों में प्रशांत योगी की भाँति सदाशिव मध्य में ही हैं; किन्तु दाईं ओर खप्पड़ से रक्त-पान करते हुए महाकाल तथा बाईं ओर एक दर्पण में प्रतिबिंबित ब्रह्मांड के रूप में अपने सौंदर्य का अवलोकन करती हुई महामाया।''[1]

(२२) डिचपल्ली का मंदिर—आंध्रप्रदेश के निजामाबाद जिले में एक गाँव है डिचपल्ली। उसके पास एक पुराना मंदिर है। यह है तो छोटा, पर बड़ा ही सुन्दर है। यह मंदिर ४५ कदम लंबा, २८ कदम चौड़ा तथा ३० कदम ऊँचा है। मंदिर में गुलाब और कमल की खुदाई इतनी खूबी से हुई है, मानों बहुत ही कुशल कारीगरों ने की हो। इस मंदिर के नक्शे और निगार को देखकर श्री गुलाम अहमद काशाना चकित हुए थे कि कारीगर ने कैसे पत्थर को मोम समझकर तराशा है।

मंदिर का बरामदा बड़ा ही दिलकश है। खंभों और कंगूरों पर अजीबो-गरीब नक्काशी की हुई है। अंदर की रचना एलोरा के मंदिर की शैली की है। इसके पास एक और मंदिर है और पहाड़ी पर तीसरा। तीनों ही मंदिरों में कोई मूर्ति श्री काशाना को नजर नहीं आई। बहुत खोज करने पर आपको पता चला कि सीताराम नामक एक राजपूत सरदार ने मंदिर और मकान बनवाया था।

---

1. **प्रतीक और प्रतिमा ('नवनीत' नवम्बर १९६७): डॉ० राधाकमल मुखर्जी**

दीवार पर चारों ओर मैथुन-मुद्रा की मूर्तियाँ हैं। इन्हें देखकर श्री काशाना चकित हुए कि परमात्मा से मन लगाकर तप करने के स्थान पर ये मूर्तियाँ क्यों ? किंतु उन्हें एक स्थान पर एक तपस्वी लोहे के कड़े में पाँव फँसाकर उलटे लटका हुआ दीख पड़ा। नीचे आग जल रही थी। साथ ही नजर पड़ी मैथुन-मूर्तियों से भरी दीवार पर। उनकी पहेली सुलझ गई। 'हिंदू-धर्म तपस्वी से कहता है कि तुझे सारी मोह-माया और प्रलोभनों में रहकर तप करना है, अपने को इनसे ऊँचा उठाना है। यदि तेरी इंद्रियों ने जरा-सी भी बदख्वाहिश की तो तेरा सारा किया-कराया तप नष्ट हो जाएगा।'[1] इस दृश्य को देखकर काशाना महोदय कहते हैं—'किस कदर ऊँचा है हिंदू-धर्म का इबदत और दृढ़ निश्चय का फिलासफा ! कितनी ऊँची है उसकी अजमत और शान !!'

(२३) नेपाल की अद्भुत शिल्पकला—हिमालय की गोद में बसे हुए स्वतंत्र हिंदू राज्य के इस घोंसले में तीन राजधानियाँ ऐसी ही हैं, मानों तीन अंडे रखे गए हों। अत्यंत प्राचीन राजधानी ललितपट्टन, उसके बाद की भादगाँव, और आज कल की है काठमांडू या काष्ठमंडप। नेपाल के मंदिरों की बनावट हिंदुस्तान के के मंदिरों की बनावट के समान नहीं है। मंदिर की छत से जहाँ बरसात के पानी की धाराएँ गिरती हैं, वहाँ नेपाली लोग छोटी-छोटी घंटियाँ लटकाकर रखते हैं, और बीच में लटकनेवाले लोलक मे पीतल के पतले पीपल-पात लगा दिए जाते हैं। जरा-सी हवा लगते ही वे नाचने लगते हैं। यह कला उन्हें सिखानी नहीं पड़ती। एक साथ अनेक घंटियाँ किन-किन की आवाज करने लगती हैं। यह मंजुल ध्वनि मंदिर की शांति में खलल नहीं डालती, बल्कि शांति को अधिक गहरी और मुखरित करती है। भादगाँव की कई मूर्तियाँ तो शिल्पकला के अद्भुत नमूने हैं। शिल्प-शास्त्र के सब नियमों की रक्षा करते भी हुए कलाकार अपनी प्रतिभा को कितनी आजादी दे सकता है, इसके नमूने यदि देखने हों तो इन मूर्तियों को देख लीजिए। मालूम होता है कि यहाँ के मूर्तिकार कला को अतिमानुषी ही मानते हैं।[2]

पशुपतिनाथ का मंदिर नगर से अधिक दूर नहीं है। वह ऐसा दीखता है, मानों मंदिर के झुंड में बड़ा नंदी बैठा हो। निकट में ही बागमती बहती है।

---

1. **टूटा मंदिर, बुलंद ख्याल** ('नवनीत', नवम्बर, १९६७ : गुलाम अहमद काशाना

2. **जीवन-लीला** : काका कालेलकर; पृ० १६३

गुह्येश्वरी और पशुपतिनाथ के बीच से यह धारा बहती है। इसी कारण उसकी महिमा है।

पशुपतिनाथ से सीधे पश्चिम की ओर शिंगु-भगवान का दर्शन होता है। शिंगु-भगवान की तलहटी में ध्यानी बुद्ध की एक बड़ी मूर्ति सूर्य के ताप में तपस्या करती है। टेकरी पर एक मंदिर है। उसमें तीन मूर्तियाँ हैं—पहली बुद्ध भगवान की, दूसरी धर्म भगवान् की और तीसरी संघ भगवान की। हरएक के सामने घी का दीया जलता है; और एक कोने में लकड़ी के बनाए हुए चौखट में पीतल की एक पोली लाट खड़ी कर रखी है, जिसपर ऊँ मामे पामे हुम' (ऊँ मणिपद्मेऽहम्) का पवित्र मंत्र कई बार खुदा हुआ है। बौद्ध-प्रार्थना का रूप है—**बुद्धं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि।** और ये तीन मूर्तियाँ इन्हीं तीन बुद्ध, धर्म, और शरण का प्रतीक हैं।

(२४) साँची, भरहुत और मथुरा की शिल्पकला—साँची, भरहुत, मथुरा, अजंता, एलोरा आदि की शिल्पकला में लक्ष्मी की अत्यंत सुन्दर एवं मनोहर मूर्तियाँ मिली हैं। साँची के शुंग-कालीन स्तूप में एक स्थान पर लक्ष्मी की कमलालय-तप-मूर्ति बहुत ही सुन्दर है। वह घने कमल-वन में खड़ी हैं और उनके दोनों हाथों में उत्फुल्ल कमल के फूल हैं। तोरण-द्वार पर भी लक्ष्मी के विभिन्न रूप—राजलक्ष्मी, पद्मलक्ष्मी, पद्म श्री—अंकित हैं।

भरहुत की मूर्तियों में श्रीमाँ अकेली हैं। उनके उठे हुए दाहिने हाथ में कमल है। लक्ष्मी से संबंधित सौंदर्य और ऐश्वर्य की अवधारणा का भी उसमें अंतर्भाव है। स्तूप-वेदिका पर राजलक्ष्मी की आकषक आकृति उत्कीर्ण है।

मथुरा से प्राप्त लक्ष्मी की शिल्प-कृति सबसे अधिक कलात्मक एवं मनोहारिणी है। इसमें लय और गति का सुन्दर समन्वय द्रष्टव्य है। कुशल शिल्पी ने उस भगवती सौंदर्य को प्रस्तर में मूर्तिमान कर अपनी कला-शक्ति का परिचय दिया है। यह मूर्ति लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित है। यह दूसरी सदी की कृति मानी गई है।

साँची-भरहुत-शैली का शिल्पांकन अमरावती में हुआ है। यहाँ एक रमणी की मनोहर मूर्ति है, जिसको श्रीमूर्ति कहा जाता है। इसके चारों ओर सघन कमल के वन हैं। एक कमल-पुष्प पर लक्ष्मी घुटने पर हाथ रखकर बैठी हैं।

दक्षिण-भारत में कदल-स्थान में क्षीरसागर में कमल-शैय्या पर लेटी हुई लक्ष्मी की मूर्ति कलात्मक और आकर्षक है।

जयपुर में प्राप्त एक प्रतिमा में दो हाथियों के बीच लक्ष्मी उत्कीर्ण हैं। दोनों हाथी अपनी सूँढ़ों में कमल लिए अभिषेक कर रहे हैं।

साँची की शिल्पकला की विशेषता :

भरहुत से एक कदम आगे बढ़कर साँची के शिल्प-चित्र में उभरी कला यौवन में मदमाती, लड़खड़ाती चलती हुई रूपगर्विता नायिका की तरह अपनी सभी कलाओं से पूर्ण हो चुकी थी। जहाँ भरहुत के शिल्प-चित्र अधिक सपाट हैं, वहाँ साँची में वे विकासशील तथा सजीव नजर आते हैं।

साँची के शिल्प-चित्रों में मानवीय जीवन के तीन स्तर दिखाई पड़ते हैं। एक स्तर उन महान वीतराग तपस्वी, संन्यासी एवं भिक्षु लोगों का है, जो इस संसार में रहते हुए इतर जगत में विचरते थे। उनके सामने ऐहिक सुख-संतोष और प्रयत्नों का कोई अर्थ नहीं था। वे एक महान प्रयत्न के लिए जीते थे— सांसारिक अस्तित्व से मानवता को छुटकारा कैसे दिलाया जा सके। इस प्रकार के घनघोर तपस्या में रत तपस्वियों के दुर्लभ चित्र यहाँ देखने को मिलते हैं। इनमें एक वर्ग अग्नि-पूजकों का था, जो शाश्वत अग्नि को हमेशा प्रज्वलित रखना चाहते थे। साँची के पश्चिमी द्वार के तोरण के बाएँ स्तंभ के भीतरी भाग में अग्नि-पूजन का एक विचित्र शिल्प अंकित है। चित्र में दो पर्णकुटियाँ बनी हैं। एक के सामने एक तपस्वी ध्यानलीन बैठा है। दूसरी कुटी में एक तपस्विनी है। दोनों कुटियों के बीच एक अग्नि-पात्र और हवन के लिए लकड़ी का चम्मच रखा है।

जीवन का दूसरा स्तर राजाओं और श्रीमन्तों का था। एकांत के क्षणों में कामी राज-परिवार का चित्रण साँची के चित्रों में कई बार हुआ है। एक जगह चित्रण किया गया है कि राजा रानी के साथ बैठा है। राजा के हाथ में मदिरा का पात्र है और रानी हाथ में एक गोल आईना लिए बैठी है। दाहिनी ओर राजा और रानी प्रेमालिंगन में बेखबर हैं। दोनों दृश्यों के बीच एक वृक्ष बना है।

तीसरा स्तर सामान्य जनता का है। जन-जीवन की झांकी साँची के कुछ दुर्लभ शिल्प-चित्रों में मिलती है। पूर्वी द्वार-तोरण के बाएँ स्तंभ के भीतरी भाग में दो छोटे-छोटे मकान बने हैं, जिनकी बगल में एक ऊँची अट्टालिका

है। घर में सेवक कार्य में व्यस्त है। एक स्त्री ऊखल में अनाज डालकर दोनों हाथों से कूट रही है। दूसरी स्त्री कूटे हुए अनाज को सूप में पछारकर दाने को भूसी से अलग कर रही है। तीसरी स्त्री सिल पर मसाला पीस रही है। एक युवा सेवक बगल में बैठा हुआ मसाला पीसनेवाली स्त्री का ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा कर रहा है।

साँची के दाहिने द्वार-तोरण के दाहिने स्तंभ पर अंकित दृश्य अचानक ऋग्वैदिक अतीत की ओर खींच ले जाता है, जिसमें वर्णन है कि उषा लज्जा का परित्याग कर अपना वक्ष खोलकर वेश्या की भाँति नृत्य कर रही है।

साँची के पूर्वीय द्वार-तोरण पर अंकित एक दृश्य में गुरु के अग्निहोत्र-की व्यवस्था करते हुए शिष्य दिखाए गए हैं।

(२५) **भुवनेश्वर**—देवताओं की क्रीड़ा-भूमि उत्कल में, भुवनेश्वर, जगन्नाथ-पुरी ओर कोणार्क के देवायतनों का महत्त्व प्रतिमा को लेकर है। आठवीं से बारहवीं सदी के बीच यहाँ विकसित होती हुई कला ने बड़े मनोहारी दृश्य उपस्थित किए थे। उस युग के शिल्पों में चित्रित काम-क्रीड़ा के दृश्य लंबे अर्से से आधुनिक कला-मर्मज्ञों की चिंता के विषय रहे हैं। तमाम व्याख्याएँ दी गई हैं और उन्हें तर्क की कसौटी पर कसा गया है। डॉक्टर नीहाररंजन राय ने इस विषय पर बड़ा ही संगत गंतव्य प्रकट किया है। इनके अनुसार जहाँ पढ़े-लिखे लोग देवायतनों के चित्रणों से लज्जा अनुभव करने लगते हैं, वहीं एक सामान्य उड़िया ग्रामीण पर ऐसी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती।[1]

जन-जीवन की झाँकियाँ सर्वाधिक मात्रा में हमें परशुरामेश्वर, स्वर्ण-जटेश्वर, लिंगराज और राजा-रानी-मंदिरों के अतिरिक्त यत्र-तत्र तथा भुवनेश्वर-संग्रहालय में देखने को मिलती हैं।

राजपूत-काल में भी जीवन का आधार और सामाजिक व्यवस्था का मेरु-दंड परिवार ही था। परशुरामेश्वर-मंदिर में एक राज-दम्पती का बहुत ही भव्य चित्रण किया गया है। एक स्थान पर एक ही स्त्री छोटे बच्चे के

---

1. **शिल्पों में झाँकता जीवन—भुवनेश्वर** (डॉ० रामचन्द्र वाजपेयी)
—**सा० हिन्दुस्तान १६ मार्च १९६६**

साथ मनोविनोद कर रही है। लिंगराज-मंदिर के एक शिला-चित्र में केश-प्रसाधन का दृश्य अंकित है। सेविका गृह-स्वामिनी के केशों को सँवारने में व्यस्त है। स्वामिनी के बाल सँवारती हुई सेविका का अलंकरण और केश-विन्यास स्पष्ट कर देता है कि वह अपने काम में दक्ष और सुसंस्कृत दासी है। लिंगराज-मंदिर में अलसाई हुई सुंदरी का अंकन कलाकार की पैनी दृष्टि का परिचायक है। स्मितवदना, संगीत की लय पर झूमती तथा नृत्य करती सुंदरियाँ लिंगराज-मंदिर के दर्शक को बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं। राजा-रानी-मंदिर में वृक्ष की डाल पकड़े हुए, शरीर से विपरीत दिशा में विचित्र भंगियों में खड़ी सुंदरी की मांग पर चोंच मारता हुआ मयूर और ऊपर ऊँचाई पर पेड़ की डाल पर बैठा एक बंदर नागरिक सौष्ठव और वन्य शालीनता का अद्भुत सम्मिलन-स्थल है। सुंदरी के अलंकार, केश-विन्यास, भव्य जूड़ा आदि आधुनिकाओं को भी मात कर सकते हैं।

भुवनेश्वर के शिल्प-चित्रों में तीन मनोरम-दृश्य अंकित हैं। इनमें एक परशुरामेश्वर-मंदिर में है। इस शिल्प में एक व्यक्ति, कोई चीज टोकरी में भर रहा है। दूसरा व्यक्ति हाथ से कोई वजनी चीज उठाए हुए है। तीसरा व्यक्ति उसे एक हाथ से पकड़े है। इस शिल्प का संदर्भ दैनिक जीवन की छवि अंकित करने के अतिरिक्त भी कुछ है। एक शिल्प-चित्र लिंगराज-मंदिर में कृष्णलीला का परंपरागत चित्र प्रस्तुत करता है।

उपसंहार—कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हिंदू, बौद्ध और जैन-मंदिरों तथा स्तूपों का यहाँ संक्षिप्त वर्णन किया गया है, किन्तु ऐसे तो प्रायः समस्त प्रमुख जैन-मंदिर, मूर्तिकला, चित्रकला एवं स्थापत्य-कला की दृष्टि से उल्लेखनीय होने के कारण भारत के गौरव के प्रतीक हैं। अतः इसमें संदेह नहीं कि प्रतीक-पूजा के प्रचार से भारत में चित्र, मूर्ति तथा स्थापत्य-कला के विकास में सहायता मिली है। इसी कारण हिंदू, जैन और बौद्ध-मंदिरों की कला की तुलना में गिरजाघर (चर्च) और मस्जिदों की कला फीकी पड़ गई है।



कुछ सहायक संदर्भ-ग्रंथ

१. ऋग्वेद-संहिता : पं० रामगोविंद त्रिवेदी

२. ऋग्वेद का सुबोध भाष्य : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

३. ऋग्वेद का भाषा-भाष्य : पं० युधिष्ठिर मीमांसक

४. ऋग्वेद का भाषा-भाष्य : पं० जयदेव शर्मा

५. ऋग्वेद-सायण-भाष्यावलम्बी अनुवाद : आचार्य श्रीराम शर्मा

६. यजुर्वेद-भाष्य : ऋ० कु० रामस्वरूप शर्मा

७. ,, ,, : स्वामी दयानंद सरस्वती

८. ,, ,, : पं० जयदेव शर्मा

९. ,, ,, : आचार्य श्रीराम शर्मा

१०. सामवेद-संहिता : स्वामी श्रीभगवदाचार्य

११. ,, ,, : पं० जयदेव शर्मा

१२. ,, ,, : आचार्य श्रीराम शर्मा

१३. (क) अथर्ववेद-संहिता : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

(ख) ,, ,, : पं० जयदेव शर्मा

(ग) ,, ,, : आचार्य श्रीराम शर्मा

१४. वेदवाणी का विशेषांक : पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

१५. वैदिक संपत्ति : पं० रघुनंदन शर्मा

१६. ऐतरेय ब्राह्मण : पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

१७. Rigveda Samhita : H. Wilson

१८. Selections from Rigveda : V. G. Parniki

१९. Religion and Philosophy of Rigveda : Dr. N. J. Sharda.

२०. Pre-Historic Indus : Swami Shankaranand

२१. Indus People Speak : ,, ,,

२२. Chips from a German workshop : Max Muller
२३. Vedic Mythology : Macdonel
२४. Elements of Hindu Iconography : ,, ,,
२५. Unpublished Upanishads : Adyar Library, Madras
२६. 100 Upanishads : ,, ,, ,,
२७. दशोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर
२८. श्वताश्वतर उपनिषद् : ,, ,,
२९. ईशावास्याद्युपनिषद् : स्वामी विद्यानंद
३०. छान्दोग्योपनिषद् : ,, ,,
३१. बृहदारण्यक उपनिषद् : ,, ,,
३२. दशोपनिषद् : महात्मा नारायण स्वामी
३३. १०८ उपनिषद् : आचार्य श्रीराम शर्मा
३४. शैवमत : डॉ० यदुवंशी
३५. भारतीय प्रतीक-विद्या : डॉ० जनार्दन मिश्र
३६. गणेश : श्री संपूर्णानंद
३७. पाणिनिकालीन भारत : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
३८. भक्ति का विकास : डॉ० मुंशीराम शर्मा
३९. हिंदुत्व : श्री रामदास गौड़
४०. मानव-धर्मशास्त्र : श्री इंदिरारमण शास्त्री
४१. पुराण-तत्त्व-मीमांसा : श्री कृष्णमणि त्रिपाठी
४२. पूजा-तत्त्व : म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज
४३ वाम मार्ग : श्री वंशीधर शुक्ल
४४. वैष्णव-धर्म : प्रो० बलदेव उपाध्याय
४५. निर्गुण-साहित्य और संस्कृति की पृष्ठभूमि : डॉ० मोती सिंह
४६. बौद्धधर्म और बिहार : श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'
४७. उत्तर-भारत की संत-परंपरा : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
४८. राधास्वामी-योग (भाग १)

४९. साधना के अनुभव : डॉ० चतुर्भुज सहाय
५०. विष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्रकला : श्री बदरीनाथ मार्तण्ड
५१. अजंता के चित्रकूट : रामकृष्ण दास
५२. मोहनजोदड़ो से काँगड़ा तक : श्री श्यामाप्रसाद चक्रवर्ती
५३. देववाद का वैज्ञानिक स्वरूप : डॉ० चमनलाल गौतम
५४. वाल्मीकि-रामायण : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
५५. ,, ,, : 'वेदवाणी' का विशेषांक
५६. महाभारत : गीता प्रेस, गोरखपुर
५७. महाभारत-मीमांसा : श्री वैद्य

नोट—नवनीत, कादंबिनी, धर्मयुग, हिंदू-विश्व, साप्ताहिक हिन्दुस्तान आदि पत्रिकाओं के कतिपय विद्वत्तापूर्ण लेखों से भी हमें सहायता मिली है। हम इन सबके लेखकों के प्रति आभारी हैं।

अनुक्रमणिका

भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से

प्रकाशित

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के
अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. मनोविज्ञान
सी० टी० मार्गन ३४·५०

२. बालकल्याण की रूपरेखा
डॉ० धर्मपाल चौधरी १६·५०

३. आपराधिकी
श्री बदरीनारायण सिंहा १५·००

४. शिक्षा मनोविज्ञान
डॉ० कृष्ण कुमार जमुआर
छा० सं० ८·२५
पुस्त० सं० १०·७५

५. राजनीतिक विचारधारा
प्रो० शिवशम्भू तिवारी १६·५०

६. राष्ट्र राज्यों की परराष्ट्र नीति खण्ड—१
डॉ० अरविन्द नारायण सिन्हा २८·००

७. भूगोल-शिक्षण के सिद्धांत तथा अभ्यास
एच० सी० बनार्ड ६·६०

८. समाजवाद, सर्वोदय और लोकतंत्र
श्री जयप्रकाश नारायण १२·००

९. मानव-व्यवहार तथा सामाजिक व्यवस्थाएं
डॉ० नर्मदेश्वर प्रसाद १०·००

१०. समाज कल्याण प्रशासन
डॉ० धर्मपाल चौधरी १०·००

११. भारतीय समाज का स्वरूप
डॉ० सीताराम झा 'श्याम' ८·००

भारत-सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के

इतिहास संबंधी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. अमेरिका का इतिहास
डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना २०·००

२. विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास
डॉ० सुशील माधव पाठक २४·००

३. अन्तरराष्ट्रीय संगठन का इतिहास
डॉ० दीनानाथ वर्मा २३·००

४. प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर
डॉ० वासुदेव उपाध्याय २३·००

५. बुद्धकालीन समाज और धर्म
डॉ० मदनमोहन सिंह १२·००

६. राजवंश : मौखरी और पुष्यभूति
प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी १४·००

७. बिहार में स्वातंत्र्य आंदोलन का इतिहास, खंड १
डॉ० कालिकिंकर दत्त २८·००

८. रूसी इतिहास का सर्वेक्षण
बी० एच० सम्नर २५·००

९. इंग्लैंड का सांवैधानिक इतिहास
मेटलेड २५·००

१०. बिहार में राष्ट्रीयता का विकास
श्री नागेन्द्र मोहन प्रसाद श्रीवास्तव ८·५०

११. बाबर डॉ० राधेश्याम १४·००

१२. गुप्त अभिलेख डॉ० वासुदेव उपाध्याय ५१·००

विस्तृत सूची की माँग करें।

निदेशक
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, कदमकुआँ
पटना-३